१९६२

युगचारण दिनकर

लेखिका

डा० सावित्री सिन्हा,
एम. ए,. पी-एच. डी., डी. लिट्
रीडर, हिन्दी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

प्रकाशक :
नेशनल पब्लिशिंग हाउस,
२६ ए चन्द्रलोक, जवाहर नगर, दिल्ली
बिक्री केन्द्र : नई सड़क, दिल्ली

प्रथम संस्करण
अक्तूबर, १९६३

मूल्य
दस रुपये

मुद्रक :
शाहदरा प्रिंटिंग प्रेस,
नया शाहदरा, दिल्ली

श्रद्धेय दद्दा

(राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त)

को सप्रणाम

जिनकी अनेक कृतियों ने भी दिनकर को

युग-धर्म की प्रेरणा दी

अपनी ओर से

प्रस्तुत कार्य का आरम्भ लगभग चार साल पहले किया गया था, जो धीरे-धीरे कहीं अब समाप्त हो सका है। इसकी मूल प्रेरणा मूलतः दिनकर-साहित्य में मेरी रुचि और उसके अध्ययन की इच्छा से मिली थी। किसी अभाव की पूर्ति करने के लिए न मैंने इसे आरम्भ किया था और न अब इसका दावा करती हूं। अपने विचारों को सबके समक्ष रखते हुए मेरे मन में किंचित भय और संकोच है लेकिन इस बात से मैं पूर्ण आश्वस्त और विश्वस्त हूं कि मैंने अपनी बात पूरी ईमानदारी और सचाई से कही है।

पुस्तक का प्रथम अध्याय (जीवनी और व्यक्तित्व) दिनकर जी, तथा उनके मित्रों और सम्बन्धियों द्वारा दिये गये वक्तव्यों के आधार पर लिखा गया है जिनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं श्रद्धेय बाबू गंगाशरण सिंह, श्री कामेश्वर शर्मा 'कमल' तथा श्री शिवसागर मिश्र। पुस्तक में दिये गये चित्र मुझे श्री रामानुजप्रसाद सिंह के सौजन्य से प्राप्त हुए हैं। इन सभी महानुभावों के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता व्यक्त करती हूं। इस अध्याय में मेरा योगदान केवल प्रस्तुतीकरण का है। एकाध स्थलों पर जहां मेरी धारणायें व्यक्त हैं, वे वही हैं जो मैंने एक कवि सम्मेलनी दर्शक, और दद्दा की बैठक के तटस्थ श्रोता के रूप [illegible] के प्रति बनाई हैं। अन्य अध्यायों के विषय में कुछ विशेष कहने को न[illegible] पुस्तक के प्रकाशन में श्री कन्हैयालाल मलिक तथा श्री माधव जी से मुझे [illegible]हयोग और सहायता मिली है उसके लिए मैं बहुत आभारी हूं।

श्रीमती सावित्री कौशिक [illegible]ीयुत [illegible] मेरे धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने क्रमशः मेरी लिखी हुई [illegible] अपने समय का सदुपयोग किया, तथा जो मुझसे जल्दी का[illegible]ाने का निष्फल प्रयास करते रहे। श्रद्धेय दिनकर जी की मंग[illegible]ाओं और शुभाशीषों के लिए मैं हमेशा ऋणी रहूंगी।

अन्त में, मैं दिल्ली विश्वविद्याल[illegible]ी विभाग के अध्यक्ष डा० नगेन्द्र के प्रति मौन कृतज्ञता व्यक्त करती हूं, [illegible]त्यक्ष अथवा परोक्ष प्रेरणा मेरे हर साहित्यिक प्रयास में विद्यमान [illegible]ता।

२१. १०. ६३

—सावित्री सिन्हा

क्रम

प्रथम अध्याय

जीवनी और व्यक्तित्व

जन्म और परिवार

दिनकर का जन्म, बिहार प्रदेश में, सिमरिया नामक ग्राम के एक कुलीन कृषक परिवार में हुआ। प्रामाणिक जन्म-पत्र अप्राप्त होने के कारण उनकी जन्मतिथि पूर्ण रूप से निश्चित नहीं है। उनकी माता जी के कथनानुसार उनका जन्म फसली सन् के १३१६ साल मे आश्विन, शुक्ल पक्ष में बुधवार की रात को लगभग बारह बजे हुआ था तथा उनकी छठी विजयादशमी को मनाई गई थी। ज्योतिष-गणना के अनुसार यह तिथि ३० सितम्बर, सन् १६०८ को पड़ती है। जन्मतिथि के समान ही उनकी जन्मराशि भी अनिश्चित है। बचपन से वे सुनते आये थे कि उनकी राशि तुला है। लेकिन अब ज्योतिषी बताते हैं कि वह वृश्चिक राशि के हैं। उनके पिता जी का नाम था श्री रवि सिंह तथा माता जी का नाम मनरूपदेवी है। पिता के इस नाम के कारण ही उन्होंने अपना उपनाम 'दिनकर' रखा। दिनकर के बड़े भाई हैं श्री बसन्त सिंह तथा छोटे भाई का नाम सत्यनारायण सिंह है। उनका अपना वास्तविक नाम है रामधारी सिंह। 'नवीन' जी हमेशा उन्हें 'रामधारी' कह कर ही पुकारते थे। अपने पिता जी की अकाल मृत्यु के समय दिनकर केवल दो वर्ष के थे। पिता की मृत्यु के पश्चात् तीन पुत्रों के भरण-पोषण का भार विधवा मां पर ही पड़ गया, जिन्होंने अपनी सारी पूंजी पुत्रों की, विशेष रूप से दिनकर की, शिक्षा पर लगा दी। इसके अतिरिक्त २० एकड़ भूमि को बटाई पर चढ़ा कर उनका काम बड़ी अच्छी तरह चल जाता था।

मां तथा पत्नी

दिनकर के युग की भारतीय नारी की पीढ़ी अपने त्याग और संघर्ष का प्रतिफलन तो जानती है लेकिन अपनी महत्ता और गौरव की मान्यता जैसे उसके लिए

अर्थहीन है। दिनकर की मां और पत्नी दोनों ही के साथ यह बात शत-प्रतिशत लागू होती है। उनके शब्दों में "मां तो मूर्तिमती करुणा हैं। उन्होंने हम लोगों के लिए अपने को होम दिया। मुझे ऐसी कोई घटना नहीं याद है जिससे मुझे लगे कि मुझे कोई बड़ा अभाव झेलना पड़ा था।" दिनकर के व्यक्तित्व के निर्माण में उनकी पत्नी के त्याग और बलिदान का भी, परोक्ष, पर महत्वपूर्ण योग रहा है। परिवार में सबसे अधिक व्यय दिनकर की शिक्षा पर ही होता था इसलिये सारे पारिवारिक दायित्व उन्होंने अपने ही सिर ओढ़ लिये। घर का सारा कामकाज अपने ही आप सम्हाल लिया जिससे घर की दूसरी स्त्रियों को पति पर होने वाले अतिरिक्त व्यय का बोझ न खले। किशोरावस्था से अब तक, उन्होंने दिनकर को, पत्नी की निष्ठा और सेवा तो दी ही है, मां का सा ममतामय संरक्षण और पोषण भी दिया है। उनका विवाह किशोरावस्था में ही हो गया था। पति, किशोर से युवक और युवक से प्रौढ़ हुआ। देश में उसकी कीर्ति राष्ट्र के अमर गायक के रूप में फैल गई। किशोरावस्था में पत्नी श्यामा रात्रि के अन्तिम प्रहर में उठ कर भोजन तैयार करती, पति को स्कूल भेज कर कार्य सम्हालती, संयुक्त परिवार के दायित्वों को अपने कन्धों पर झेलती। युवावस्था में पति की सहधर्मिणी बन उनकी साधना में योग देने के लिए उन्होंने अपने सारे जेवर उतार दिये। पति का प्रज्ज्वलित आलोक जब 'हुंकार' और 'सामधेनी' के गीतों द्वारा जनता के हृदय में क्रान्ति की अग्नि बरसाता रहा, श्यामा अपने झिलमिलाते आभूषण और चन्द्रहार दिनकर पर न्यौछावर करती रहीं। अपने को मिटा कर दिनकर को बनाती रही। युवावस्था में भोग के स्थान पर विराग ही उसके जीवन का सत्य बन गया। आज भी पति, पुत्र, परिवार सबके प्रति अपने दायित्वों का निर्वाह करती हुई भी वे सबसे अलग अपनी साधना में लीन विरक्त हैं। छोड़ना ही उनका धर्म बन गया है। त्याग में ही राग की यह अनुभूति यहां केवल दर्शन की कल्पना अथवा चिन्तन न रह कर जीवन का अंग बन गई है। जब उनका सिद्धार्थ सरस्वती की साधना में दिनरात एक कर रहा था 'यशोधरा' रागिनी होकर भी विरागिनी हो रही थी। जब उनका पति साधु-संन्यासियों के चक्कर में 'द्वन्द्व गीत' की उलझनों मे फंस रहा था, उसके दायित्वों का निर्वाह करने के लिए वह स्वयं आग से खेल रही थी। अपने 'गौरांग' को उन्होंने संकीर्ण सीमाओं में बांध कर नहीं रखा प्रत्युत 'विष्णु-प्रिया' बन कर परिवार की सेवा-सुश्रूषा और श्रम को ही जीवन का साध्य बना लिया। और फिर जब प्रतिष्ठा और कीर्ति ने उर्वशीकार के चरण चूमे, यह 'औशीनरी' तपस्या, त्याग और साधना की ही

मूर्ति बनी रही।

इस प्रसंग में दिनकर की मानवती कविता की कुछ पंक्तियां उद्धृत करना उचित होगा—

तुम सखि इन्द्रपरी के तन में सावित्री का मन लाई।
ताप-तप्त मरु में मेरे हित शीत-स्निग्ध जीवन लाईं॥[1]

इसी कविता मे उनके दाम्पत्य और गार्हस्थिक जीवन के बड़े मधुर सरल- और मर्मस्पर्शी पर यथार्थ चित्र मिलते हैं। साहित्यकार पति के प्रति सरल हृदया पत्नी की यह उक्ति किसी विश्लेषण और व्याख्या की अपेक्षा नहीं रखती—

तुम्हें, न जाने, क्या मिलता लिपटे रहने में पन्नों से ?
* * *
सुस्थिर हो दो बात करें, यह भी बाक़ी अरमान मुझे
ऐसी क्या कुछ दे रक्खी चांदी सोने की खान मुझे ?

दिनकर के पास इसके उत्तर मे केवल स्वप्न हैं, कल्पना है, कविता है और है प्रणय-गुंजार जो जीवन की भौतिक समस्याओ का समाधान नहीं बन सकती। लेकिन उन्हें तो केवल इतना कहना है—

कविजाया ने स्वर्ग न देखा, बसता जो प्रियतम के उर में,
अन्तर्दीप्त रूप निज प्रिय का, ग्राम वधू कैसे पहिचाने।[2]
* * *
जीवन की रसवृष्टि (पंक्ति कविवर की) क्यों चांदी न हुई ?
कविजाया कहती, लक्ष्मी क्यों कविता की बांदी न हुई ?
खोज रही आनन्द कल्पना, दूब, लता गिरिमाला में,
कल्पना के शिशु झुलस रहे हैं इधर पेट की ज्वाला में,
* * *
जिसके मूर्त्त स्वप्न भूखे हों, वह गायक कैसे जाए ?
मानवती चुप रही, दृगों में करुणा के बादल छाए॥[3]

वास्तव में द्विवेदीयुगीन नारी-भावना की जड़ें इसी पीढ़ी की नारी के त्याग, मर्यादा और प्रेम से अनुप्रेरित मातृत्व और पत्नीत्व में ही दिखाई देती है। यशोधरा, सीता, उर्मिला, राधा ये सभी केवल पौराणिक या ऐतिहासिक पात्र न रह कर उस युग की प्रतिनिधि नारी की प्रतीक बन जाती है तो नेपथ्य से मैथिलीशरण, माखनलाल और दिनकर का निर्माण कर, अनजाने ही समाज और युग को अपना योग-दान कर रही थीं।

---

१. रसवंती, पृष्ठ ४३
२. वही, पृष्ठ ४४
३. वही, पृष्ठ ४५

सन्तान

१६ वर्ष की उम्र में उनके प्रथम पुत्र श्री रामसेवक सिंह का जन्म हुआ। १६३४ मे उनकी बड़ी पुत्री विनता का तथा १६३६ में छोटे पुत्र श्री केदारनाथ सिंह का जन्म हुआ। उनकी सबसे छोटी पुत्री विभा है जो आजकल बी०ए० में पढ़ रही हैं। "दिनकर पारिवारिक जीव हैं तथा परिवार के प्रति अपने दायित्वों के प्रति वे पूर्ण सजग है। वे एक कुशल गृहपति तथा बड़े ही स्नेही पिता, पुत्र और पति हैं। परिवार से घुले-मिले होने के कारण उनके जीवन में रास्ते से बेरास्ते जाने की गुंजाइश नही होती।"[१]

निवास-स्थान

दिनकर के पूर्वज सदियों पहले सिमरिया में आकर बसे थे। यह ग्राम पटना से लगभग ६० मील पूर्व की ओर गंगा के उत्तरी तट पर स्थित है। गंगा पर नवनिर्मित 'राजेन्द्र सेतु' का उत्तरी छोर इस गांव में पड़ता है। यह दो नदियों से घिरा हुआ है—दक्षिण में गंगा नदी की निर्मल धारा का प्रवाह है और पश्चिम की ओर से आकर बाया नदी की धारा सिमरिया मे ही गंगा में मिलती है। सिमरिया की गंगा के विषय में एक जनश्रुति है। यहां लगभग २८ मील पर बाजितपुर है जहा विद्यापति ने शरीर-त्याग किया था। कहते हैं कि अपना अन्तिम समय निकट जान कर वे परिवार के सदस्यों से विदा लेकर गंगा-सेवन के लिए चले। जब गंगा थोड़ी दूर रह गई तो उन्होंने पालकी रखवा दी और एक अभिमानी भक्त की भांति कहा कि मैं मां गंगा के लिए इतनी दूर चल कर आया हूं क्या वह दो कोस भी मेरे पास चल कर नहीं आयेंगी और परम्परा चलती है कि दूसरे ही दिन गंगा से एक धारा फूटी और बाजितपुर होती हुई सिमरिया आकर गंगा की धारा में मिल गई। सिमरिया की प्रकृति ने दिनकर के हृदय पर स्थायी प्रभाव डाला। पहले वहां हर साल बाढ़ आया करती थी और प्रायः प्रतिवर्ष जलप्लावन का भयावना दृश्य उपस्थित होता था। उस समय गंगा का रूप अत्यन्त भयानक होता था। दिनकर को लगभग नित्य ही गंगा पार करके मोकामाघाट के स्कूल जाना पड़ता था। प्रतिदिन ७ बजे प्रातः खा-पीकर वह स्कूल के लिए चल देते, ५–६ मील पैदल चल कर घाट पर पहुंचते, वहां से जहाज़ से गंगा-पार स्थित स्कूल जाते। मध्यावकाश में ही स्कूल से चल देते क्योंकि देर होने पर जहाज़ नही मिल सकता था (खैर यह थी कि आजकल की भांति परीक्षा में बैठने के लिए उपस्थिति के एक

१. श्री गंगा सरन सिंह—लेखिका द्वारा किये गये इन्टरव्यू में दिये हुये वक्तव्य से।

निश्चित प्रतिशत का प्रतिबन्ध नहीं था)। ६ या ७ बजे शाम को घर पहुंचते थे। खाना वही जो प्रातः खाकर स्कूल जाते। इसी दौरान में उन्होंने गंगा को समुद्र के समान भयावह देखा। पेड़, छप्पर, आदमी और जानवरों, यहां तक कि कभी-कभी हाथी को भी निस्सहाय बहते देखा। इन सब दृश्यों ने दिनकर पर जीवनव्यापी प्रभाव डाला।

गर्मी के दिनों में गंगा का दूसरा ही रूप उन्हें झेलना पड़ता। प्रातःकाल सात बजे स्कूल पहुंचने के लिए वह ३ बजे प्रातः घर से चल देते। लौटते मध्याह्न में। रास्ते में गंगा की जलती हुई बालू मीलों तक फैली रहती थी। जूते अधिक प्रचलित नहीं थे, फलतः उन दिनों उनके पैर फफोलों से भरे रहते। इस प्रकार प्रारम्भकाल मे ही विद्यार्जन दिनकर के लिए साधना के रूप में आया। यह साधना यद्यपि परिस्थितिजन्य थी परन्तु उसने उनको एक कर्मठ जीवन-दर्शन प्रदान किया जिसके फलस्वरूप आज वह इतने निर्भीक साहित्यकार बन सके हैं।

प्रकृति-जन्य विषमताओं को झेलने के साथ ही वे प्रकृति में ही खेले और बढ़े। पन्त जी की तरह कौसानी की शान्त-एकान्त रूप संवारती हुई प्रकृति ने उनकी कल्पना और संवेदना को नहीं संवारा और न उन्हें अव्यक्त रहस्यात्मक सत्ता और तत्वों की ओर इंगित किया। सिमरिया की प्रकृति हल-चलपूर्ण, और जीवन से भरी हुई थी, उसका सम्बन्ध केवल चिन्तन और कल्पना से नहीं, वहां के वासियों के अस्तित्व मात्र से था। मानव और प्रकृति एक दूसरे पर निर्भर थे। दिनकर को बचपन से ही उसकी गतिविधियों मे बड़ा रस आता। उनके घर के ठीक उत्तर-पश्चिम की ओर बांसों का बहुत बड़ा झुरमुट था, उसके बाद अमराई। बाढ़ के दिनों में इन स्थलों का दृश्य बड़ा सुहावना लगता था। लोग घड़नाई पर चढ़ कर इन कुंजों से बाहर निकलते थे। अक्सर बाढ़ का पानी सन्ध्या समय गांव से एक मील पर रहता और रात में उसे घेर लेता था। दिनकर को उत्सुकता रहती थी कि कब भोर हो और कब वह बाढ़ देखें। सिमरिया में मक्का की खेती प्रचुरता से होती थी। बाढ़ के दिनों में सारे खेत जलमग्न हो जाते थे और मकई के पौधे गले-गले तक पानी से भर जाते थे। लोग लकड़ी के बेड़े बना कर मकई काट-काट कर लाते और जानवरों को चारा देते। दिनकर जी को भी बचपन में यह सब काम करने में बड़ा आनन्द आता था। ये काम करने की उन्हें विवशता नहीं थी लेकिन केवल मज़ा लेने के लिए वे भैंसें चरा लेते थे और उनके लिए घास भी ले आते थे।

सिमरिया गरीब किसानों का गांव था। वहां अक्सर अकाल पड़ता था। वास्तव में दिनकर की कविता में अत्याचार, अनाचार, शोषण और सामाजिक वैषम्य के प्रति जो विद्रोह का भाव व्यक्त हुआ है उसकी प्रेरणा के बीज सिमरिया की शोषित, पीडित, निर्धन जनता के प्रति उनकी प्रतिक्रियाओं में विद्यमान है। वहां के लोगों को भूख मे बेहाल देखकर उनके नेत्र आंसुओं से और हृदय आक्रोश से भर जाता था। उन दिनों की अनेक घटनाएं उनकी स्मृति मे अंकित है। एक बार अकाल के समय अपने गांव की पाठशाला के गुरु जी को पेड़ के नीचे से महुए के फल चुन-चुन कर खाते देखा। उस दिन वे खूब रोए। आज भी उसकी स्मृति से उनका मन व्यथित हो उठता है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद सन् १६१६ में सिमरिया पर घोर अकाल और महामारी का प्रकोप साथ-साथ हुआ। लाल बुखार से लगभग डेढ़सौ व्यक्तियों की मृत्यु हुई। राजनीतिक और सामाजिक शोषण का भी उस गांव में बोलबाला था। गांव में कई बाहरी लोगों की जमीदारी थी। उनके कर्मचारी सिमरिया के किसानों के साथ बड़ी निर्दयता और नृशंसता का व्यवहार करते थे, दूसरी ओर गांव के सवर्ण किसानों का अत्याचार शूद्रों और हरिजनो पर चलता रहता था। दिनकर का अनुभूतिप्रवण व्यक्तित्व अखबारो के सम्पर्क मे आने के पहले ही शूद्रों और हरिजनों का पक्षपाती हो गया था। सन् १६२५-२६ ई० के लगभग उन्होंने पटना से प्रकाशित एक साप्ताहिक पत्रिका मे देश मे जमीदारों के अत्याचार के विषय में एक पत्र छपवाया था।

रेणुका में संकलित 'मिथिला में शरत' कविता मे कवि ने अपनी जन्मभूमि का वर्णन इन शब्दों में किया है—

हे जन्मभूमि ! शत बार धन्य,
तुम सा न 'सिमरियाघाट' अन्य।
तेरे खेतों की छबि महान,
अनियन्त्रित आ उर में अजान,
भावुकता बन लहराती है
फिर उमड़ गीत बन जाती है।

* * *

'बाया' की यह कृश विमल धार,
गंगा की यह दुर्गम कछार,
कूलों पर कांस-परी फूली
दो दो नदियां तुझ पर भूलीं।

कल-कल कर प्यार जताती हैं
छू पार्श्व सरकती जाती हैं ।'[१]

इन्ही परिस्थितियों के फलस्वरूप यह 'धरतीपुत्र' समय का पुत्र बन गया जिसने अपने जीवन का सबसे बडा कार्य यह समझा कि वह अपने युग के क्रोध और आक्रोश को अधीरता और बेचैनियो को सबलता के साथ छन्दों में बांध कर सबके सामने उपस्थित कर दे ।

शिक्षा

दिनकर ने प्राथमिक शिक्षा गांव में ही प्राप्त की । असहयोग आन्दोलन छिड़ जाने के बाद वह अपने गांव से ३ मील दूर बारो नामक गांव मे राष्ट्रीय पाठ-शाला मे जाने लगे । वहां दो साल तक हिन्दी के साथ-साथ उर्दू का अध्ययन भी किया । यह राष्ट्रीय पाठशाला राष्ट्रीयता का अड्डा थी । उसी गांव में स्थित सरकारी स्कूल को वहां के निवासी नीची नजरों से देखते थे । राष्ट्रीय पाठशाला के विद्यार्थी के रूप मे बालक दिनकर सार्वजनिक सभाओं मे वन्देमातरम् गाने के लिए जाते थे । उनका स्वर बड़ा मधुर और ओजपूर्ण था । इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय पाठशाला का पूरा व्यय घर-घर से मुट्ठी भर अनाज मांग कर चलाया जाता था ।(दिनकर भी कभी-कभी 'मुटिया' मांगने जाते थे । इसी पाठशाला के साम्प्रदायिकता से मुक्त स्वस्थ वातावरण ने उन्हें उदार दृष्टि प्रदान की) सन् १६२२ में असह-योग आन्दोलन बंद होने पर राष्ट्रीय पाठशाला भी टूट गई और दिनकर को राजकीय मिडिल स्कूल में जाना पड़ा । परन्तु राष्ट्रीय पाठशाला के दो वर्षों ने उनके व्यक्तित्व के निर्माण में महत्वपूर्ण योग दिया । सरकारी स्कूल से ही उन्होंने मिडिल की परीक्षा पास की । मोकामाघाट के एच० ई० स्कूल से सन् १६२८ में मैट्रिक पास करने के बाद वे पटना आए तथा इतिहास में आनर्स लेकर बी० ए० की परीक्षा में उतीर्ण हुए । लगभग सन् १६२८–२६ में श्री बेनीपुरी 'बालक' छोड़कर आ गए थे और उन्होंने 'युवक' निकालना शुरू किया था । इन्हीं दिनों दिनकर जी मैट्रिक के सर्वश्रेष्ठ हिन्दी विद्यार्थी घोषित किए गए और उन्हें इस उपलक्ष में भूदेव पदक प्राप्त हुआ (अखबारों में उनका नाम निकला जिससे 'युवक संघ' के प्रमुख कार्यकर्ता सर्वश्री गंगासरन, बेनीपुरी, जनार्दन मिश्र तथा विश्वमोहन सिंह इस प्रतिभावान् युवक की ओर आकर्षित हुए ।) 'युवक' के उन दिनों तीन हजार ग्राहक थे, और पत्र की उग्र नीति के कारण उस पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था । दिनकर जी आरम्भ से ही बड़ी

१. रेणुका, पृ० ५३, तृतीय संस्करण—दिनकर

उग्र कविताएं लिखते थे इसलिए 'युवक' के व्यवस्थापक दिनकर के नाम से भेजी हुई कविताओं को अमिताभ के नाम से छापते थे जिससे विद्यार्थी होने के कारण उनका अहित न होने पाए। उस समय भी वे अपनी कविता का पाठ बड़े ओज और लालित्यपूर्ण ढंग से करते थे। "जैसे सयाने और ओझा के चलते व्यक्ति अपने में नहीं रह जाता किसी दूसरी सत्ता से अभिभूत होकर उसका व्यक्तित्व ही दूसरा हो जाता है उसी प्रकार दिनकर भी कविता पढ़ते समय शरीर और मन से कहीं और पहुंच जाते है।"[1] अपने छात्र जीवन में वे बहुत ही सीधे-सादे ढंग से रहते थे। मोटी धोती, मोटी मारकीन का कुरता, कन्धे पर चादर और कभी-कभी देहाती कट का मामूली जूता, यही उनकी पोशाक थी। नौकरी कर लेने के बाद उन्होंने कोट पहनना प्रारम्भ किया था। पटना कालेज में प्रवेश लेने के समय पहली बार उन्होंने 'पम्प शू' खरीदा। बी० ए० पास करने तक उन्होंने कभी अपने केश-विन्यास की ओर ध्यान नहीं दिया। उनके बाल काफी छोटे और खुरदुरे रहते थे, जिनके लिए वे तेल और कंघी की जरूरत नहीं समझते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि अपने विद्यार्थी जीवन में वह चमक-दमक से दूर साधारण और सीधा जीवन व्यतीत करते थे। आठवीं और नवीं कक्षा तक वे गणित में बहुत तेज थे। दूसरे विषयों में भी वे क्लास के प्रथम छात्र होते थे। ग्यारहवी कक्षा में आकर उनका ध्यान बीजगणित और रेखागणित से हट गया। अब वे स्कूली पढ़ाई की अपेक्षा कविता और साहित्य पर अधिक ध्यान देने लगे थे। पर कक्षा में कमजोर विद्यार्थी वे कभी नही रहे। पढ़ने के साथ-साथ वे ओज-पूर्ण कार्य-क्रमों में भी बड़े उत्साह से भाग लेते थे।

यह दिनकर के जीवन का वह द्वन्द्वग्रस्त समय था जब एक ओर व्यावहारिक बुद्धि उन्हें व्यवस्थित-रूप से जीवन-यापन के मार्गों की ओर बढ़ने की प्रेरणा दे रही थी, और दूसरी ओर ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के दमनचक्र से देश में एक सार्वजनिक संकट और संघर्ष की स्थिति बन गई थी, जो उनकी वैयक्तिक अनुभूतियों को पीछे करके समष्टिगत कर्तव्य-भावना को उभार कर उनके संवेदनशील व्यक्तित्व को चुनौती दे रही थी। उनके व्यक्तिगत जीवन में भी कर्म और वचन का असामंजस्य रहा— उनकी अनुभूतियां और वाणी राष्ट्र और समाज के साथ रहीं और विवेक तथा व्यवहार-बुद्धि ने समय की आग से उन्हें बचाए रखा। सन् १९३० ई० में नमक सत्याग्रह में चार महीने काम करने के बाद उन्होंने बी० ए० में प्रवेश ले लिया और सत्याग्रह का काम छोड़ दिया।

---

१. बाबू गंगासरन सिंह

व्यवसाय

बी० ए० पास करने के बाद अर्थाभाव के कारण मां ने नौकरी करने की आज्ञा दी। अतएव, बहुत इच्छा होने पर भी उनकी आगे की पढ़ाई न चल सकी। और वह नौकरी की खोज करने लगे। इस क्षेत्र में भी उनको अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा (यद्यपि उन दिनों भूमिहारों का सरकारी क्षेत्रों में काफी प्रभाव था, तेजस्वी भूमिहार युवकों के सामने रुकावटें अपेक्षाकृत कम थीं लेकिन दिनकर के सामने कठिनाई यह थी कि वे कृषक परिवार के थे। जाति के धनी-मानी व्यक्तियों में से उन्हें कोई नहीं जानता था, दो-एक से वह मिले भी, लेकिन उनके व्यवहार और बर्ताव से उन्हें निराशा ही हुई। वह वर्ग केवल जमीदार-भूमिहारों की ही सहायता करता था और दिनकर के पास जमीदारी नाम को भी नहीं थी।) विवश होकर उन्हें एक हाई स्कूल में हेडमास्टरी का पद ही स्वीकार कर लेना पड़ा। उनका प्रारम्भिक वेतन केवल ५५) था। इस पद पर वह अधिक दिनों तक न टिक सके। स्कूल के चेयरमैन और मन्त्री बड़े-बड़े ज़मीदार थे, उनके बीच उनका प्रतिभावान् व्यक्तित्व जैसे घुट-सा रहा था। उनके हृदय में एक प्रकार की कुंठा सदैव बनी रहती थी। इस परिस्थिति से ऊब कर उन्होंने सब-रजिस्ट्रारी कर ली। इस पद पर उन्हें कभी ५०) मिलते थे और कभी ६५)। स्थायी नियुक्ति हो जाने पर ८५) मिलते।) अक्तूबर, १९३४ से सितम्बर, १९४३ तक वे सब-रजिस्ट्रार के पद पर कार्य करते रहे। इस बीच भी उन्हें वातावरण बहुत अनुकूल नहीं मिला। (१९३४ से १९३९ के बीच उनका तबादला बाईस बार किया गया। राष्ट्रीय और राजनीतिक कविताएं लिखने के कारण सरकार उन्हें विद्रोही समझती थी। दिनकर जी के कथनानुसार ये उनके सुख के दिन थे, अधिकतर उनकी नियुक्ति गांवों में होती थी। ट्रांजिट की छुट्टियां मिलती थीं, काम भी कम रहता था, अतएव इस अवधि में उन्होंने खूब कविताएं लिखी (सरकारी नौकरी करते हुए भी उन्होंने राष्ट्रीय जागरण और विद्रोह की कविताएं लिखीं, भौतिक परिस्थितियों के वशीभूत होकर सरकारी नौकरी करने की कुंठा का निराकरण उन्हें इस सन्तोष की भावना से होता था कि सरकार उन्हें बागी और विद्रोही समझती है।)

(द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होने पर उन्हें फिर मानसिक द्वन्द्व का सामना करना पड़ा।) जनता का दुलारा, मानवता और राष्ट्रीयता के गीत गाने वाला कवि कैसे सरकार की युद्ध-नीति का समर्थन करे, परन्तु महायुद्ध में रूस के प्रवेश करते ही मानों उन्हे युद्ध के समर्थन का बहाना मिल गया।) इसी 'तिनके' पर पैर टिका कर वे युद्ध के गीत गाते रहे, लेकिन यहां भी

बातचीत में वह युद्ध का समर्थन करते थे और कविताएं सरकार के खिलाफ लिखते थे। और दोनों ही क्षेत्रों में उनका उद्देश्य सफल हुआ। एक ओर सरकार विरोधी रचनाएं लिखने के कारण वे जनता के लाड़ले बने रहे और दूसरी ओर उनकी नौकरी भी बरकरार रही।

दिनकर के मन का यह द्वन्द्व सामधेनी की एक कविता में अपनी समस्त करुणा, उद्वेग और विवशता के साथ व्यक्त हुआ है। एक ओर आग्नेय अहंकार तथा भावुक मन और दूसरी ओर जीवन का नग्न यथार्थ, चक्की के इन दो पाटों के बीच पिसती हुई भावनाओं का चित्र इन पंक्तियों में साकार है—

ओ अशेष ! निःशेष बीन का एक तार था मैं ही !
स्वर्भू की सम्मिलित गिरा का एक द्वार था मैं ही !

तब क्यों बांध रखा कारा में ?
कूद अभय उत्तुंग शृंग से
बहने दिया नहीं धारा में
लहरों की खा चोट गरजता,
कभी शिलाओं से टकरा कर
अहंकार प्राणों का बजता

*   *   *

तब क्यों दह्यमान यह जीवन
चढ़ न सका मंदिर में अब तक
बन सहस्र वर्तिक नीराजन
देख रहा मैं वेदि तुम्हारी
कुछ टिमटिम, कुछ-कुछ अंधियारी

*   *   *

मुझमें जो मर रही, जगत में कहां भारती वैसी ?
जो अवमानित शिखा, किसी की कहां आरती वैसी ?

*   *   *

तब क्यों इस जम्बाल-जाल में
मुझे फेंक मुस्काते हो तुम
मैं क्यों हँसता नहीं देवता
पूजा का बन सुमन थाल में ?

*   *   *

कर में उज्जवल शंख, स्कन्ध पर

लिए तुम्हारी विजय-पताका,
अमृत-कलश-वाही धरणी का,
दूत तुम्हारी अमर विभा का !
(चलता मैं फेंकते मलीमस पापों पर चिनगारी,
सुन उद्बोधन-नाद नींद से जग उठते नर-नारी।
भूल गए देवता, उदय का महोच्चार था मैं ही—
स्वभू की सम्मिलित गिरा का एक द्वार था मैं ही !![1])

सन् १९४२ के आन्दोलन में उनकी पोस्टिंग जिस सब डिवीज़न में हुई वहां के एस० डी० ओ० की हत्या कर दी गई। सरकारी क्षेत्रों मे आतंक छा गया। सेना बुलाई गई और दमन-चक्र चलने लगा, राजनीतिक क्रान्ति में सक्रिय भाग लेने वाले अनेक फ़रार रात में उनके घर में आश्रय लेते थे फिर भी वे दमन-चक्र से बचे रहे। यह स्थिति भी थोड़े ही दिनों के पश्चात् समाप्त हो गई। पूर्व एस०डी०ओ० की मृत्यु के बाद जिस अफसर की नियुक्ति हुई उसने अपनी सुरक्षा के लिए दिनकर के घर को ही अनुकूल समझा और उन्ही के साथ रहने लगा, और फिर फरारों को आश्रय मिलने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। पुलिस-अधिकारियों के हृदय में भी उनके प्रति एक सम्मान और आतंक का भाव था। वे कहा करते थे कि वे अन्धे नही है ; रजिस्ट्रार साहब अनेक बागियों के घर आते-जाते रहते है; हम उनके खिलाफ कार्रवाई कहां करते हैं ?

परिस्थितियों की मांग के कारण नौकरी दिनकर छोड़ नहीं सकते थे। लेकिन अपनी विद्रोही भावनाओं के कारण उन्हें काफ़ी दिक्कतें उठानी पड़ी। उन्होंने बी० ए० (आनर्स) उस समय किया था जब बिहार में आनर्स-ग्रेजुएटों की नियुक्ति डिप्टी कलक्टर के पद पर बड़ी आसानी से हो जाती थी। परन्तु इतने प्रतिभासम्पन्न होते हुए भी दिनकर का नाम बार-बार छांट दिया जाता था। ('रेणुका' और 'हुंकार' के प्रकाशन के बाद से सरकार उन पर बड़ी कड़ी आंख रखने लगी थी।) जिन दिनों वे सब-रजिस्ट्रार थे, बिहार के जिला मजिस्ट्रेट थे श्री डब्ल्यू० जी० आर्चर। वे आजकल लन्दन में विक्टोरिया म्यूज़ियम के क्यूरेटर हैं। साहित्य और कला के पारखी होने के कारण वे दिनकर से बहुत स्नेह रखते थे, इसीलिए उन्होंने उनको पटना में नियुक्त कराने के लिए सरकार को अपनी सिफ़ारिश भेजी। मगर सरकार ने आर्चर को उत्तर दिया कि यह नियुक्ति तभी हो सकती है यदि तुम इस पदाधिकारी का उत्तरदायित्व अपने

१. सामधेनी, पृष्ठ ७, ८, ९—दिनकर

ऊपर लो। आर्चर को आगे कुछ कहने या करने का साहस नहीं हुआ और उन्होंने अपनी सिफारिश वापस ले ली।

सन् १९४८ से ही वे नौकरी से विरक्त होने लगे थे। सन् १९५० में तो उन्होंने एक तरह इस्तीफा ही दे दिया था। उसी समय उनकी नियुक्ति मुजफ्फरपुर कालेज में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष के रूप में हो गई। कालेज पहुंच कर दिनकर को जैसे कुछ खुला वातावरण मिला। अपने अध्यवसाय के बल पर बडी जल्दी ही वे एक प्रख्यात और सुयोग्य प्राध्यापक बन गए। अपने एक मित्र के अनुसार "दिनकर ने कालेज की नौकरी संसदीय मर्यादा के लोभ में नहीं छोड़ी, बल्कि इसलिए छोडी कि सरकारी नौकरी से उनका मन अब ऊब गया था। पार्लियामेंट की मेम्बरी तो एक बहाना बन गई, नहीं तो नौकरी, शायद वे यों भी एक दिन छोड़ ही देते। मन से वे उस ऊंचाई पर पहुंच गए थे जहां मिजाज के पहुंच जाने पर नौकरी में निर्वाह होना कठिन हो जाता है। कालेज की नौकरी के बाद मैंने उनसे पूछा, कहो, अब तो जीवन और समाज से नाराज़ नहीं हो ? दिनकर बोले, 'यार कुछ कहते नहीं बनता। सब ठीक ही है। केवल दो बात हैं, जो मुझे अब भी नापसन्द हैं। पहली यह कि छात्र मुझे उस दृष्टि से नहीं देखते जैसे गुरु को उन्हें देखना चाहिए। मैं तो सिर झुकाकर निकल जाता हूँ, लेकिन, मन समझता है कि सैकड़ों लड़कों की आंखें मेरी पीठ पर चुभ रही हैं। दूसरी बात यह है कि जब से पढ़ाने का धंधा अपनाया है, विद्या मुझे अपनी गहराई में खींच रही है। मैं अनुभव करता हूं कि मुझे अभी कितना अधिक और जानना है'।"[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि ये दोनों ही व्याजस्तुतियां हैं।

दिनकर के राजनीतिक जीवन के कुछ रोचक संस्मरण[2]

"संसद गए दिनकर को एक या दो वर्ष ही हुए थे कि अखबारों में समाचार छपा, दिनकर मन्त्री बनने वाले हैं। मगर, वे मन्त्री हुए नहीं। उसके बाद जब भी मैंने उनका कलेजा टटोला, मुझे ऐसा लगा कि मन्त्री-पद की चाह कहीं न कहीं उनमें मौजूद है। हां, रूस से लौटकर आने के बाद यह ख्वाहिश भी गायब हो गई है। अब मुझे ऐसा लगता है कि जैसे आरम्भिक जीवन में डिप्टी बनने की ख्वाहिश पैदा होकर मर गई, वैसे ही, मन्त्री-पद की चाह भी अब दिनकर में नहीं है।

नेता बनने से भी दिनकर घबराते हैं। सभा-सोसाइटियों के लिए जाने पर जब लोग उनका जयकार करते हैं, तब वे क्रुद्ध होकर जयकार करने वालों

१—२. श्री कामेश्वर शर्मा कमल द्वारा दिए गए विवरणों से उद्धृत

को डांटते है। सभाओ में अपनी प्रशस्ति एवं अभिनन्दन सुनना उनको अच्छा नही लगता। टण्डन जी के देहावसान के बाद लोग चाहते हैं कि दिनकर हिन्दी का नेतृत्व सम्हालें। लेकिन, इस काम के लिए भी वे तैयार नहीं हैं। और जब उन्हें कोई राष्ट्रकवि कहता है, तब वे कहते है, हमारे राष्ट्रकवि तो अभी मौजूद है। मैं तो महज डिपुटी राष्ट्रकवि हूं।

एक बार गंगा ब्रिज मुकामा को लेकर बरौनी में मजदूरों ने हड़ताल कर दी। प्रान्त के नेता और जिले के अधिकारी सबने सोचा दिनकर यदि इसमे पड़े तो हड़ताल भंग हो जाय। दिनकर इस काम के लिए वहां गये भी। लेकिन मैने देखा, बिल्कुल एक मामूली बात पर नाराज होकर भाग आये। फिर बड़ी मिन्नतों के बाद वे राजी किये जा सके और उनके जाने पर हड़ताल टूट भी गयी, लेकिन ऐसे अवसरों के लिए दिनकर को उत्साह नहीं रहता। वे इन कामों को बहुत ही छोटा और तुच्छ समझते हैं। वे राजनीति मे रह कर भी लीडरी से दूर भागेंगे—बहुत दूर।

साहित्यिक को राजनीति मे पड़ना चाहिये या नही, यह विवाद की बात है। लेकिन, मेरा ख्याल है, राजनीति साहित्यिक से चलती नही। बहुत सम्हल कर चलने पर भी साहित्यिक अच्छी और सच्ची बात बोल ही देता है, किन्तु राजनीति में यह दोष गिना जाता है। बिहार के बारे में मशहूर है कि वहां राजनीति जाति के आधार पर चलती है। दिनकर भूमिहार ब्राह्मण है। बिहार के दिवंगत मुख्यमन्त्री बिहार-केसरी डा० श्रीकृष्ण सिंह भी इसी जाति के थे। सन् १९५७ में सार्वजनिक चुनाव के बाद नेता के चुनाव में श्री बाबू के प्रतिद्वन्द्वी बिहार-विभूति स्व० डा० अनुग्रहनारायण सिंह हुए। दिनकर दोनों के स्नेहभाजन थे। चुनाव के लिए वे दिल्ली से दौड़कर पटना भी आये। पर जब चुनाव समाप्त हो गया और श्री बाबू विजयी घोषित हो गये, तब दिनकर ने बधाई देते हुए श्री बाबू से निवेदन किया कि आप अभी भारी सुयश में हैं। बुढ़ापे में आपके मित्र ने आपके साथ संघर्ष लिया और भगवान् ने विजयी बनाकर आपको सुयश दिया। अब उचित यह होगा कि आप अनुग्रह बाबू को बुलाकर कह दीजिये कि मुख्य मन्त्री का कार्य वे ही सम्हाले और आप अवकाश ग्रहण करके दूसरे कामों में लगें। आपके अवकाश-ग्रहण का इससे और सुन्दर अवसर नही आने का। इसमें आपका यश और कांग्रेस का कल्याण है। सारे देश को रोशनी मिलेगी। मगर, श्री बाबू पर इस नेक सलाह की प्रतिक्रिया अच्छी नही हुई। यद्यपि उन्होने तब भी दिनकर का साथ नहीं छोड़ा। मगर राजनीति में ऐसी सलाह के दण्ड कई रूपों में प्रकट होते हैं।

गांधीवाद का प्रभाव

सन् १९२० में १२ साल की उम्र में दिनकर ने राष्ट्रीय पाठशाला में नाम लिखाया था। उसी क्रम में दिनकर के भीतर राष्ट्रीयता अंकुरित और पल्लवित हुई। सन् १९३० मे नमक सत्याग्रह मे उन्होंने ३–४ महीने काम भी किया था लेकिन, जेल न जाकर वे पुनः पढ़ने को कालेज लौट आये। नमक सत्याग्रह के समय दिनकर ने एक कविता लिखी थी, जिसमें यह पद था—

यह विस्मय बड़ा प्रबल है,
बल को बलहीन रिझाते।
मरने वाले हँसते हैं,
आँसू हैं, बधिक बहाते॥ (सन् १९३०)

फिर, जब बापू ने पूना में ऐतिहासिक अनशन किया था, तब दिनकर की एक कविता 'विशाल भारत' मे छपी थी। इसमें एक पंक्ति थी—"ईसा चढ़ा क्रूस पर फिर से, दैव हाय, कल्याण करें।" किन्तु इसके पहले तक और कोई कविता उन्होंने गांधी जी पर नहीं लिखी थी। उनकी असली भक्ति हिंसात्मक वीरों पर थी। अशफाक की शहादत पर दिनकर की एक मार्मिक कविता 'युवक' (पटना) मे छपी थी। 'युवक' में ही उनकी मशहूर 'बागी' शीर्षक रचना भी छपी थी। यह रचना यतीन्द्रनाथ दास की शहादत से प्रभावित थी। 'हुंकार' की कविताओं का स्वर अहिंसात्मक नही है। सन् १९२९ में दिनकर ने एक कविता वायसराय की घोषणा पर लिखी थी। यह 'विशाल भारत' से लौट आई यद्यपि उस समय की परिस्थिति के अनुकूल जोश-पूर्ण होने के कारण हम लोगों को रचना बहुत पसन्द थी। राजनीति में दिनकर की मैत्री या संगति भी उन लोगो से थी जो आगे चल कर साम्यवादी या समाजवादी हो गये। जहां तक मुझे याद है, सन् १९४७ के पूर्व तक दिनकर ने गांधी को कविता में लाने का प्रयास नही किया। और सन् १९४७ में भी उनकी कल्पना तब उद्वेलित हुयी जब गांधी जी हिन्दू-मुस्लिम खूँरेजी के बाद अकेले नोआखाली पहुंच गये। हमारी जानकारी मे गांधी जी पर जितनी भी कविताएं लिखी गयीं, ओज की दृष्टि से दिनकर की कविता उनमें सर्वश्रेष्ठ है। किन्तु, दिनकर बराबर कहते रहे, यह मेरा गांधी है, कांग्रेस वालों का नहीं, खुद गाधी का गांधी भी नही। यह वह गांधी नही, जैसा वह खुद है। यह वह गांधी है, जैसा उसे मैं देखना चाहता हूं।

दिनकर ने जब बापू कविता लिखी गांधी जी बिहार आये हुए थे और वहां बहुत दिन टिके रहे थे। इस बीच यह कविता गांधी जी के साथ विचरने वाले

बंगाल के श्री निर्मल कुमार बोस ने सुनी, हुनर ने सुनी, मृदुला बहन साराभाई ने सुनी, तथा गांधी जी के दल के अन्य लोगों ने भी सुनी। मृदुला जी ने कहा, बापू के मन की ठीक यही दशा थी, जब वे नोआखाली के लिए रवाना हुए थे। मृदुला जी ने बार-बार आग्रह किया कि यह कविता दिनकर बापू को सुना दे, लेकिन दिनकर इसके लिये तैयार नहीं हुए। एक रोज प्रार्थना-सभा मे दिनकर मौजूद थे। पं० गिरीश तिवारी (आजकल बिहार के एक मन्त्री) ने बहुत चाहा कि वे अपनी कविता प्रार्थना-सभा मे सुना दे कि बापू भी सुन लें। लेकिन दिनकर यहां भी राजी नही हुए। उन दिनों मैं दिनकर के साथ ही ठहरा हुआ था। मैने बहुत फटकारा कि जिस-तिस को रचना सुनाने मे आनन्द आता है और गांधी जी को तुम सुनाना नही चाहते। तब दिनकर ने अपनी कमजोरी बतलाई (बोले, गांधी को अपना यह रूप पसन्द नही आयेगा। गांधी जी अहिंसक जितने भी हों, मगर उनकी दृष्टि आरपार देखती है। मेरे हृदय की कटुता इस कविता मे भरी है। गांधी जी से वह छिपेगी नही। अगर उन्होंने सार्वजनिक रूप से मेरी निन्दा कर दी तो हतप्रभ हो जाऊंगा। इसलिये, गांधी जी को यह रचना नही सुना सकता।)

जब 'कुरुक्षेत्र' प्रकाशित हुआ था (सन् १९४६) तब उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा हुई थी। किन्तु, राजेन्द्र बाबू ने 'कुरुक्षेत्र' पर कोई सम्मति नही भेजी। यद्यपि इसके लिए दिनकर ने काफी प्रयास किया था।

(शुद्ध अहिंसावादी तो शायद गांधी जी को छोड़ कर और कोई था ही नही, लेकिन जो लोग वचन से अहिंसा के समर्थक थे, उनका समर्थन दिनकर भी वचन से ही करते थे।) दिनकर का हार्दिक समर्थन तो उन नवयुवकों को प्राप्त था जो कांग्रेस के आफीसियल (सत्तारूढ़) दल के विरुद्ध लड़ते थे। जब सन् १९३७ मे कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बना तब दिनकर की 'अनल किरीट' कविता निकली। उसमे ये पंक्तियां आती हैं—

> **ओ मदहोश बुरा फल है, सूरों का शोणित पीने का,**
> **देना होगा तुम्हें एक दिन गिन-गिन मोल पसीने का।"**

उस समय लोगों ने समझा था कि यह चोट सरदार वल्लभ भाई पटेल और उनके दल वालों पर थी।

सन् १९४६ में जब श्री जयप्रकाश नारायण जेल से भागने के बाद पहले पहल प्रकट हुए, तब उनका बृहत् स्वागत पटना के मैदान में किया गया। उस सभा के सभापति तत्कालीन मुख्यमन्त्री डा० श्रीकृष्णसिंह थे। उस सभा में दिनकर ने अपनी 'जयप्रकाश' नामक कविता पढ़ कर सुनाई थी। जनता तो

उस कविता को सुनकर उत्साह से गरजने लगी, लेकिन सरकार की आंखों में दिनकर दोषी बन गये। खासकर निम्नलिखित पंक्तियों को सुनकर लोगों ने समझा कि दिनकर श्रीकृष्णसिंह की जगह पर जयप्रकाश को देखना चाहते हैं—

"सेनानी करो प्रयाण अभय,
भावी इतिहास तुम्हारा है।
ये नखत अमा के बुझते हैं,
सारा आकाश तुम्हारा है।।"

दिनकर को डेढ़ साल नौकरी से अलग छुट्टी पर रहना पड़ा था। उस समय यह कहा जाता था कि श्री बाबू इसलिये नाराज हैं कि अंग्रेजी सरकार दिनकर का तबादला जब युद्ध के प्रचार-विभाग में कर रही थी, तब दिनकर ने नौकरी से इस्तीफा क्यों नही दे दिया। लेकिन, कुछ जानकार यह मानते थे कि सारी नाराजगी की जड़ उनकी 'जयप्रकाश' नामक कविता है, जो सत्तारूढ़ कांग्रेस दल के खिलाफ पड़ती है।

स्वयं दिनकर ने मुझे १९५३ मे बताया था कि मोरारजी भाई ने उनके मुख से जब 'कुरुक्षेत्र' काव्य सुना, तब उन्होंने कहा, "आप तो कम्युनिस्ट मालूम होते है। आप हिसा में विश्वास करते है?" दिनकर ने जवाब दिया, 'इतनी हिसा के बिना तो १९४२ का आन्दोलन भी गलत था।'"

* * *

दिनकर के व्यवसाय और जीवन का सब से बड़ा कलंक माना जाता है युद्ध-प्रचार-विभाग मे नियुक्ति की स्वीकृति। उनके पास अपने इस कार्य के लिए एक उत्तर है। उस समय कुछ पारिवारिक कारण आ पड़े थे, जिससे उनका साहस टूट गया था, लेकिन उनकी आत्मा ने उसके औचित्य को कभी स्वीकार नही किया। उनके युद्ध-प्रचार-विभाग मे जाने के बाद शत्रुओं की तो बात ही क्या अनेक मित्रों और प्रशंसकों की प्रतिक्रिया भी इतनी खराब रही कि वे घबरा गए। उनके विचार से अपनी आत्मा को दबाने के प्रयास में उनको जिस निराशा और अवसाद का सामना करना पड़ा उसी के कारण वे मधुमेह रोग से ग्रस्त हुए।

दिनकर जी का विश्वास है कि व्यवसाय और साहित्यसर्जना को एक-दूसरे का पूरक नहीं बनाया जा सकता, उनकी यह उक्ति अपने अनुभवों पर आधारित है। कम से कम काव्य-रचना का काम उन्हे सर्वत्र ही कठिन मालूम होता रहा है। जब वे अध्यापक थे तब भी "कविता आनन-फानन नही लिख सकते

थे ।" वही हाल सब-रजिस्ट्रारी में भी रहा, प्रचार-अफ़सरी में भी और प्राध्यापकी में भी, संसद में आने पर भी वही हाल है। कालेज में पढ़ाते समय उन्हें ऐसा अनुभव हुआ कि इतिहास और आलोचना के क्षेत्र में काम करने वालों के लिए कालेज बहुत ही अनुकूल क्षेत्र है, लेकिन कविता के लिए वह बहुत अनुकूल नही है। विभागाध्यक्ष या प्रधानाचार्य होकर कविता को जीवित रखना अत्यन्त कठिन है। इस प्रकार उनके व्यक्तित्व में व्यावसायिक दिनकर अलग है और साहित्यकार दिनकर अलग। उनके व्यक्तित्व का जो पक्ष पहले नौकरी करता था वह अब संसद की सदस्यता कर रहा है, जो साहित्य लिखता था वह साहित्य की रचना कर रहा है। संसद में आने के १० साल बाद भी दिनकर का साहित्यकार सक्रिय और सजग है। सामान्यतः राजनीति साहित्यकार को निगल जाती है, परन्तु दिनकर उसके अपवाद हैं, इसका कारण यही है कि उनके व्यक्तित्व के ये दोनों अंश एक दूसरे के पूरक नहीं हैं, दोनों का अस्तित्व अलग-अलग है और उनकी दृष्टि इस विषय में बिल्कुल स्पष्ट और निर्भ्रान्त है। फिर भी इस विषय में उनके मत का सारांश यह है कि आज से तीस-चालीस वर्ष बाद किसी प्रसिद्ध कवि को लोग संसद मे नहीं ला सकेंगे। राष्ट्रपति मनोनीत कर देंगे फिर भी उसमें संसद में आने का उत्साह नही रहेगा और अगर वह कभी संसद में आया भी तो यह घटना समाचार बन जायेगी।

काव्य-रचना की परोक्ष तथा अपरोक्ष प्रेरणाएं

सब से प्रथम ग्रन्थ जिसने आगे चलकर दिनकर के कवि-रूप के निर्माण मे योग दिया रामचरितमानस था। अन्य ग्रामो की भांति सिमरिया मे भी रामायण घर-घर धार्मिक ग्रन्थ के रूप में पूज्य मानी जाती थी। बचपन में उनके घर के दरवाजे पर लगभग नित्य ही रामायण का पाठ होता। वह लालटेन या मिट्टी के तेल के दिए के पास बैठ कर रामायण का सस्वर पाठ करते और उनके बड़े भाई उसका अर्थ कहते जाते। यह सिलसिला सालों तक चला लेकिन उन्हें यह कार्य कभी बोझ नहीं मालूम हुआ। रामायण का गान करने मे उन्हे स्वयं आनन्द आता था और ग्राम के अन्य व्यक्तियों को उनका पाठ अच्छा लगता था इसलिए उन्हें और भी प्रसन्नता होती थी, परन्तु 'मानस' से उनको काव्य-सर्जना की कोई प्रेरणा मिली ऐसा नहीं कहा जा सकता। उस समय तो उनकी रुचि प्रायः वैसी ही थी जैसी कि गांव वालों की रुचि रामायण जैसे धर्म-ग्रन्थ में हो सकती है।

कविता लिखने की मुख्य प्रेरणा उन्हें गांव की रामलीला और नौटंकियां

देखकर उत्पन्न हुई। नाटक में प्रयुक्त गीतों की तर्जों पर वे नये गीत लिख लेते। यह बातें प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के आसपास की है जब उनकी आयु लगभग आठ-दस साल की रही होगी। सन् १९२० ई० में 'प्रताप' में प्रकाशित 'एक भारतीय आत्मा' की कविता का उन पर बहुत प्रभाव पड़ा। यह कविता लोकमान्य तिलक की मृत्यु पर लिखी गई थी। इसे उन्होंने उसी समय कंठस्थ कर लिया। इसी कविता को हम दिनकर की काव्य-चेतना को उद्दीप्त करने वाली पहली कविता मान सकते है। इसके बाद ही उन्होंने पत्र-पत्रिकाओं में ढूंढ़-ढूंढ़कर कविता पढ़ना आरम्भ कर दिया। देश में असहयोग आन्दोलन चल रहा था और हर पत्रिका राष्ट्रीय गीतों से भरी रहती थी। उन दिनों जबलपुर से 'छात्र-सहोदर' नामक मासिक पत्र निकलता था जिसके सम्पादक कविवर अंचल जी के पिता पं० मातादीन शुक्ल थे। दिनकर जी के भाई श्री वसंत सिह जी इस पत्र के ग्राहक थे। दिनकर प्रति मास इस पत्र की बड़ी आतुरता के साथ प्रतीक्षा करते और नये अंक को प्राप्त करते ही उसमें प्रकाशित राष्ट्रीय कविताओं को रट डालते। इसके उपरान्त वे समकालीन काव्य-ग्रन्थों की ओर उन्मुख हुए और इसी उत्साह में भारत-भारती, जयद्रथ-वध, शकुन्तला और किसान का पारायण किया। सब से अधिक प्रभाव उन पर रामनरेश त्रिपाठी के 'पथिक' का पड़ा। उन्होने पथिक के अनुकरण पर वीरबाला और जयद्रथ-वध के अनुकरण पर 'मेघनाथ वध' नामक दो खण्ड-काव्य लिखना प्रारम्भ किया, लेकिन दोनों ही अधूरे रह गए। सर्गबद्ध खण्डकाव्य के रूप मे उन्होने प्रथम काव्य-ग्रन्थ 'प्रण-भंग' की रचना की।

जब दिनकर आठवीं या नवी कक्षा में पढ़ रहे थे 'सरस्वती', 'सुधा' और 'माधुरी' उन्हें यदा-कदा देखने को मिल जाती थीं। 'मतवाला' वह नियमित रूप से पढ़ते थे, इन्हीं पत्रिकाओं के द्वारा उनका परिचय छायावादी कविताओं से हुआ जिसके लिए उन्होंने लिखा है कि "ये कवितायें मेरी समझ में नही आती थी और मैं अधिकतर इस कविता का विरोध ही करता था।" सन् १९२८ ई० में मुजफ्फरपुर में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन पं० पद्मसिह शर्मा के सभापतित्व में हुआ। उन्होने छायावादी कविता की कठोर आलोचना की जिसके विरोध में श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने छायावाद का पक्ष लेते हुए बड़ा ओजस्वी भाषण दिया, छायावाद को अधिक निकट से समझने की प्रेरणा दिनकर जी को यहीं से प्राप्त हुई।

मैट्रिक पास करके जब उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए दिनकर पटना गए तब नियमित रूप से हिन्दी पत्र-पत्रिकायें उन्हें प्राप्त होने लगी। उन दिनों

सारे साहित्यिक विवाद अधिकतर सुधा और माधुरी मे प्रकाशित होते थे। छायावादी कविता से परिचय बढ़ने पर भी उसके प्रति 'निश्छल श्रद्धा' उनके हृदय में नही उत्पन्न हो सकी। दिनकर के संस्कार तुलसी और कबीर की सहज गम्भीरता तथा प्रसाद गुण के आदी थे—छायावाद की दुरूहता के कारण वे उसके साथ एकात्म नही हो सके।

उस समय उनके सबसे प्रिय कवि थे मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी चौहान, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और रामनरेश त्रिपाठी। कालेज जीवन में उनका परिचय शेली और वर्डस्वर्थ से हुआ तथा बंगला सीखकर उन्होंने रवीन्द्र और नज़रुल की रचनाओं का अध्ययन किया। नौकरी करते समय उन्होंने उर्दू सीखी और इकबाल तथा जोश के भक्त बन गए। अपने समसामयिक और परवर्ती कवियों मे से वे उन्हीं के अधिक निकट दिखाई देते है जिनकी रचनाओं में सहजता और सरलता अपेक्षाकृत अधिक है। उनकी "रुचिगत आत्मीयता भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र, बच्चन, नेपाली और नागार्जुन से ही बैठती है।" उनकी रुचि के आधार पर यह निष्कर्ष बड़ी सरलता से निकाला जा सकता है कि दिनकर आरम्भ से ही स्पष्टता के प्रेमी रहे हैं। सबल और स्वच्छ अभिव्यक्ति से विहीन बारीक अनुभूतियां और भाव उन्हें नही जंचते। वास्तव में तथ्य यह है (जैसा उन्होंने स्वयं कहा है) कि जब उन्होंने कविता लिखना आरम्भ किया उन्हें काव्य सम्बन्धी सिद्धान्तों का कोई विशेष ज्ञान नहीं था। कविता लिखने का उद्देश्य क्या होता है यह भी उन्हे ज्ञात नहीं था। सुन रखा था कि कविता करने के लिए छंद, रस, अलंकार और व्याकरण का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए, लेकिन दिनकर इस ओर से उदासीन ही रहे—और जागरूक होकर कवि बनने का प्रयत्न उन्होंने नही किया। यही कारण है कि 'रेणुका' और 'हुंकार' में आलोचकों को दिनकर की कविता में शिल्प-तत्व के अभाव का भास हुआ। इन आलोचनाओं के फलस्वरूप उन्होंने स्वाध्याय द्वारा अपनी कविता के अभाव को समझने का प्रयत्न किया। उन्होंने लिखा है कि "बार-बार आजमाने पर मुझे यह पता लग गया कि कलाकार, कारीगर और पच्चीकार होने की क्षमता मुझमें नहीं है।" परन्तु उनकी यह उक्ति उनकी विनम्रता मात्र है—'उर्वशी' की चित्र-कल्पना, भाषा-सौन्दर्य और शब्दचित्रों को देखते हुए निर्भ्रान्त यह कहा जा सकता है कि उनकी रचनाओं में द्विवेदीयुगीन और छायावादी कविता के गुणों का समन्वय और उनकी सीमाओं का तिरस्कार हुआ है। 'रेणुका' और 'हुंकार' के रचनाकाल में इसका बिल्कुल अभाव है, ऐसा भी नही कहा जा

सकता। तत्कालीन काव्य-सृजन की प्रक्रिया का उन्होंने स्वयं विश्लेषण किया है। "उन दिनों प्रेरणायें मेरे भीतर बड़े जोर से आती थी और मैं सजाव-संवार का बहाना बना कर उनको रोक नही पाता था। मैं मकान खड़ा करने के काम में इतना व्यस्त हो जाता था कि पत्थरों को छेनी और हथौड़ी से गढ़ने या विकास करने का कार्य मुझे अप्रिय और फालतू सा लगता था। 'रेणुका' से लेकर 'कुरुक्षेत्र' के काल तक मेरी कल्पना का यह हाल था कि वह प्रतियोगिता के रस्से के समान तनी होती थी और मैं समाधि की उस अवस्था में निमग्न रहता था जो भीतर से चौगुनी जाग्रत और बाहर से निस्पन्द होती है। भाव जब सुस्पष्टता से अनुभूत होते हैं तब अभिव्यक्ति में सफ़ाई अपने आप आ जाती है।"

भाव-समाधि दिनकर की स्रजन-प्रक्रिया में प्रधान स्थान रखती है। भावों की स्वच्छ अनुभूति के लिए वह देर-देर तक ध्यान-योग में लीन रहते है और कविता लिखना तभी आरम्भ करते है जब उन्हे इस बात का विश्वास हो जाता है कि वे भावों को ठीक-ठीक समझ गए है। कविता लिखने की प्रेरणा प्राप्त करते ही वे प्रयत्नपूर्वक अपने को एक अचेतन-उन्माद की स्थिति में पहुंचा देते हैं, जिसकी अलौकिकता की अनुभूति में वे किसी अज्ञात सत्ता के अधीन हो जाते थे। उनके विचार से अभिव्यक्ति की स्वच्छता स्वयं ही सौन्दर्य है।

दिनकर के अनुसार शैली भावों से सर्वथा भिन्न वस्तु नही होती। उनके शब्दों मे "भावों को हम जिस रूप में प्राप्त करते है, उन्हे जिस शीतलता या ताप के साथ, जिस धूमिलता या स्पष्टता के साथ अथवा जिस उद्वेलित या शमित मनोदशा मे ग्रहण करते है, वही मनोदशा हमारी शैली बन जाती है। और चूंकि मेरी कल्पना रस्से के समान इंच-इंच तनी होती थी इसलिए शब्द भी मुझे वे ही पसन्द आते थे जो इस तनाव को अभिव्यक्त कर सकें। कविता लिखते समय मेरी मनोदशा कैसी होती थी, इसका कुछ अनुमान सहृदय इस बात से लगा सकते हैं कि प्रायः ही रचना के समय मुझ में सात्विक भाव (रोमांच, अश्रु, वैवर्ण्य, स्वेद आदि) जाग उठते थे और एक रचना पूरी करते-करते उनकी कई नई आकृतियां हो जाती थी। और यह भी सत्य है कि मेरी जिन कविताओं से पाठक और श्रोता सब से अधिक आन्दोलित हुए, वे ठीक वे ही कविताएं है जिनकी रचना के समय मैने सात्विक भावों का सबसे अधिक अनुभव किया था।"

उनका विश्वास है कि वे 'उर्वशी' के कवि की अपेक्षा 'कुरुक्षेत्र' के कवि के रूप में अधिक याद किए जाएंगे। "रसवंती मुझे बहुत प्यारी है, नील कुसुम भी—उर्बशी तो है ही।" चीन के आक्रमण के बाद 'उर्वशी' सुनाना ही उन्होंने

बन्द कर दिया है। अब वह 'परशुराम की प्रतीक्षा' को ही समय की मांग समझते हैं। उनका कहना है "मेरी प्रिय रचना अभी लिखी ही नहीं गई—जब मैं 'रिल्के' के भाव को तुलसी की भाषा में लिख सकूंगा तभी अपने को सिद्ध कवि मान सकूंगा।"

साहित्यिक सम्मान

सन् १९५९ में दिनकर की साहित्यिक सेवाओं के पुरस्कार स्वरूप उन्हें राष्ट्रपति द्वारा पद्मभूषण की उपाधि प्रदान की गई। सन् १९५३ में उनके ग्रन्थ 'संस्कृति के चार अध्याय' पर साहित्य अकादमी ने राष्ट्रीय पुरस्कार दिया। सन् १९६२ में भागलपुर विश्वविद्यालय ने उन्हें डाक्टर आफ़ लिट्रेचर की (आनरिस कौज़ा) उपाधि दी। इसके अतिरिक्त समय-समय पर भारत सरकार, उत्तर प्रदेश सरकार, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, साहित्यकार-संसद, इलाहाबाद, तथा बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना द्वारा उनको अनेक पुरस्कार प्राप्त हुए, नागरी प्रचारिणी सभा का द्विवेदी पदक उन्हें दो बार मिला। पहले 'कुरुक्षेत्र' के लिए फिर 'रश्मिरथी' के लिए। 'कुरुक्षेत्र' पर साहित्यकार संसद, प्रयाग द्वारा पुरस्कृत किए जाने के अवसर पर सन् १९४९ ई० में प्रयाग की गंगा की सैकत भूमि पर साहित्यिकों द्वारा सम्मान-समारोह का आयोजन किया गया। इसका सभापतित्व राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने किया था तथा हिन्दी के प्रतिष्ठित कवियों ने उसमें भाग लिया था जिनमें मुख्य थे सर्वश्री सुमित्रानन्दन पंत, महादेवी वर्मा, डा० रामकुमार वर्मा, 'हितैषी', श्री नारायण चतुर्वेदी, रायकृष्णदास। इसी अवसर पर इलाहाबाद की 'परिमल' की ओर से अलग मानपत्र भी दिया गया था।

इसी प्रसंग में दिनकर जी की कृतियों का विदेशी और अन्य भारतीय भाषाओं में जो आदर हो रहा है इसका उल्लेख कर देना भी समीचीन जान पड़ता है। जापान से निकलने वाले अंग्रेजी पत्र 'Orient West' में कलिंग विजय का अनुवाद प्रकाशित हुआ। 'United Asia' में उनकी आठ कविताओं का अनुवाद छपा। रूस के 'विदेशी साहित्य ग्रन्थमाला' के अन्तर्गत उनकी कविताओं के संकलन का रूसी अनुवाद १९६३ में प्रकाशित हो रहा है। 'संस्कृति के चार अध्याय' के प्राचीन खण्ड का अनुवाद जापानी भाषा में हुआ है। इसके अतिरिक्त 'कुरुक्षेत्र' का अनुवाद भी विभिन्न भारतीय भाषाओं में हो रहा है। कन्नड़ और तेलुगु में वह प्रकाशित हो चुका है।

विदेश-भ्रमण

१९५५ में दिनकर ने वारसा (पोलैण्ड) के अन्तर्राष्ट्रीय काव्य-समारोह में भारत का प्रतिनिधित्व किया। कुरुक्षेत्र के छठे सर्ग का अनुवाद पोलिश भाषा मे हुआ। वहां की जनता ने उसका जोरदार स्वागत किया। पोलैण्ड से लौटते हुए वे इंगलैण्ड, फ्रांस, स्विटज़रलैण्ड और मिस्र भी गए। जहां काहिरा की साहित्य-गोष्ठी में डा० ताहा हुसेन भी आए हुए थे। सन् १९५७ ई० में उन्होंने चीन के लेखक-संघ के निमन्त्रण पर चीन का भ्रमण किया, वहां के अनेक नगरो में गए, अनेक कवियों, उपन्यासकारों और नाटककारों से भेंट की। उनसे मिल कर उन्होंने चीन के प्रति एक मूल धारणा बनाई कि चीन में धर्म की रेखा कभी नही रही होगी, वहां की दृष्टि अनाध्यात्मिक है। इसी दौरान में उन्होंने बर्मा और थाइलैण्ड के साहित्यकारों से भी भेंट की। चीन में जिन मुख्य साहित्यकारों से उन्होंने भेंट की उनके नाम हैं—ली-ची, सिग-ए—नाटककार, चांग-को-श्या, हो-चीन-फान, ला-ओ-से, तैन चिन, वा लिन।

सन् १९६१ मे विविध भारतीय भाषाओं के साहित्यिकों के प्रतिनिधि मण्डल के साथ उन्होंने रूस का भ्रमण किया। इस प्रतिनिधि मण्डल में श्री उमाशंकर जोशी गुजराती का, जियालाल कौल कश्मीरी का, वरदराजन तमिल का तथा सागर निज़ामी उर्दू का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। दिनकर जी ने इस प्रतिनिधि मण्डल का नेतृत्व किया था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है रूस में दिनकर के साहित्य का बड़ा मान है। उनकी अनेक कविताओं का अनुवाद रूसी भाषा में हो चुका है।

व्यक्तित्व

दिनकर के व्यक्तित्व मे धरतीपुत्र का आत्मविश्वास और दृढ़ता, साहित्यकार की अनुभूति-प्रवणता, दार्शनिक का तत्वचिन्तन तथा राजपुरुष का ओज और तेज है। दूसरे शब्दों में उनके जीवन की कहानी हल, हँसिया, लेखनी और पार्लियामेण्ट की बैठकों की कहानी है। उनके बाह्य व्यक्तित्व में भी क्षत्रिय का तेज, ब्राह्मण का अहं, परशुराम का गर्जन और कालिदास की कलात्मकता है। उनके इसी व्यक्तित्व के कारण निराला जी उन्हें 'ईरानी' कहा करते थे। गौर वर्ण, उन्नत मस्तक, आर्य नासिका, तेजपूर्ण नेत्र और ऊंचे कद के साथ लम्बी पतली उंगलियों का सामंजस्य ऐसा बैठता है कि उनके कविता पाठ करते समय ऐसा मालूम पड़ता है जैसे यह परशुराम केवल गरज सकता है फरसा उठाने की सामर्थ्य उसमें नही होगी। उनके हाथ तो लेखनी पकड़ने के लिए ही बनाए

गए जान पड़ते है।

मैने दिनकर को पहली बार लगभग पन्द्रह बीस-साल पहले लखनऊ में आयोजित कवि-सम्मेलन में देखा लखनऊ के सैलानी विद्यार्थियो के बीच उनका दृढ़ पौरुष और ओजपूर्ण व्यक्तित्व अलग ही दिखाई दे रहा था। उनका अहं करीब-करीब दम्भ सा प्रतीत हो रहा था। हम विद्यार्थियों की ओर वह ऐसे देख रहे थे जैसे कोई गन्धर्व ऊंचे उड़ते विमान पर से नीचे के क्षुद्र महत्वहीन कीड़े-मकोड़ों को देख रहा हो। छात्रा-श्रोताओं की ओर उनका रुख ऐसा था जैसे वह वर्ग वहां अनधिकार बैठा हुआ हो। इसीलिए बहुत दिनों तक विद्यार्थी उनके कविता पाठ की प्रशंसा 'शानचू कवि की कविता' कह कर किया करते थे। एक तो कवि-सम्मेलन, दूसरे विद्यार्थी श्रोता; बार-बार उठने का निर्णय करके भी हम छात्राएं दिनकर की कविता सुनने का मोह छोड़ सकने में असमर्थ हो रही थी—(उन दिनों छात्राओं के बैठने का स्थान सब से अलग होता था और वे प्रोफेसर के आने के बाद ही छात्रों के साथ अपने लिए सुरक्षित सीटों पर जाकर बैठती थी) इतने में ही दिनकर अपनी 'ठवनि' मे मंच पर आए। कक्ष मे उनका स्वर गूंज उठा—

"जयप्रकाश, जय जयप्रकाश"

और उसके बाद उनकी कविताओं का वह समां बंधा जो कभी भुलाए नही भूल सकता।

अब तक दिनकर-साहित्य के नाम पर मेरा परिचय केवल "मेरे नगपति मेरे विशाल" तक ही सीमित था। कवि-सम्मेलन के बाद लायब्रेरी से उनकी रेणुका और हुंकार कुछ सहपाठी साथ-साथ लाये, उन्हें उल्टे-सीधे स्वरों मे चिल्ला कर गाकर पढ़ा, और उसके बाद बात आई गई हो गई।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् दिनकर पार्लियामेंट में आये। परन्तु 'प्रथम दर्शन' के गहरे आतंक के कारण उनके साहित्य के प्रशंसकों को भी उनके निकट जाने की हिम्मत मुश्किल से ही पड़ती है, वही हाल मेरा हुआ। साहित्यिक और कवि सम्मेलनी मंचों के द्वारा ही कवि से परिचय रखने वाले के हृदय पर उसी विशिष्टता का प्रभाव अब भी पड़ता है विशिष्ट होना एक बात है लेकिन कभी-कभी दूसरों को ऐसा लगता है कि दिनकर अपनी विशिष्टता को जानते हैं। उनका गर्वोन्नत मस्तक बोलता हुआ जान पड़ता है—"अपने समय का सूर्य हूं मैं"। हो सकता है इसका कारण उनका अपने व्यक्तित्व, जीवन-दृष्टि और विचार-दर्शन के प्रति निर्भ्रान्त आत्म-विश्वास हो। दिनकर के साहित्यिक व्यक्तित्व का विश्लेषण इस प्रसंग में मेरा अभीष्ट नहीं है परन्तु अनेक बार

ऐसा लगता है कि कुरुक्षेत्र के भीष्म, रश्मिरथी के कर्ण, और आज के परशुराम दिनकर के व्यक्तित्व के ही अंश है। आत्माभिव्यक्ति-प्रधान रसवंती का रूमानी रागी और 'उर्वशी' का पुरुरवा तो उनका अपना अंश होगा ही। ओज और कोमलता का ऐसा साथ, साहित्य और व्यक्तित्व दोनों में ज़रा कम ही मिलता है। वाल्मीकि की करुणा और दुर्वासा सा क्रोध उनके व्यक्तित्व में साथ-साथ विद्यमान है।

दिल्ली में अधिकतर मैंने उन्हें दद्दा (राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त) की बैठक में ही देखा है। दद्दा ही एक ऐसे व्यक्ति हैं जिनके सामने मैंने दिनकर के स्वर को बिना दृढ़ता खोये हुए धीमा होते देखा है। दद्दा के प्रति श्रद्धा और विनय उनकी असहमति और मत-वैभिन्न से भारी पड़ती है। अपने समवयस्क सहयोगियों के सामने न उनकी वाणी की प्रखरता कम होती है, न वे अपना मत बदलते हैं। बहस की गर्मागर्मी में व्यंग्य, उपहास, और विनोद सभी का प्रयोग करके वह अपनी बात को ही ऊपर रखते है। उससे नीचे के तबके के लोगों को तो वह केवल आज्ञा दे सकते हैं। तटस्थ दर्शक का भाव उनमे तब तक आ ही नही सकता, जब तक कि वे जानबूझ कर ही चुप रहने का निर्णय न कर लें।

दीर्घकाल से मधुमेह से पीड़ित होने के कारण कभी-कभी उन पर अवसाद का एक भीना आवरण छा जाता है। उन क्षणों में भी उनमें दैन्य या उदासी नही होती, वे थके सिह से दिखाई पड़ते हैं। मुझे याद है कुछ वर्ष पहले दद्दा की बैठक में सोफ़ासैट की पीठ के सहारे लेटे हुए, उन्होंने कहा था—"अब क्या करना है। शरीर रोगी हो गया है तो रहे, उर्वशी काव्य पूरा करना चाहता था कर लिया।" आज सबको ज्ञात है कि उर्वशीकार, अप्सरा लोक को छोड़ कर फिर अपनी पूर्व अग्नि भूमि पर उतर आया है, आज के संकट काल में, 'परशुराम की प्रतीक्षा' को उनके अवतरण में परिणत करने के लिए दीर्घकाल तक राष्ट्र को उनकी आवश्यकता रहेगी।

दिनकर मूलतः भावप्रवण व्यक्ति हैं। अधिकतर उनकी प्रतिक्रियायें विवेकात्मक न होकर भावात्मक होती है इसी कारण उग्रता के प्रति उनका सहज आकर्षण रहा है। भावना-प्रधान व्यक्तित्व होने के कारण ही उनकी बौद्धिकता तथा सहज प्रतिक्रियाओं में प्रायः विरोध चलता रहता है, और हर समस्या पर दोनों ही पक्ष की मान्यतायें टकराती रहती है। परिस्थितियां उनकी भावनाओं को उत्तेजित करने में बिजली के स्विच का काम करती है। इस उग्रता के साथ उनका सम्पर्क बौद्धिक अधिक होता है व्यावहारिक कम। वे

कर्त्ता कम हैं द्रष्टा अधिक। परिस्थितियों की भांति ही व्यक्तित्वों के प्रति भी उनकी प्रतिक्रियायें भाव-प्रधान ही होती हैं। इस प्रसंग में उन पर श्री जय-प्रकाश नारायण के व्यक्तित्व के प्रभाव का उल्लेख किया जा सकता है। जिस युग के उदीयमान नेता श्री जयप्रकाश नारायण थे दिनकर उसी युग के उदीय-मान कवि थे। युवक संघ के सम्पर्क के कारण वे एक दूसरे के निकट आये। दिनकर बहुत दिनों तक अन्ध श्रद्धा-भक्ति के साथ उन्हें देवता के समान पूजते रहे।

संवेदनशीलता और द्रवणशीलता भी उनके व्यक्तित्व में सामान्य से अधिक है। एक बार श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के अध्ययन कक्ष में टंगे हुये 'चन्द्र शेखर आजाद की गिरफ्तारी का चित्र देखकर अन्य लोग उस घटना का वर्णन-विवेचन कर रहे थे, लेकिन, दिनकर की आंखों से अविरल अश्रुधार बह रही थी। चर्चा बन्द हो गई लेकिन उनके आंसुओं का प्रवाह चलता ही रहा। इसी प्रकार दिल्ली में आयोजित निराला-जयन्ती समारोह में सभापतित्व करते हुये उनकी संवेदनात्मकता का दूसरा उदाहरण सामने आया।—श्री शिवमंगल सिंह 'सुमन' द्वारा 'जुही की कली' के पाठ का वह झूम-झूम कर आनन्द ले रहे थे। उसके तत्काल बाद ही 'सरोज-स्मृति' कविता का पाठ आरम्भ हो गया और दिनकर भाव-विभोर होकर आंखों पर रूमाल रख कर आंसू पोंछते रहे। कोमलता और शौर्य के जिस संगम की बात दिनकर बार-बार अर्ध-नारीश्वर के सिद्धान्त की चर्चा करते हुये करते है, वह मानों उनके व्यक्तित्व मे साकार मिलती है।

अपने मित्रों से साधारण मन्त्रणा करते समय भी उनकी मुद्रा देखने योग्य होती है। मित्र के कान के पास मुह ले जाकर धीरे-धीरे जब वह बातें करते हैं तो मालूम पड़ता है नेहरू और पटेल कश्मीर-समस्या पर विचार-विमर्श कर रहे है अथवा चाणक्य चन्द्रगुप्त को कूटनीति का कोई भेद बता रहा है। दिल्ली में दीर्घकाल से रहते हुये भी उनके व्यवहार में कृत्रिम शिष्टाचार और आडम्बर नहीं आ पाया है। अन्तरंग मित्रों में बात करते समय धरतीपुत्र की अनगढ़ अकृत्रिम मुद्रायें सहज हो उठती है।

दिनकर का क्रोध

दिनकर के क्रोध की अनेक कहानियां हैं। उनके क्रोध का पात्र कोई कभी भी हो सकता है। क्रोध के समय वे छोटे, बड़े, समवयस्क किसी का ध्यान नही रखते। लेकिन, क्रोध की लहर आकर चली जाती है, अपने पीछे कोई विष नहीं

छोड़ जाती। "इस स्थिति में उन्हें बच्चों की तरह सम्हालना पड़ता है। जभी बच्चों की तरह उन्हें सम्हाला गया है, अवश्य सफलता मिली है। वैसे क्रोध का पहला विस्फोट तो उनका ऐसा होता है मानों वे पागल हो गये हों।"[1] उनके निकट मित्रों और सम्बन्धियों का ख्याल है कि दिनकर जितने क्रोधी अब हो गये है, उतने पहले नहीं थे।

दिनकर जी के क्रोध का अनुभव मुझे भी कई बार हो चुका है। एक बार दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दू कालेज में 'उर्वशी' पर निबन्ध-प्रतियोगिता का आयोजन किया गया था। पुरस्कार वितरण के अवसर पर दिनकर जी सम्मान्य अतिथि के रूप में निमन्त्रित किये गये थे।। उर्वशी पर अपना मत प्रकट करते-करते उन्होंने उर्वशी सम्बन्धी डा० नगेन्द्र के कुछ मन्तव्यों की आलोचना करना आरम्भ कर दिया। डा० नगेन्द्र कुछ कहने के लिए तैयार नही थे, लेकिन श्रोताओं के अनुरोध पर उन्हें उठना पड़ा। वे दिनकर जी की उठाई हुई बातों का उत्तर देने लगे। डा० नगेन्द्र की बातों पर दिनकर जी को बड़ा क्रोध आया। सभापति के विलम्ब से आने के कारण संयोग से मैं ही दिनकर जी की पास की कुर्सी पर बैठी थी, मैं धर्मसंकट में पड़ गई। एक ओर विभागाध्यक्ष के सम्मान का ध्यान दूसरी ओर सम्मान्य अतिथि का। मैंने बड़ी मुश्किल से दिनकर जी को सम्हाला। मेरे याचनापूर्ण अनुनय-विनय से वे बड़ी कठिनाई से 'उर्वशी' का पाठ करने के लिए तैयार हुए और दूसरे ही क्षण उनका व्यवहार ऐसा हो गया जैसे कुछ हुआ ही नहीं।

दिनकर जी टेलीफोन पर 'कौन है' ऐसे बोलते हैं जैसे किसी सैन्य-चौकी पर तैनात हवलदार अप्रत्याशित रूप से आये हुये अपरिचित अभ्यागत से कड़क पर पूछता हो 'हू इज देयर' और बोलने वाले को अपनी विनम्र आवाज में उन्हें आश्वस्त करना पड़ता है 'मैं आपका कृपाभिलाषी हूं' 'आपकी दया चाहता हूं' 'मैं मित्र हूं'। दिनकर जी की टेलीफोन सम्बन्धी एक बड़ी रोचक घटना है। दिल्ली विश्वविद्यालय की एक छात्रा माया शर्मा मेरे निर्देशन में एम० ए० की परीक्षा के लिए प्रबन्ध लिख रही थी। प्रबन्ध का शीर्षक था 'दिनकर का काव्य-शिल्प'। 'बारदोली-विजय' और 'प्रणभंग' ग्रन्थ उसे मिल नही रहे थे। मैंने उसे सुझाव दिया कि वह दिनकर जी को पत्र लिख कर उनसे समय निश्चित कर ले और यदि ये ग्रन्थ उनके पास मिल सकें तो कुछ समय के लिए उनसे मांग ले। उसने उन्हें पत्र लिखा, कृपा और स्नेहपूर्ण उत्तर भी आया, वह बड़ी आश्वस्त हुई। पार्लियामेंट आरम्भ होने पर दिनकर जी

१ श्री कामेश्वर शर्मा

दिल्ली आते हैं। यह सोच कर कि अब तक माया उनसे मिल चुकी होगी— मैंने उन दोनों ग्रन्थों के बारे में पूछा। बड़े ही संकोच और नैराश्य से उसने कहा, ये ग्रन्थ नही मिलते। मैंने आश्चर्य से पूछा दिनकर जी को फोन किया था ? और सहज बाल संकोच तथा भय से उसने डरते-डरते मुझे बताया 'दिनकर जी इतनी जोर से टेलीफ़ोन पर बोले कि मुझे बड़ा डर लग गया, मैं उनके पास नहीं जा सकती।' मेरे बहुत समझाने पर भी वह फिर से दिनकर जी की गरजपूर्ण आवाज सुनने का साहस नही कर सकी और इन दोनो ग्रन्थो को अप्राप्त बता कर अपना काम चला लिया।

११, कैनिंगलेन के फाटक पर पहुंचते ही पहली शंका मन में उठती है पता नही दिनकर जी ठीक मूड में होंगे या नही। यदि किसी दिन उनका दुर्वासा प्रबल रहा तो आगन्तुक को ड्राइंग रूम में बैठकर इन्तजार करना पड़ता है, उनकी आज्ञा से, उनका सेवक उसे बुला कर कमरे में ले जाता है और काम की बात संक्षिप्त रूप से समाप्त कर वह उम्मीद करते है कि अब आगन्तुक महोदय तशरीफ ले जायें। यदि नौकर मुस्कराता हुआ, उसे उनके कमरे में ले जाये तो समझना चाहिये देवता सीधे हैं। उनका व्यवहार भी उनके मूड पर ही निर्भर रहता है। दबे हुये क्रोध के कारण उनकी रूक्षता, उदासीनता, संतुलित और सीमित वार्तालाप से आने वाले को लगता है कहां आ कर फंस गये ? और यदि वे प्रसन्न और प्रकृत हुये तो मालूम पड़ता है उनकी हंसी से कमरे की दीवारें गिर पड़ेंगी।

दिनकर की रचनात्मक शक्ति विरोध और संघर्ष से उद्दीप्त होती है। उनके परिवार के एक प्रमुख सदस्य ने मुझे बताया कि जब वह पत्नी, पुत्र अथवा परिवार के किसी अन्य व्यक्ति या किसी मित्र पर नाराज होते हैं, तब दरवाजा बन्द कर खूब देर तक लिखते हैं। उनकी अनेक कवितायें नाराज़गी के फलस्वरूप लिखी गई है। कभी-कभी वे मित्रों के आरोपों के उत्तर में भी लिखी गई हैं। दिनकर जी ने बताया कि वे अधिकांश रचनायें एक ही बार में पूरी कर लेते हैं। 'नई दिल्ली' कविता एक रात में पूरी की। उनकी प्रसिद्ध कविता 'हिमालय' की रचना की कहानी भी बड़ी मनोरंजक है। हिमालय का विषय उन्हें अपने आप नहीं सूझा था। सन् १९३३ ई० में वे भागलपुर गए हुए थे। उन्हीं दिनों श्री काशीप्रसाद जायसवाल के सभापतित्व में साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हो रहा था। उसी के अन्तर्गत आयोजित कवि-सम्मेलन में कविता प्रतियोगिता का विषय दिया गया था 'हिमालय'। दिनकर जी अपने एक मित्र के यहां ठहरे थे। घर छोटा था। एक चार हाथ चौड़े बरामदे में उनकी छोटी

खाट, आधी कमरे के भीतर और आधी बाहर पड़ी हुई थी। उसी टूटी चारपाई पर बैठ कर लालटेन पास रख के इतनी लम्बी कविता पूरी की। दूसरे दिन सम्मेलन में उसे पढ़ा और जनता ने बार-बार अनुरोध करके उसे सात बार सुना। इसी प्रकार उन्होंने बताया कि यतीन्द्र मोहन दास के उपवास के दिन वह रात भर रोते रहे और पंक्तियां जोड़ते रहे। बिहार में इसी कविता से उनका नाम प्रसिद्ध हुआ।

अपनी दिनचर्या की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि "जिन्दगी भर उमंग रही कि सुबह उठूं पर कभी नहीं उठ सका। ६ बजे के पहले कभी नहीं उठ सकता।" दिनकर का जीवन साधना और परिश्रम का जीवन रहा है। दिन में जीविकोपार्जन के लिए कड़ा परिश्रम करना पड़ता—रात को अध्ययन और लेखन कार्य करते, इसीलिए प्रातःकाल जल्दी उठने में कठिनाई होती। अब लगभग २० वर्षों से रोग पीछे लग गया है इसलिए सुबह उठने के बाद भी तैयार होने में देर लगती है। परिस्थितियों के वश में होने के कारण उनका जीवन नियमित कभी नहीं हो सका। सरकारी नौकरी करते समय कविता और काम साथ-साथ चल जाते थे। पटना में भी साहित्य-रचना के लिए अवकाश मिल जाता है। कारण, "अहंकारी मित्र मेरे घर नहीं आते परन्तु दिल्ली में प्रातःकाल से ही मिलने वालों और टेलीफोन का सिलसिला शुरू हो जाता है। श्रेष्ठ कविता लिखने के लिए जो वातावरण चाहिए वह दिल्ली में नहीं मिल सकता, उन दिनों तो मैं चिट्ठी-पत्री से भी बचता हूं, यहां तो कविता लिखने के लिए मूड बनाना पड़ता है गद्य का काम ठीक-ठीक चल जाता है।"

दिनकर जी बता रहे थे कि "मैं शुरू से ही खाऊ रहा हूं, जो चीजें मुझे अच्छी लगती हैं मैं उन्हें भरपेट खाना चाहता हूं। परन्तु भोजन मैंने हमेशा नियमित रखा है।" इसी समय मेरे मन में एक प्रश्न आया। दस-बारह साल पहले दिनकर जी आकाशवाणी, दिल्ली द्वारा आयोजित कवि सम्मेलन में अपनी कविता सुना रहे थे 'तान तान फण व्याल कि तुझ पर मैं बांसुरी बजाऊं।' उनका मुंह तमतमा रहा था, आंखों में एक सरूर था और माइक्रोफ़ोन की उपस्थिति की परवाह न कर वे अपनी आदत के अनुसार ज़ोर-ज़ोर से बोल रहे थे—मेरी एक मित्र जो हर साहित्यकार के व्यक्तिगत जीवन को निकट से जानने का दावा करती हैं बोलीं 'इन्होंने शराब पी रखी है।' मैंने शराब के नशे में चूर व्यक्ति अपनी याद में कोई नहीं देखा था, उनकी बात सुन कर मैं चुप हो गई। दिनकर जी ने जब अपने खान-पान की चर्चा चलाई मैं हिचकते हुए अपने मन का प्रश्न ज़बान पर ले आई। उनका स्पष्ट उत्तर था "मैं मदिरा नहीं

पीता। कभी भी नहीं पिया। एक-आध बार 'टोस्ट प्रपोज़' करने के लिए मुह से ज़रूर लगा ली है इसलिए कसम नही खा सकता नहीं तो शराब तो मैं छूता भी नही, छठे छमासे भी नही। इस तरह की कुछ अफवाहें मेरे कानों मे भी पड़ी थी लेकिन मैं आपको विश्वास दिलाता हूं कि मदिरा पीने की तो बात क्या मै छूता भी नही हूं। शराब तो मैं उस गोष्ठी में भी नहीं पीता जहां मित्र पीने-पिलाने में बहुत आग्रह और उत्साह दिखाते है।१९५५ तक मांस-मछली भी नही खाता था। परन्तु डाक्टरों ने उसे मेरे स्वास्थ्य के लिए अनिवार्य बतलाया, इसलिए आत्मरक्षा के लिए आवश्यक समझ कर खाना शुरू करना ही पड़ा। तम्बाकू खाता हूं और शायद खाता रहूंगा। सिगरेट छोड़ दिया है बिल्कुल।" तम्बाकू की एक बड़ी मनोरंजक घटना है। सन् १९४५ में उदयपुर में अखिल भारतीय साहित्य सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन हुआ था। दिनकर जी को उसके कवि सम्मेलन का सभापतित्व करना था। वे अध्यक्षीय भाषण तैयार करके नहीं ले गए थे। प्रबन्धकों ने भाषण का होना आवश्यक बताया। दिनकर ५ बजे सन्ध्या से भाषण लिखने बैठे और पन्नों पर पन्ने फाड़-फाड़ कर फेंकते गए, पता चला बिना तम्बाकू के 'मूड' नही आ रहा है। पहले सिगरेट का कागज़ फाड़ कर तम्बाकू निकाली गई किन्तु उससे काम नही चला। ८ बजे रात में सम्मेलन शिविर से प्रायः ३-४ मील दूर से तम्बाकू के पत्ते लाए गए तब उनका भाषण पूरा हुआ।

दिनकर के व्यक्तित्व के समान ही उनका रहन-सहन और वेशभूषा भी विशिष्ट है। उनके कमरे की सुरुचिपूर्ण व्यवस्था में कागज़ों की अव्यवस्था हर आने वाले का ध्यान आकर्षित करती है जिसमें ज़रूरी कागज़ खो जाते है और गैर ज़रूरी सामने रह जाते हैं। दिल्ली में उनके पास एक कमरा रहता है। वही उनका अध्ययन कक्ष, मिलने-जुलने का कमरा और शयन-कक्ष है। वही वे अपने सारे काम निबटाते है। दीवान पर मसनद के सिरहाने दस या पन्द्रह की संख्या में भिन्न-भिन्न प्रकार के कलम रखे रहते हैं, पता नहीं उनसे लिखने का चुनाव कैसे किया जाता है। लिखते भी वे उस क्लिप लगी लकड़ी की तखती पर है जिसे बच्चे इम्तहानी गत्ता कहते है। वेशभूषा में श्वेत उनका प्रिय रंग है। खद्दर का सफ़ेद बुर्राक कुरता, धोती, जरी के किनारे का दुपट्टा उनकी प्रिय पोशाक है। छड़ी भी प्रायः साथ ही रहती है। विदेशी वेशभूषा शायद वे कभी पहनते हों। रूस जाते समय एक ओवर कोट बनवाया था लेकिन भारत लौटने पर उसे धूप के दर्शन नहीं होते। जरूरत पड़ने पर भी उसका उपयोग नही किया जाता। वस्त्रों के चुनाव में सर्वत्र एक सुरुचि का आभास होता है। सर्दी

के दिनों में विशेष कर जब उनमें कुछ विभिन्नता होती है अचकन के रंग का ही मफलर उनके गले में रहता है।

काफी पीते हुए बातों के बीच मे दिनकर जी हँसते हुए बोले "मेरी जवानी के तीन आनन्द थे, रवीन्द्र की कविता, काननबाला का अभिनय और जलेबी।" कहकहे से कमरा गूज उठा।

मैंने विनोद में कहा, "अच्छा तो काननबाला की परिणति उर्वशी है।"

"और जलेबी की परिणति यह सैक्रीन पड़ी काफी।" हँसी से कमरा फिर भर गया लेकिन उसकी प्रतिध्वनि एक प्रच्छन्न अवसाद का प्रभाव मन पर छोड़ गई।

द्वितीय अध्याय

दिनकर के राष्ट्रीय काव्य की पृष्ठभूमि

दिनकर की काव्य-चेतना हिन्दी-काव्य की विविध प्रवृत्तियों की लहरों के साथ न उठी और न गिरी। उसका एक मूल उत्स रहा है। हिन्दी के विविध वादों से अलग उसकी एक स्वतन्त्र सत्ता है। यहां तक कि उनकी राष्ट्रीय कवितायें भी उनके पूर्ववर्ती और परवर्ती कवियों की रचनाओं से भिन्न हैं। उनके पहले के राष्ट्रीय काव्य की मूल दृष्टि गांधीवादी थी। गांधी-दर्शन की रागात्मक अभिव्यक्ति के फलस्वरूप उसमें अहिंसा, बलिदान, और समर्पण का भाव प्रमुख था। 'भारतीय आत्मा', मैथिलीशरण गुप्त, सुभद्राकुमारी चौहान की रचनाओं मे गांधी की अहिंसात्मक लड़ाई का व्यावहारिक व्याख्यान था। दिनकर की कविता इस पीढ़ी की राष्ट्रीय कविता से अलग है क्योंकि आरम्भ से ही उसमे गांधी-युग के उन युवकों की विद्रोही और उग्र मनोवृत्तियों की अभिव्यक्ति हुई है जो दक्षिणपंथी कांग्रेसियों के विरुद्ध थे और जिनका प्रतिनिधित्व कांग्रेस में और उसके बाहर जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचन्द्र बोस तथा जयप्रकाश नारायण जैसे युवक कर रहे थे। उनकी राष्ट्रीय कविता अपने समसामयिक अन्य कवियों की रचनाओं के साथ भी नहीं रखी जा सकती क्योंकि नरेन्द्र शर्मा, भगवती-चरण वर्मा, 'अंचल' आदि की रचनाओं में मार्क्सवादी भौतिक दर्शन को जो प्रधानता मिलती है वह दिनकर की रचनाओं में प्रच्छन्न रूप से भी नहीं मिलती। 'कुरुक्षेत्र' भी अपनी परम्परा का एक ही काव्य है। युद्ध की समस्याओं पर विचार करते-करते दिनकर ने जो पंक्तियां जोड़ी, उससे हिन्दी में प्रथम युद्ध-काव्य की रचना हुई। 'रश्मिरथी' ही एकमात्र ऐसी काव्य-कृति है जिसे 'मैथिली-शरण गुप्त की काव्य-परम्परा' के अन्तर्गत रखा जा सकता है। यह तो हुई समष्टि-चेतना के काव्यों की बात। 'रसवन्ती' और 'उर्वशी' को भी काव्य-रूप की दृष्टि से चाहे किसी परम्परा में रख दिया जाय लेकिन 'रसवन्ती' को छायावादी

और परवर्ती वैयक्तिक कविता के बीच की कड़ी के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है। उसे दोनों में से किसी एक के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। 'उर्वशी' नई कविता के युग में लिखी गई पुरानी कविता होकर भी नई है। 'नील कुसुम' में अवश्य दिनकर ने नए कवियों का 'पिछलगुआ' बनने का प्रयत्न किया है। लेकिन, पिछलगुआ बन कर रहना उनके वश के बाहर की बात है, और नई कविता के संस्कार अर्जित करने के लिए उनके परम्परावादी संस्कार तथा उनकी भारतीयता बाधक होगी; यद्यपि आजकल इस क्षेत्र में वे नित नया योगदान कर रहे है।

दिनकर की काव्य-चेतना के दो प्रमुख रूप है :

(१) व्यक्तिपरक

(२) समष्टिपरक

ये दोनों रूप एक दूसरे की प्रतिक्रिया में आगे नहीं आये बल्कि दिनकर के व्यक्तित्व के ये दोनों अंश साथ-साथ व्यक्त हुए हैं। हुंकार और सामधेनी की आग, 'द्वन्द्वगीत' का धुंआ और रसवन्ती का रस एक साथ एक व्यक्तित्व में किस प्रकार पोषित और विकसित हुआ यह आश्चर्य का विषय है। लेकिन दिनकर की भावनाओं के इन सभी रूपों का सह-अस्तित्व सत्य है। 'रेणुका' से लेकर अब तक समष्टि और व्यक्तित्व उनकी कविता में प्राय: साथ-साथ ही चलते रहते है, इसलिए उनकी काव्य-चेतना का विश्लेषण इन्ही दोनों विभाजनो के अन्तर्गत करना उपयुक्त होगा।

इस अध्याय में दिनकर के समष्टि-चेतना के काव्य की प्रेरक परिस्थितियो और पृष्ठभूमि का विश्लेषण किया जा रहा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस चेतना के मूल में राष्ट्रीयता है। इस राष्ट्रीय चेतना के विकास के मुख्य तीन सोपान है (१) 'बारदोली विजय' से लेकर हुंकार तक की राष्ट्रीय-चेतना, जिसमें विद्रोह और क्रान्ति का स्वर प्रधान है (२) सामधेनी में व्यक्त राष्ट्रीय-चेतना, जिसमें गांधी-नीति, साम्राज्यवादी शोषण, तथा अन्य महत्वपूर्ण राजनीतिक घटनाओं की अनुकूल और प्रतिकूल प्रतिक्रियाओं का चित्रण हुआ है। (३) स्वतन्त्रता के पश्चात् की राष्ट्रीय-चेतना जो अन्तर्राष्ट्रीयता, पंचशील और मानवतावाद की ओर अग्रसर होते-होते चीनी आक्रमण के द्वारा फिर राष्ट्रीयता की ओर मुड़ गई है। इसलिए इन तीनों सोपानों की पृष्ठभूमि का विवेचन अलग-अलग किया जा रहा है।

दिनकर जी की माता जी

अपनी बड़ी पोती कल्याणी को प्यार करते हुए
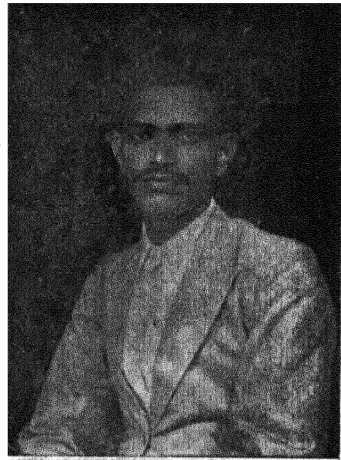
१९३२ ई० में दिनकर जी
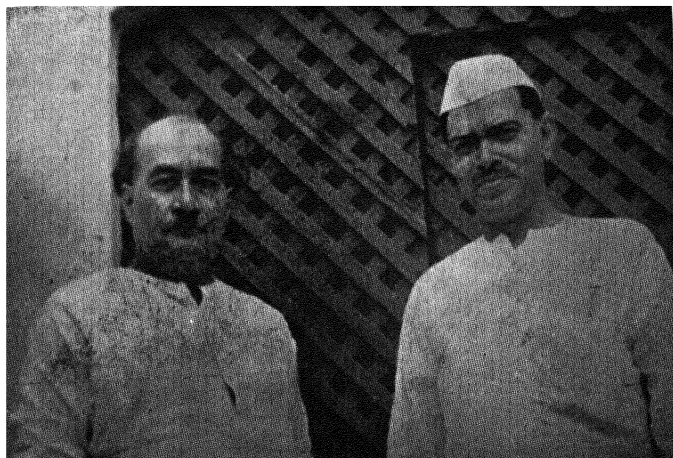
उर्दू के कवि श्री जोश मलीहाबादी के साथ दिनकर जी

नेपाल यात्रा के समय : डा० शिवमंगल सिंह सुमन और श्री गिरिजाकुमार क
बीच दिनकर जी (१९५६ ई०)
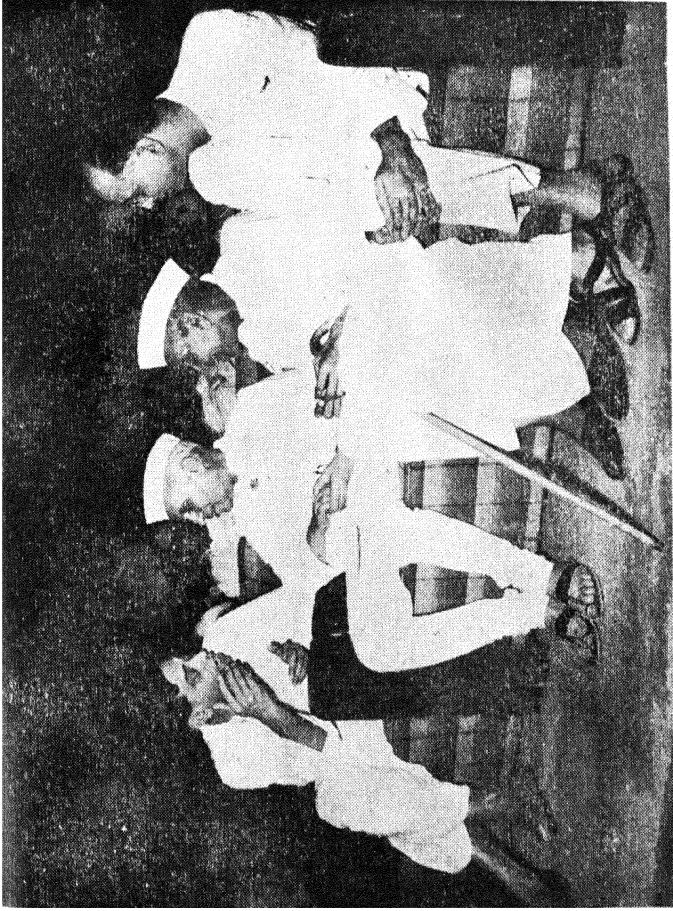
बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन के रजत-जयन्ती समारोह के सभापति के रूप में ।

बाईं से दाईं ओर :— राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्रप्रसाद, अर्थमन्त्री डा. अनुग्रहनारायण सिंह, श्री दिनकर जी, राज्यपाल श्री आर. आर. दिवाकर, मुख्यमन्त्री डा. श्रीकृष्णसिंह और सम्मेलन के महामन्त्री श्री ब्रजशंकर वर्मा
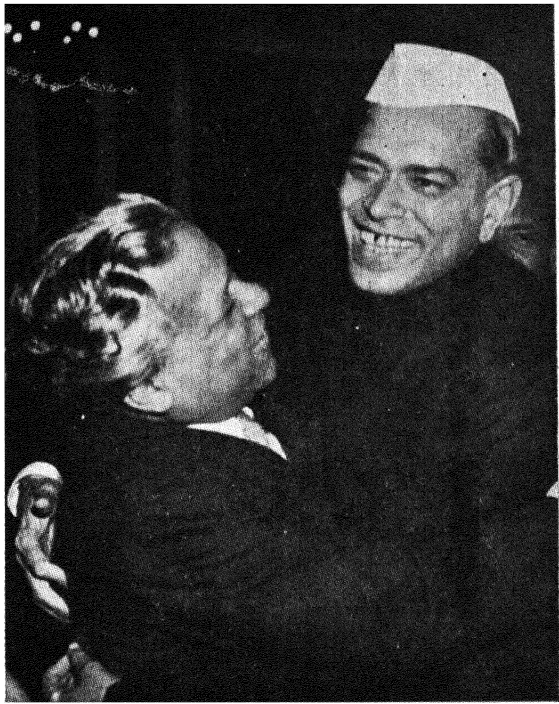
वारसा (पोलैण्ड) के अन्तर्राष्ट्रीय कवि-सम्मेलन में काव्य-पाठ के बाद क्यूबा के विख्यात कवि श्री निकोलस गिलोन दिनकर जी से लिपट कर उन्हें बधाई देने लगे
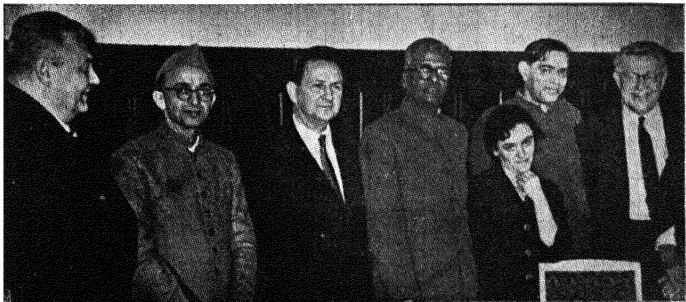
मास्को के लेखक-संघ में रूस के महाकवि श्री सुरकोव के साथ दिनकर जी। बाईं ओर रूस के लेखक और भारतीय शिष्टमंडल के अन्य सदस्य खड़े हैं (१९६१ ई०)

पोलैण्ड के राष्ट्रपति और रूसी राजदूत के साथ

पीकिंग (चीन) में चीनी भाषा के प्रसिद्ध उपन्यासकार श्री लाओसे के साथ
दिनकर जी (१९५७ ई०)

वारसा (पोलैण्ड) के अन्तर्राष्ट्रीय कवि-सम्मेलन में काव्य-पाठ

वारसा (पोलंण्ड) के अन्तर्राष्ट्रीय कवि-सम्मेलन में काव्य-पाठ के बाद कवयित्रियों और प्रशंसकों के बीच

यूरोप यात्रा से लौटने के बाद पटना रेलवे स्टेशन पर स्वागत। दिनकर जी के ठीक दाएं श्री ब्रजकिशोर नारायण ग्रौर पंडित शिवचंद्र शर्मा खड़े हैं
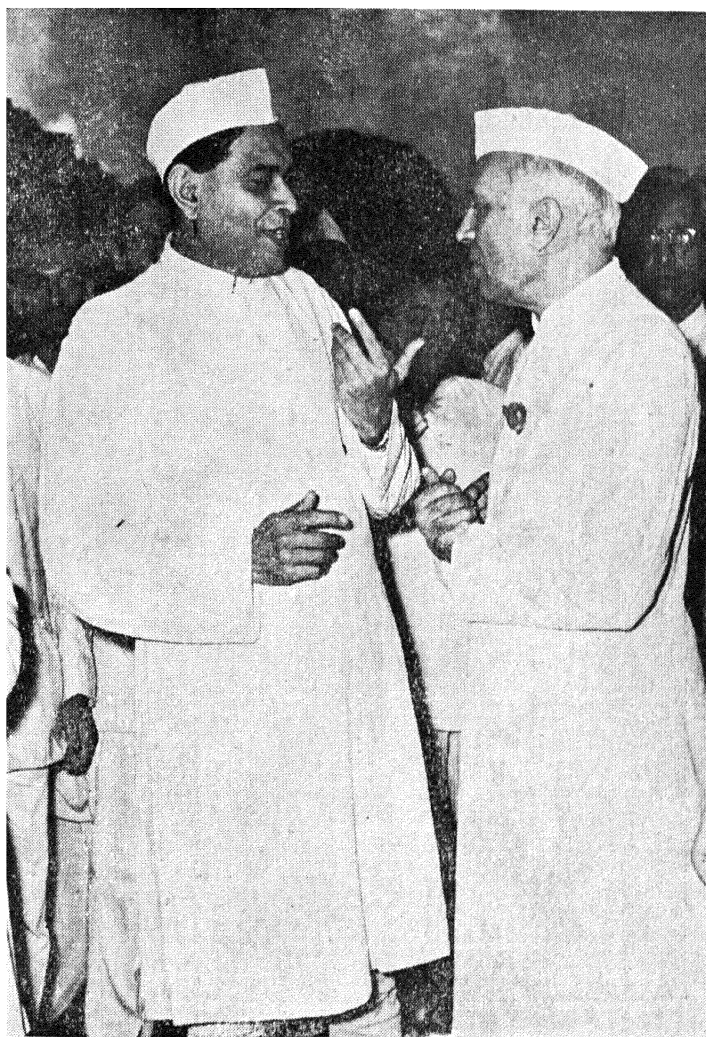
प्रधानमन्त्री के साथ वार्तालाप
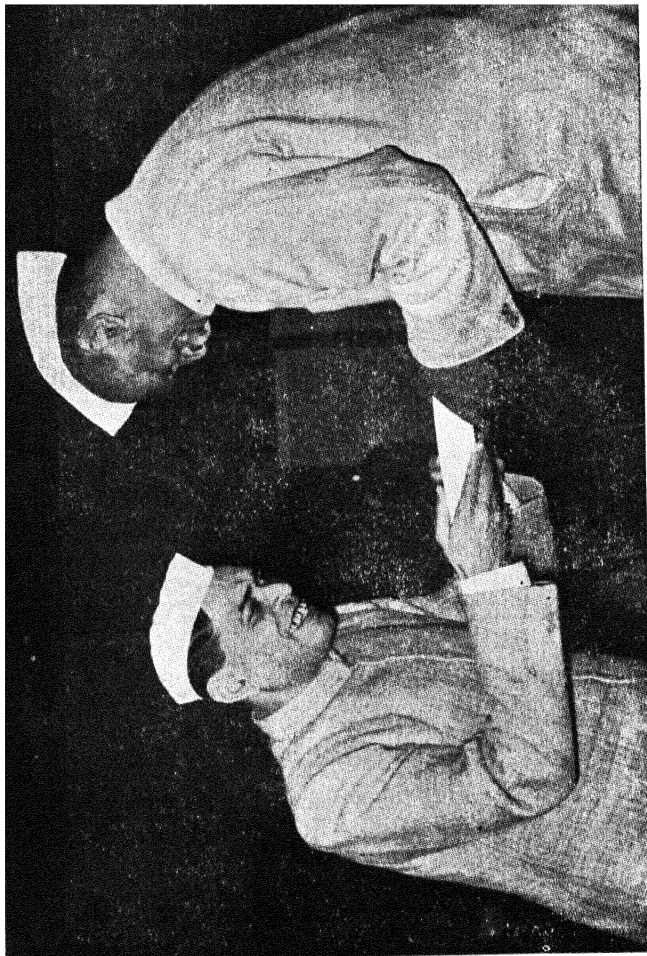
राष्ट्रपति को 'संस्कृत के चार अध्याय' अर्पित करते हुए
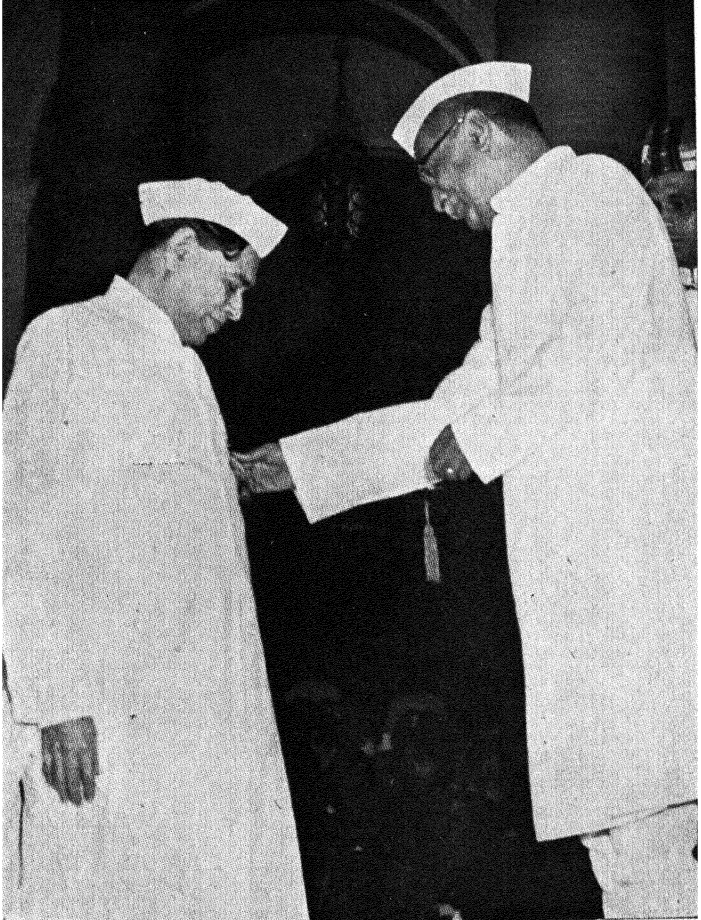
राष्ट्रपति से पद्मभूषण का अलंकरण प्राप्त करते हुए

राजनीतिक परिस्थितियाँ

रेणुका और हुंकार के राष्ट्रीयगीतों की प्रेरक शक्तियां (१९२२-३८ ई०)

"मेरी कविता के भीतर जो अनुभूतियां उतरीं वे विशाल भारतीय जनता की अनुभूतियां थीं, वे उस काल की अनुभूतियां थी जिसके अंक में बैठकर मैं रचना कर रहा था। कवि होने की सामर्थ्य मुझमें शायद नही थी। यह क्षमता मुझमें भारतवर्ष का ध्यान करने से जागृत हुई। यह शक्ति मुझमें भारतीय जनता की आकुलता को आत्मसात् करने से स्फुरित हुई।"[1] दिनकर के उपर्युक्त कथन के प्रकाश में उनके युग की परिस्थितियों का विश्लेषण उपयुक्त होगा।

दिनकर जी की राष्ट्रीयता गांधी-युग की विद्रोही राष्ट्रीयता है। सामान्यत: भारतीय राष्ट्रीयता की परिभाषा कांग्रेस की राष्ट्रीय नीति के घेरे में आबद्ध करके की जाती है परन्तु वास्तव में उसका विस्तार कांग्रेस-नीति के घेरे से बाहर, कही अधिक है। दिनकर ने जब हिन्दी-काव्य-जगत् में पदार्पण किया, भारतीय राजनीति में एक हलचल मची हुई थी और सम्पूर्ण देश में क्रान्ति की आग सुलग रही थी। कांग्रेस के परम्परावादी, तथा दक्षिणपंथी राजनीतिज्ञों की नीति के विरुद्ध, जवाहरलाल और सुभाषचन्द्र जैसे सेनानी, अपनी आवाज उठाने लगे थे। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् ब्रिटिश सरकार के दमनचक्र के आतंक के अवसाद पर पैर रख कर जनता फिर नये युद्ध के लिए सन्नद्ध हो गई थी। देश के युवक विशेष रूप से जागरूक हो गए थे। सारे देश में युवक-समाजों की नीव पड़ी, जिनमें स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए क्रान्तिकारी, हिंसात्मक मान्यताओं और पद्धतियों के विवेचन-विश्लेषण के साथ ही देश के सामाजिक और आर्थिक प्रश्नों और समस्याओं पर भी विचार-विमर्श होता था। इन्ही के द्वारा जनता को सुभाष और जवाहर जैसे सेनानी मिले, जिनके एक संकेत पर शिक्षित युवक-समाज ब्रिटिश सरकार की नीव हिलाने के लिए तूफ़ान खड़ा कर देते थे। ये दोनों ही युवक कांग्रेस के अधिवेशनों में क्रान्तिकारी और अतिवादी प्रस्ताव प्रस्तुत करने के कारण दिनोंदिन लोकप्रिय हो रहे थे। उन्हीं दिनों श्री जवाहर-लाल नेहरू सोवियत संघ के दसवें वार्षिकोत्सव में सम्मिलित हुए और वहां से सामाजिक न्याय और आर्थिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों में दीक्षित होकर लौटे। रूसी-व्यवस्था का उनके मस्तिष्क पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। इसी समय से उनका दृढ़ विचार बन गया कि भारतीय राष्ट्रीयता को संसार की अन्य प्रगति-वादी सत्ताओं के साथ-साथ ही विकसित किया जा सकता है। गांधी-युग में इन

१. चक्रवाल—भूमिका, पृष्ठ ग—दिनकर

समाजवादी मान्यताओं की ओर आकर्षित होना शिक्षित नवयुवकों के लिए बहुत स्वाभाविक था।

दूसरी ओर सुभाषचन्द्र बोस जनता का आह्वान देश के लिए आग मे कूद पड़ने को कर रहे थे। उनके विचार-दर्शन में शंका और संशय के लिए कही अवकाश नही था। उनके अनुसार देश की सब बुराइयों का कारण थी राजनीतिक पराधीनता। इससे अविलम्ब मुक्ति ही भारत की समस्याओं का एकमात्र उपचार हो सकती थी। सन् १९२७ मे उन्होंने एक नवयुवक समाज का संगठन किया, जिसमें अविलम्ब, पूर्ण स्वतन्त्रता को अपना लक्ष्य घोषित किया, मजदूरों और किसानों के मताधिकार की मांग की और राष्ट्रीय आन्दोलन में उनके सक्रिय योग पर बल दिया। बंगाल और बिहार के युवक उनके इस आह्वान पर अपना सर्वस्व होम देने को तैयार हो गए। इन दोनों युवक नेताओं के विषय में प्रो० कोटमन के विचारो को उद्धृत करना इस प्रसंग में अनुपयुक्त न होगा।[1]

उधर श्री योगेश चैटर्जी के नेतृत्व मे हिन्दुस्तान रिपब्लिकन ऐसोशियेशन के क्रान्तिकारी सदस्य, बंगाल, बिहार और उत्तरप्रदेश में विध्वंस, विद्रोह और अंग्रेजी अफसरों की हत्याओं का संगठन करने में व्यस्त थे। उनका लक्ष्य था भारतवर्ष में संघात्मक गणतन्त्र की स्थापना करना। ९ अगस्त, १९२५ को काकोरी की दुर्घटना हुई। मुरादाबाद-लखनऊ लाइन पर स्थित काकोरी स्टेशन के निकट, इस संस्था के सदस्यों ने सरकारी खजाना लूट लिया। इस संगठन के मुख्य सूत्रधार थे श्री शचीन्द्रनाथ सान्याल जिन्हें पहले भी बनारस षड़यन्त्र केस में लम्बी सजा मिल चुकी थी। काकोरी केस के अपराधियों को बहुत कड़ी सजायें दी गई लेकिन उस दण्ड से भारत की विद्रोहाग्नि और भी प्रज्ज्वलित हो उठी।

मजदूर-किसान आन्दोलन

दूसरी ओर साम्यवादी पार्टी के प्रयासों के फलस्वरूप ट्रेड-यूनियन आन्दोलन जोर पकड़ रहा था। जनवरी सन् १९२७ में किसान-मजदूर दल की स्था-

---

१. It is interesting to know what impression they made on the ruling class. Prof. Coatman, An Ex-Police Officer wrote about Jawaharlal "as a fisher wherever the waters are troubled" and he had one secret ambition, which is to rival Lenin or Stalin in the history of communism. "It seems that history will write him (Nehru) down as a pinchbeck Lenin, and he has a younger and dangerous rival for the plaudits of the mob in a would-be Mussolini in Bengal Mr. Subhas Chandra Bose holds the Bengali extremists on his side.

Coatman, J—Years of Destiny, P. 95-96.

पना हुई, जिसकी शाखायें बम्बई, कलकत्ता तथा अन्य व्यापारीय केन्द्रो में खुली। श्री० एम० एन० राय ने कांग्रेस के राजनीतिज्ञों को 'बुर्जुवा' करार दिया, और उन पर विदेशी राजसत्ता के साथ मिल कर मज़दूर वर्ग का 'दुरुपयोग' करने का आरोप लगाया। उन्होंने गांधी और मोतीलाल नेहरू की नीति का खण्डन किया और 'इन्कलाब जिन्दाबाद' का नारा अपनाया। इस प्रकार किसानों और मजदूरों के जीवन में जागृति की एक नई लहर आ गई। सन् १६२७ मे बंगाल-नागपुर रेलवे के कार्यकर्ताओं की लम्बी हड़ताल चली। अनेक स्थानों पर रेल गिराने के प्रयास किये गये। केवल बम्बई की कपड़ा मिलों में ही लगभग ६० हड़तालें हुई। गुजरात में 'बारदोली' के सत्याग्रह ने सम्पूर्ण देश के कृषकों में चेतना की लहर उत्पन्न कर दी। बारदोली के किसानों ने सरदार वल्लभ भाई पटेल के लौह नेतृत्व में, भूमिकर से छूट प्राप्त करने के लिए सरकार के विरुद्ध सत्याग्रह किया। इस नि:शस्त्र युद्ध की असाधारण विजय के विषय मे श्री राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है।[1] मध्यवर्ग की शिक्षित जनता भी विरोध और क्रान्ति के ही पक्ष में थी, क्योंकि उसे काउंसिल चेम्बर की सदस्यता का लोभ नही था। उधर व्यापारी वर्ग भारतीय मुद्रा के स्थिरीकरण-बिल के कारण असन्तुष्ट था।

'साइमन कमीशन' का बहिष्कार

भारतीय नेताओं और जनता की एक विशेषता यह रही है, कि जब उसे बाह्य संकट का सामना करना पड़ता है, कुछ समय के लिए सारे मतभेद मिट जाते है लेकिन संकट समाप्त होने पर अस्थायी रूप से पाटी हुई खाइया दुगनी चौड़ी हो जाती हैं। साइमन कमीशन के बहिष्कार की घटना भी प्राय: इसी प्रकार की है। सन् १६१६ के ऐक्ट में एक आयोग (Statutory commission) की नियुक्ति की व्यवस्था थी जिसे दस साल के बाद अपनी रिपोर्ट देनी थी लेकिन बाल्डविन की प्रतिक्रियावादी सरकार ने उसकी नियुक्ति बिना कारण बताये एक साल के लिए स्थगित कर दी। इस सम्मेलन में किसी भारतीय को नहीं सम्मिलित किया गया। यद्यपि उस समय लार्ड अरुणकुमार सिन्हा ब्रिटिश पार्लियामेण्ट की लार्ड-सभा के और श्री सकलतवाला साधारण सभा के सदस्य

१. This struggle justified the observation made by some foreigners that by disarming his own people Mahatma Gandhi had disarmed the British.

Rajendra Prasad—At the feet of M. Gandhi, PP. 162-63.

थे। तत्कालीन सेक्रेटरी ऑफ स्टेट लार्ड बर्कनहेड एक विजेता के समान विजित देश भारत पर निरंकुश नीति को आरोपित कर रहे थे। १९२७ में उन्होंने ऑक्सफोर्ड के विद्यार्थियों को जो सन्देश दिया था उसे भारतीय जनता भूली नही थी।[1]

कमीशन में सुधारवादी और मज़दूर दल के प्रतिनिधित्व और सहयोग के कारण भारतीय राजनीतिज्ञों का विश्वास ब्रिटिश सुधारवादी और समाजवादी मान्यताओं से उठ गया था। कमीशन के सामने कोई निश्चित लक्ष्य भी नही था इसलिए भारत के बौद्धिक वर्ग के सभी क्षेत्रों से इसके विरुद्ध आवाज़ उठी। कांग्रेस मे जवाहरलाल नेहरू ने इसके बहिष्कार का प्रस्ताव रखा और सदस्यों का पहली बार साथियो (कामरेड) कह कर सम्बोधित किया। डा० अनसारी के सभापतित्व में इसके बहिष्कार और विरोध-प्रदर्शन का प्रस्ताव पास किया गया तथा पूर्ण स्वतन्त्रता को भारतीय आन्दोलन का ध्येय घोषित किया गया। भारत के राष्ट्रवादी मुसलमानों की ओर से मोहम्मद अली जिन्ना ने इसका विरोध किया। इस आयोग का सामना करने के लिए भारत के समस्त राजनीतिक और साम्प्रदायिक दल एक साथ मिल कर खड़े हो गए। उनके आपसी मतभेद कुछ समय के लिए बिल्कुल मिट गए। सर बेसिल ब्लैकट के दुष्टतापूर्ण व्यंग्य वचन इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं।[2]

३ फरवरी, सन् १९२८ को साइमन आयोग का स्वागत हड़तालों, काले झण्डों और 'लौट जाओ' के नारों से किया गया। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि "साइमन आयोग के सदस्य नई दिल्ली के 'वेस्टर्न होटल' मे ठहरे थे। रात के समय, आसपास के खण्डहरों में गीदड़ों की बोली सुनकर वे यह समझे कि रात को भी भारतीय जनता उनके पीछे लगी हुई है"। देश भर के नगरों में जनता और पुलिस में टक्कर हुई। अनेक स्थानों पर निहत्थी जनता पर लाठियां बरसाई गई। लाहौर में स्थिति चरम सीमा पर पहुंच गई जहां लाला लाजपतराय के नेतृत्व में सहस्रों की संख्या में जनता आयोग के विरुद्ध शान्त प्रदर्शन कर रही थी, लालाजी पर एक अंग्रेज

---

१. India is our Prize possession, we, in England, have to live on it ; the Indians may live in it...It is the test for you, the younger generation to hold India to the last drop of your blood.

२. "The spider (Congress) may be hungry, but, why should the fly (Mr. Jinnah) be in such a hurry."

Coatman, P. 194.

पुलिस अफसर ने प्रहार किया। हृदय-रोग से पीड़ित होने के कारण इस चोट को वे झेल न सके। लाहौर की जनता अपने प्यारे नेता के अपमान का बदला लेने को पागल हो उठी।

बंगाल और पंजाब में आतंकवादी दल फिर से सक्रिय हो गया। भगतसिंह और उनके साथियों ने असेम्बली में बम फेंक कर सारे देश में तहलका मचा दिया। लाला लाजपतराय की मृत्यु के लिए उत्तरदायी ठहराए जाने वाले सहायक पुलिस सुपरिण्टेन्डेण्ट मिस्टर सांडर्स की हत्या कर दी गई। भगतसिंह को अद्भुत लोकप्रियता मिली। राष्ट्र-सम्मान के संरक्षक के रूप में वे प्रत्येक भारतवासी के हृदय में देवता की तरह स्थापित हो गये। आतंकवादियों की इस लोकप्रियता से कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार दोनों के कान खड़े हो गये।

कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में फिर विरोध की सशक्त आवाज़ उठी। इस समय पं० मोतीलाल नेहरू कांग्रेस के प्रधान थे। उनके पुत्र जवाहरलाल नेहरू तथा सुभाषचन्द्र बोस के विरोध के कारण वातावरण में बड़ी सनसनी थी। ये दोनों युवक श्री एस० श्रीनिवास आयंगर के नेतृत्व में संचालित 'इण्डिपेण्डेन्स लीग के मन्त्री थे। उन्होंने सरकारी संस्थाओं से पूर्ण सम्बन्ध-विच्छेद, असहयोग और उनके बहिष्कार की नीति अपनाई तथा स्वतन्त्र धारा सभायें, और प्रशासन स्थापित करने की योजना बनाई (Sinn Fein Policy) यह भी एक प्रकार से असहयोग ही था लेकिन गांधीजी इसका नेतृत्व नहीं कर रहे थे। भारत का बौद्धिक और युवक वर्ग इस प्रकार के कार्यों का पक्षपाती था, परन्तु गांधी की नीति में रोड़ा अटकाने वाले इन दोनों युवकों की जीभ पर ताला लगा दिया गया। गांधी जी ने उन्हें लगभग प्रतारणा सी देते हुए कहा कि केवल लच्छेदार भाषा और कल्पना की उड़ानों से स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती। कांग्रेस के इस अधिवेशन में गांधी जी को भारत के भाग्य का विधाता, निर्णायक और निर्देशक घोषित कर दिया गया।

मई, सन् १६२६ में ब्रिटिश चुनाव में मजदूर दल विजयी हुआ। भारतीय नेता, मजदूर दल की नीति की सम्भावनाओं के प्रति बहुत आशावादी थे, जिसके विपरीत परिणाम के फलस्वरूप लाहौर कांग्रेस में ब्रिटेन के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करना अनिवार्य हो गया। सन् १६२६ में भारत की आन्तरिक स्थिति और भी विद्रोहपूर्ण हो गई थी। मध्यवर्ग के युवक हिंसा-नीति की ओर झुक रहे थे। मजदूरों की स्थिति अनुदिन बिगड़ती ही जा रही थी। मजदूरों के इकतीस प्रमुख नेताओं पर सम्राट के विरुद्ध ध्वंसात्मक कार्यवाही करने का आरोप लगाया गया। उन्हें, चार साल तक, बिना मुकदमा चलाये मेरठ-जेल में

सड़ाया गया। न उनकी जमानतें स्वीकार की गई और न जूरी द्वारा उनके मुकदमों का निर्णय कराया गया। यह सिद्ध करने के लिए कि वे रूस के साम्यवादी नेताओं से मिल कर भारत में साम्यवादी शासन-व्यवस्था लाने का प्रयास कर रहे थे, सरकार ने अठारह लाख रुपयों का अपव्यय किया। केवल नौ नेताओं को छोड़ कर सभी को दीर्घ सश्रम कारावास अथवा आजीवन कारावास का दण्ड मिला।[1]

मजदूर नेताओं के प्रति इस दमन नीति के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन के दक्षिणपंथियों की प्रतिक्रिया बड़ी कटु हुई, अपनी प्रतिक्रियावादी नीति के बावजूद मजदूरों में लगी हुई आग से वे भी उत्तेजित हो उठे। उधर ब्रिटेन की मज़दूर दल की सरकार की नीति से भी भारतीय नेताओं को बड़ी निराशा हुई। गांधी जी औपनिवेशिक स्वराज्य स्वीकार करने को भी तैयार हो गए, लेकिन ब्रिटेन, भारत का मोह छोड़ सकने में असमर्थ था।

लाहौर कांग्रेस का अधिवेशन बड़े कुंठित और उत्तेजनापूर्ण वातावरण में हुआ। जवाहरलाल के अध्यक्ष चुने जाने पर यह सिद्ध हो गया कि कांग्रेस के वयस्क सदस्य भी अंग्रेज सरकार के विरुद्ध प्रत्यक्ष कदम उठाने को तैयार हो चुके है। जवाहरलाल नेहरू ने अपने अध्यक्षीय भाषण में घोषणा की कि उनका विश्वास गणतन्त्र और समाजवाद में है। साम्राज्यवादी व्यवस्था पर उन्होंने कड़ी चोट की, परन्तु साथ ही गांधी की अहिंसात्मक नीति का ही प्रतिपादन किया। अब तक उनका विश्वास हो गया था कि अंग्रेजों की दमन नीति और शक्तिशाली सैन्य से लोहा लेने योग्य सैन्य-संगठन तथा विद्रोह पराधीन भारत में असम्भव था। उन्होंने कहा कि "भारत की स्वतन्त्रता का संघर्ष ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध एक खुला षड़यन्त्र है।" पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति इस अधिवेशन में भारत का लक्ष्य घोषित किया गया। तथा अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को 'सविनय अवज्ञा' आन्दोलन आरम्भ करने का अधिकार प्रदान किया

---

१. Neither the judges who tried them, nor the judges of the Allahabad High Court to whom the case went in appeal could establish a positive case against the accused. The sentences were considerably reduced and nine of them were given the benefit of doubt and acquitted. The real purpose of the Govt. appears to be to disorganise the communist movement.

India in 1932-33, PP. 50-51.

गया। श्रीनिवास आयंगर तथा सुभाष चन्द्र बोस ने कांग्रेस-प्रस्ताव का विरोध किया। उनके अनुसार यह प्रस्ताव बड़ा कमजोर था। उन्होंने ब्रिटिश सरकार के निरंकुश शासन से मुक्ति पाने के लिए प्रजातन्त्रीय कांग्रेस पार्टी की नींव डाली तथा श्री चितरंजनदास को अपना निर्देशक बनाया। मत-वैभिन्न्य और दृष्टि का पार्थक्य रहते हुए भी इन प्रगतिवादी नेताओं ने कांग्रेस के कार्यक्रम और नीति का समर्थन किया। परन्तु कांग्रेस के प्रस्ताव के विरुद्ध उनके मन का क्षोभ मिटने के स्थान पर बढता ही गया।

२६ जनवरी, सन् १६३० को घोषित किया गया कि कांग्रेस का लक्ष्य 'पूर्ण स्वराज्य' की प्राप्ति है। इसी अधिवेशन में निरंकुश ब्रिटिश सत्ता पर भारत के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और आध्यात्मिक जीवन के पतन और ध्वंस का आरोप लगाया गया और उसके पंजों से मुक्त होने की प्रतिज्ञा दुहराई गई। सम्पूर्ण देश में उत्तेजना और उत्साह की लहर फैल गई। १७२ सदस्यों ने व्यवस्थापिका सभाओं की सदस्यता से त्यागपत्र दिया। इस घोषणा के साथ ही सरकार का दमन-चक्र भी तेजी से चलने लगा। सुभाष-चन्द्र बोस तथा उनके साथियों को श्रमपूर्ण कारात्रास का दण्ड दिया गया।

साबरमती आश्रम से लगभग २०० मील पर स्थित दण्डी ग्राम में गांधी जी ने नमक सत्याग्रह करने का निश्चय किया। वल्लभ भाई पटेल जब गांधी जी की यात्रा से पूर्व ही वहां जा रहे थे, उन्हें बन्दी बना लिया गया जिससे गुजरात में विद्रोह की आग लग गई। लगभग ७५,००० किसानों ने साबरमती पर एकत्रित होकर भारत की आज़ादी के लिए मर मिटने की प्रतिज्ञा दुहराई। १२ मार्च, १६३० को गांधी जी ने अपनी यात्रा आरम्भ की। ६ अप्रैल को, जलियान वाला बाग के शहीदों के स्मृति-दिवस के अवसर पर उन्होंने नमक कानून तोड़ा। एक ब्रिटिश समाजवादी श्री एच० एन० ब्रेक्सफर्ड उन दिनो भारत मे ही थे। उन्होंने कहा, कि नमक कानून का भंग भारत में राजनीतिक क्रान्ति का प्रथम सोपान है। परन्तु ऐसे भी लोग थे जो पतीली में समुद्र का पानी उबाल कर ब्रिटिश सरकार को मिटाने की कल्पना का उपहास करते थे। दण्डी ग्राम की यात्रा के पहले महात्मा गांधी ने राष्ट्र को आज़ादी के लिए मर मिटने की प्रेरणा दी थी। भारतीय जनता ने उनका आदेश स्वीकार करके नमक-कानून तोड़ा, विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार के लिए सत्याग्रह किया, धरना दिया। १४ अप्रैल को जवाहरलाल नेहरू की गिरफ्तारी के बाद आन्दोलन ने और भी जोर पकड़ा। बम्बई नगर में गधों को विदेशी वस्त्रों से सजा कर सड़कों पर घुमाया गया। उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रदेश में खुदाई

खिदमतगारों ने बड़ा विशाल जुलूस निकाला, वहां के आन्दोलन ने इतना गम्भीर रूप धारण किया कि उनको वश में लाने के लिए भारी शस्त्रों का प्रयोग किया गया। अठारहवीं गढ़वाल राइफ़ल के सैनिकों ने पठान-विद्रोहियों पर हथियार चलाने से इन्कार कर दिया। कठिन प्रयास के बाद पेशावर की स्थिति को पुनः सम्हाला जा सका। गांधी जी की गिरफ़्तारी के बाद तो बहुत से नगरों में मार्शल-लॉ लगाने की नौबत आ गई। उत्तेजना को दबाने के लिए सैनिकों, हवाई जहाजों और सशस्त्र गाड़ियों का उपयोग किया गया। जून के महीने में लगभग ५०० टन विस्फोटक का प्रयोग सीमान्त प्रदेश में हुआ। लोहे से मढ़ी हुई लाठियां जनता पर निर्दयता से बरसाई गईं। सारी भूमि लाशों और घायलों से पट गई। निःशस्त्र सत्याग्रहियों के ध्वंस और संहार से जनता की आग ठण्डी होने के बदले और भी भड़क उठी। छात्र, मज़दूर, किसान, वकील, व्यापारी, सरकारी नौकर, सब, विदेशी वस्त्रों, और शराब की दूकानों पर सत्याग्रह करने के लिए निकल पड़े। व्यापारी वर्ग ने इस आन्दोलन को चलाने के लिए दिल खोल कर आर्थिक सहायता दी, जिससे स्वयंसेवकों और स्वयंसेविकाओं का व्यय उठाने की उचित व्यवस्था हो सकी। जनता के इतने अधिक सहयोग की कल्पना सरकार को बिल्कुल नहीं थी। उसे यह विश्वास नहीं था कि यह अहिंसात्मक विद्रोह इतना व्यापक रूप ग्रहण कर लेगा। इस आन्दोलन के अनेक शुभ परिणाम हुए। सूती वस्त्रों का आयात बहुत कम हो गया। सोलह ब्रिटिश कारखाने बन्द हो गए। भारतीय मिलों में दुगना कार्य होने लगा। लंकाशायर का व्यापार बिल्कुल मन्द पड़ गया। ब्रिटिश सरकार का दमनचक्र और भी बढ़ गया और भारतीय जनता के साथ पाशविक बर्ताव किए जाने लगे। इसी बीच कांग्रेस को अवैधानिक घोषित कर दिया गया। मोतीलाल नेहरू गिरफ़्तार कर लिए गए और १८ मुद्रण कार्यालय बन्द कर दिए गए। सम्पूर्ण देश में आसुरी अत्याचार का बोलबाला हो गया। यहां तक कि स्त्रियों और बालकों को भी सरकार के क्रोध की भट्ठी में भुनना पड़ा। पाठशालाओं के अन्दर घुसकर पुलिस ने अध्यापकों और छात्रों पर हृदयद्रावक अत्याचार किए। गुजरात के किसानों को अपनी दृढ़ता और देशभक्ति का विशेष रूप से बहुत बड़ा मोल चुकाना पड़ा। दीर्घकालीन कारावास और सम्पत्ति की जब्ती आए दिन की घटना बन गई। पुलिस का आतंक और जुल्म चरम सीमा पर पहुंच गया। लेकिन भारत की जनता का निश्चय दृढ़ बना रहा। बंगाल, बिहार और उड़ीसा में विदेशी वस्त्र का आयात ९५% कम हो गया। पंजाब, उत्तर-

प्रदेश और गुजरात में लगान आन्दोलन आश्चर्यजनक सफलता के साथ चला। मध्य प्रान्त में वन-सत्याग्रह भी आशातीत रूप से सफल हुआ। सीमान्त प्रदेश में खुदाई खिदमतगार अनुशासित और अहिंसावादी सत्याग्रह आन्दोलन चलाते रहे। कांग्रेस की ओर से घायलों की देखभाल करने के लिए अस्थायी चिकित्सालय खुलवाए गए, 'युद्ध-भूमि' से उन्हें ले जाने के लिए मोटर गाड़ियों का प्रबन्ध किया गया। सन् १९३० के अन्तिम महीनों में आन्दोलन की गति धीमी पड़ गई और भारत के बौद्धिक वर्ग का ध्यान पहली गोल मेज़ सभा पर केन्द्रित हो गया।

कांग्रेस आन्दोलन के साथ ही अन्य राजनीतिक दल भी सक्रिय रूप से राष्ट्र की लड़ाई में भाग लेते रहे। अप्रैल सन् १९३० में श्री सूर्यकुमार सेन के नेतृत्व में चटगांव का शस्त्रागार लूट लिया गया। शस्त्र लूट कर क्रान्तिकारी पास की पहाड़ियों में छिप गए और लुकछिप कर हत्याओं और लूट का अपना कार्यक्रम सक्रिय रूप में चलाते रहे। काफी संख्या में क्रान्तिकारियों को शस्त्र समर्पित करना पड़ा लेकिन उसमें से बहुत से बच कर निकल गए जिन्होंने आगे चल कर क्रान्तिवादी नीति से सरकार को दहला दिया। गांधी जी की गिरफ़्तारी के बाद इन्हीं आतंकवादियों ने अपनी क्रान्ति के द्वारा शोलापुर पर पूर्ण अधिकार कर लिया था, जहां फिर से ब्रिटिश अधिकार जमाने के लिए सरकार को बाहर से सैन्यशक्ति बुलानी पड़ी थी। उधर बम्बई में ८० मिलों ने एक साथ हड़ताल कर दी। बी० बी० एण्ड सी० आई रेलवे तथा जी० आई० पी० रेलवे के मज़दूरों ने भी उनका साथ दिया। कच्चे माल में मूल्य-वृद्धि होने के कारण किसानों की स्थिति भी सुधरने के स्थान पर बिगड़ रही थी और असन्तोष-प्रदर्शन के उत्तर में उन्हें गोलियों और लाठियों के उपहार मिल रहे थे। मध्यवर्गीय नवयुवक अब भी हिंसात्मक आन्दोलनों की ओर ही आकृष्ट हो रहे थे। ऐसा कहा जाता है कि सन् १९३० के अन्तिम दिनों में तो हालत यह थी कि कोई सप्ताह बिना बम-प्रहार और हत्या के नहीं जाता था। इस सम्बन्ध में लार्ड जेटलैण्ड के कथन को प्रमाण रूप में ग्रहण किया जा सकता है।[१] जब पहली गोलमेज़ सभा

---

१. In 1930 there was an alarming recrudescence of the terrorist movement in various parts of India and notably in Bengal. On 4th Oct. two Bengali girls in their teens, armed with pistols, shot dead an English Magistrate. The Inspector General of Police was likewise murdered. An attempt was also made on the life of Mont Morency, The Governor of Panjab."

लन्दन में चल रही थी भारत में हर दिन अंग्रेज अफसरों की हत्या के प्रयत्न हो रहे थे। बंगाल इस प्रकार के आतंकवादी कार्यों का मुख्य केन्द्र था।

उच्च मध्यवर्ग और पूंजीपति वर्ग इस संघर्ष का अन्त चाहता था। श्री तेजबहादुर सप्रू और जी० आर० जयकर ने गांधी जी की समझौते की नीति पर चल कर गोलमेज़ सभा में भाग लेने का सुझाव दिया। वे मोतीलाल नेहरू, जवाहरलाल नेहरू और गांधी जी से जेल में मिले, परन्तु कांग्रेस और सरकार में समझौता न हो सका। कान्फ्रेन्स में सम्प्रदायवादी और प्रतिक्रियावादी, सरकारी पिट्ठू मनोनीत हुए, जो सरकार की बजाई हुई धुन पर कठपुतलियों की तरह नाचते रहे।

२५ जनवरी १६३० को गांधी जी बिना किसी शर्त के रिहा कर दिए गए। सुधारवादी नेताओं के प्रभाव और दबाव से महात्मा गांधी समझौते के लिए तैयार हो गए। जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस इस बार भी किसी समझौते के विरुद्ध थे।[१]

दोनों ओर से कुछ शर्तों की स्वीकृति के साथ, ५ मार्च सन् १६३१ को गांधी-अर्विन समझौता हुआ। देश के उग्र नेता तथा नवयुवक इस समझौते के विरुद्ध थे। उग्र नेताओं ने इस समझौते को भारतीय राष्ट्रीयता की पराजय और अंग्रेज सरकार की विजय माना। गांधी पर महान शक्तिशाली जन-आन्दोलन और स्वतन्त्रता की लड़ाई में आत्म-समर्पण का आरोप लगाया गया। जवाहरलाल नेहरू ने यहां भी गांधी जी का विरोध किया।[२]

कांग्रेस के करांची अधिवेशन के समय वातावरण और भी बोझिल हो गया। गांधी जी वाइसराय से भगतसिंह तथा उनके साथियों को क्षमा दिलाने में असमर्थ रहे। उनकी फांसी के कारण सारे देश में क्रोध और क्षोभ छाया हुआ था। २४ मार्च को अखिल भारतीय स्तर पर भगतसिंह शोक-दिवस मनाया गया और २६ मार्च को कांग्रेस का अधिवेशन आरम्भ हुआ। इन्हीं दिनों गणेशशंकर विद्यार्थी भी मारे गये। करांची में रक्त के प्रतीक लाल वस्त्र पहने

---

१. Jawahar Lal was positively against a Compromise but his influence counted for little against the pressure of Politicians and wealthy aristocrates who were dying for a settlement and surrounding the Mahatma."

Subhas Chandra Bose—The Indian Struggle, P. 280.

२ Except for Jawahar Lal Nehru, every member of the Working Committee welcomed the pact.

Rajendra Prasad—Autobiography. P. 331

हुए नवयुवक समाज के सदस्यों ने गांधी जी का स्वागत काले झंडों और मुर्दाबाद के नारों से किया। गांधी जी ने बड़े विवेक और धैर्य से कांग्रेस के प्रतिनिधियों और जनता की उत्तेजना को शान्त किया। जवाहरलाल नेहरू के मन की आग उस दिन भी व्यक्त हो गई जब उन्होंने कहा कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए हमें अभी न जाने कितने भगतसिंहों का बलिदान देना होगा।

लार्ड वेलिंगटन के वाइसराय होने पर ब्रिटिश सरकार की दमन-नीति ने बड़ा भयंकर रूप धारण कर लिया। लार्ड अर्विन की समझौते की नीति के स्थान पर राष्ट्रीय-आन्दोलन के दमन की नीति अपनाई गई। लार्ड कर्जन के बाद किसी वाइसराय ने इतनी कठोर नीति का अनुसरण नहीं किया था। गांधी-अर्विन समझौते की शर्तें भंग की जाने लगी। बंगाल, गुजरात और सीमान्त प्रदेश में दमन-चक्र बड़ी निर्दयता के साथ चलने लगा। सरकार की तलवार हर समय जनता के सिर पर लटकी रहती थी। जुलाई के अन्त में तो स्थिति और भी बिगड़ गई। एक विद्यार्थी ने बम्बई के कार्यवाहक गवर्नर सर अरनेस्ट हॉटसन पर गोली चला दी। यह घटना उस समय हुई जब श्री हॉटसन फर्गुसन कालेज में एक सम्मान्य अतिथि के रूप में गए हुए थे। वे भाग्य से ही बच गए। कुछ ही दिनों के बाद अलीपुर के डिस्ट्रिक्ट जज को गोली मार दी गई। गांधी जी ने उस समय अपना मन्तव्य प्रकट किया कि "भगतसिंह की उपासना और उनके मार्ग के अनुसरण से देश को अपरिमित हानि पहुंच रही है।"

सरकार कांग्रेस की मांगों को जिस प्रकार अनसुना कर रही थी उससे यही निष्कर्ष निकाला गया कि दूसरी गोलमेज़ सभा में कांग्रेस का भाग लेना राष्ट्र के हित में नहीं होगा। २५ तथा २८ अगस्त को महात्मा गांधी शिमला मे वाइसराय से मिले तथा सरकार ने केवल महात्मा गांधी को इंगलैण्ड भेजने का निर्णय किया तथा जनता के प्रति किए जाने वाले अत्याचार और अनाचार को बन्द करने का वचन दिया। २९ अगस्त, १९३१ को, गांधी जी ने इंगलैण्ड के लिए प्रस्थान किया।

उन दिनों ग्रेट ब्रिटेन में आर्थिक संकट की घोषणा की जा चुकी थी और शासन की बागडोर विभिन्न राजनीतिक दलों के प्रतिनिधियों द्वारा निर्मित राष्ट्रीय सरकार के हाथ में थी। दूसरी गोलमेज सभा का भी कोई अच्छा परिणाम नही निकला। गांधी जी भारत और इंगलैण्ड के बीच जिस सम्मान-पूर्ण समानाधिकार के आधार पर बात करने गए थे, उसे ब्रिटिश सरकार ने नहीं स्वीकार किया। ब्रिटेन के द्वारा प्रस्तावित सुधारों और परिवर्तनों को उन्होंने निस्सार और खोखला बता कर छोड़ दिया। ६ दिसम्बर को वे भारत

के लिए रवाना हो गए। उनके भारत पहुंचने के पहले ही देश-विदेश में एक खबर फैल गई कि गांधी जी अब फिर सत्याग्रह आरम्भ करेंगे। इटली और रोम होते हुए वे २८ दिसम्बर को भारत पहुंचे, और ४ जनवरी १९३२ को उन्हें पूना जेल में डाल दिया गया।

जितने दिन महात्मा गांधी इंग्लैण्ड में रहे, भारत में स्वतन्त्रता आन्दोलन और संघर्ष के दमन का हर सम्भव प्रयत्न किया गया। उत्तरप्रदेश में किसान-आन्दोलन और सीमान्त प्रदेश में खुदाई खिदमतगार पहले से भी अधिक ज़ोर पकड़ रहे थे। बंगाल के हिजली कैम्प में गोली चलाई गई जिसमें दो नज़रबन्द मारे गए और बीस घायल हुए। गांधी जी के भारत पहुंचने के पहले ही खान भाइयों तथा पं० जवाहरलाल नेहरू को बन्दी बना लिया गया। सत्याग्रह आन्दोलन फिर दुगनी शक्ति के साथ आरम्भ हो गया। वाइसराय ने गांधी जी से भेंट करने से इन्कार कर दिया और सरकार का दमन-चक्र भी दुगने वेग से चलने लगा।

साम्यवादी दल के नेतृत्व में किसानों और मजदूरों के आन्दोलन से सरकार बहुत भयभीत थी। आन्दोलन और विरोध जैसे राष्ट्र के एक-एक अंग में उबल रहा था। जिसका उत्तर सरकार गोलियों और मशीनगनों से दे रही थी। राष्ट्रीय पाठशालाओं, किसान सभाओं, नवयुवक समाजों, छात्र सभाओं, कांग्रेस के अस्पतालों इत्यादि पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया ; उनकी सम्पत्ति जब्त कर ली गई—साधारण जनता को त्रस्त और भयभीत करने के लिए पुलिस और फौज तैनात कर दी गई। राजनीतिक बन्दियों को बिना मुकदमे और फैसले के अण्डमन भेज दिया जाने लगा।

मैक्डानल्ड अवार्ड के द्वारा प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं की संख्या दुगनी निर्धारित कर दी गई, तथा केन्द्रीय और प्रान्तीय धारासभाओं में साम्प्रदायिक आधार पर प्रतिनिधियों की संख्या का निर्धारण किया गया। मुसलमानों को विशेषाधिकार दिये गए और अल्पसंख्यक जातियों के लिए पृथक् निर्वाचन की व्यवस्था हुई। इस व्यवस्था ने समस्त भारतवर्ष को विभिन्न साम्प्रदायिक टुकड़ों में बांट दिया ; जिससे भारत की बहुसंख्यक जनता में बहुत असन्तोष फैला। पंजाब और बंगाल में हिन्दुओं का प्रतिनिधित्व उनकी जनसंख्या के अनुपात के अनुसार नहीं था। बंगाल और असम में हिन्दुओं के मूल्य पर योरोपियनों को अधिक प्रतिनिधित्व मिला। अछूत जातियों को हिन्दुओं से अलग करने के सिद्धान्त से महात्मा गांधी के हृदय को गहरा धक्का लगा और २० सितम्बर को उन्होंने आमरण अनशन की प्रतिज्ञा की। महात्मा गांधी की प्राण

रक्षा के प्रयास में महामना मदनमोहन मालवीय ने पूना में हिन्दू नेताओं की सभा बुलाई। इस सभा के निर्णयों को अंग्रेज सरकार के स्वीकार करने पर गांधी जी ने अपना अनशन तोड़ दिया। अखिल भारतीय अस्पृश्यता सभा तथा हरिजनोद्धार सभाओं का संगठन किया गया। गांधी जी का ध्यान राजनीतिक संघर्ष से हट कर इस सामाजिक वैषम्य पर केन्द्रित हो गया। जब थोड़े से भारतीय प्रतिनिधियों के साथ तीसरी गोलमेज़ सभा की अगणित समितियों का वाद-विवाद चल रहा था, भारत के कारागृहों में राजनीतिक बन्दियों पर निर्दयता से कोड़े बरसाए जा रहे थे। आन्दोलन की गर्मी धीरे-धीरे कम हो चली थी और ८ मई, १९३३ को गांधी जी की मुक्ति के पश्चात् आन्दोलन समाप्त कर दिया गया। इसी समय उन्होंने आत्मपरिष्कार के उद्देश्य से २१ दिनों का अनशन व्रत आरम्भ किया। सन् १९३४ में आन्दोलन पूर्ण रूप से समाप्त हो गया। कांग्रेस ने जनता को अहिंसात्मक असहयोग और सविनय अवज्ञा आन्दोलन के लिए बधाई दी। अभी तक जो कांग्रेस के सदस्य देश की मुक्ति के लिए अपनी शक्ति रचनात्मक कार्यों में लगा रहे थे, अब आत्म-निषेध और वैकल्पिक आत्म-संयम की कला और सौन्दर्य का पाठ पढ़ने लगे।

कांग्रेस के उग्र दल में गांधी जी की इस नीति से बड़ी निराशा फैली। गांधी के उदात्त आदर्श, उनकी राजनीति की गहरी आध्यात्मिकता और रहस्यात्मक कार्य-प्रणाली उनकी समझ से बाहर की बात थी। सुभाषचन्द्र बोस ने वियना से एक सन्देश भेजा, जिसमें गांधी के प्रति अविश्वास व्यक्त करते हुए कहा गया था कि गांधी की सविनय अवज्ञा नीति की असफलता, राजनीतिक नेता के रूप में गांधी की असफलता है।[1] १९३३ में पं० नेहरू जेल से बाहर आए। उन्होंने कांग्रेस की नई नीति पर बड़ा रोष और क्रोध प्रगट किया तथा बड़े जोरदार, सशक्त और आक्रोश भरे शब्दों में गांधी जी की नीति का खण्डन किया और पूंजीपतियों तथा सामंतवादियों की मुट्ठी से बाहर निकलने के लिए जनता का आह्वान किया। कलकत्ते में किए गए उनके कुछ भाषणों को राजद्रोह का प्रमाण सिद्ध करके उन्हें फिर जेल में डाल दिया गया। श्री के०एफ० नारीमन ने गांधी-नीति की कड़ी आलोचना की।[2]

---

१. The nation does not need lip-sealed mummies who always shake their heads like spring dolls, perpendicularly or horizontally according as the Mahatma pulls the strings straight or side ways. *Subhas Chandra Bose—Indian Struggle, P. 368.*

२. "How can we induce Gandhiji to rid himself of his almost incorrgible habit...This perpetual blundering, blending of religion and politics?

की आध्यात्मिक प्रेरणा के सामने जनता की आग धीमी पड़ गई। गांधी के व्यक्तित्व की प्रबलता की तुलना लेनिन से करते हुए श्री सी० एफ० ऐण्ड्रूज ने जो विचार व्यक्त किया वह द्रष्टव्य है।[1] परन्तु यह तथ्य भी ध्यान में रखने के योग्य है कि कांग्रेस द्वारा शासन में भाग लेने के निर्णय की बड़ी विरोधपूर्ण प्रतिक्रिया हुई और इससे सम्प्रदायवादी व्यक्तियों और संस्थाओं को समर्थन मिला। इसी युग में लिए गए गलत निर्णयों के कारण आगे चल कर भारत के विभाजन की नौबत आई।

दिनकर की सहानुभूति आरम्भ से ही उग्रदल के विरोधों और विद्रोहों के साथ थी। 'रेणुका' में संकलित राष्ट्रीय गीतों और 'हुंकार' तथा 'सामधेनी' की प्रेरणा के बीज इन्हीं विरोधों में हैं। गांधी के सविनय अवज्ञा आन्दोलन, अछूत आन्दोलन, चर्खा और तकली-प्रचार में नहीं। नोआखाली यात्रा के पूर्व उन्होने गांधी के व्यक्तित्व और सिद्धान्तों पर न कोई कविता लिखी थी और न गाधीवाद को समय का समाधान माना था। अपने ही शब्दों में उन्होंने गांधी की पूजा सदैव 'अंगारो' से की थी।

उपर्युक्त ज्वालामयी परिस्थितियों ने दिनकर का मार्ग प्रशस्त कर दिया। 'रेणुका' के प्रारम्भिक राष्ट्रीय गीतों में उनका मन संशय-ग्रस्त रहा। युग की तमिस्रा में किस ज्योति की रागिनी गाएं, यह प्रश्न उनके सामने था, लेकिन शीघ्र ही, युग की चतुर्दिक जागृति ने उनका दिशा-निर्देश करके, शृङ्गी फूक कर, महान प्रभाती-राग गाने की प्रेरणा दी, प्रभाती, जिससे सुप्त भुवन के प्राण जाग उठें, जो आवाज़ भारतीय मानस में सोते हुए शार्दूल को चुनौती भेज सके, जो युगधर्म के प्रति भारतीय जनता को जागरूक कर सके, जिसको सुन कर युग-युग से थमी हुई भारतीय जनता के निर्बल प्राणों में क्रान्ति की चिनगारियां उड़ने लगें। रेणुका के राष्ट्रीय गीत इतिहास और संस्कृति के आवरण में लिखे गए। अपने पूर्ववर्ती राष्ट्रीय कवियों की परम्परा का अनुसरण करके उन्होंने भी इतिहास को काव्य में ध्वनित करने की चेष्टा की, वर्तमान की चित्रपटी पर अतीत को सम्भाव्य बनाना चाहा —

प्रियदर्शन इतिहास कंठ में
आज ध्वनित हो मान्य बने,

---

1. The one remarkable likeness between them lies in their volcanic energy of personality surging up from the very depths of their natures with ever new creative urge. They have both been able to fashion millions of human lives according to their will." *India and the Simon Report, P. 10*

वर्तमान की चित्रपटी पर
भूतकाल सम्भाव्य बने।[1]

युगदर्शन की पहली प्रतिक्रिया ने दिनकर को छायावाद के रंगीन, झिलमिले वातावरण और कुहासे से बाहर निकाला। उनकी कविता ने आकाश-कल्पनाओं, चन्द्रकिरणों और इतिहास के खण्डहरों से निकल कर वनफूलों की ओर जाने का आग्रह किया; धान के खेतों में काम करती हुई कृषक सुन्दरियों के स्वर में अटपटे गीत गाना चाहा, और सूखी रोटी खाकर भूख मिटाने वाले किसान की तृष्णा बुझाने के लिए गंगाजल बनने की आकांक्षा प्रकट की। अपने युग के किसान-आन्दोलनों के प्रभाव से उन्होंने आकाश का मार्ग छोड़ कर पृथ्वी से सम्बन्ध स्थापित किया।

भारतीय जनता के लिए साम्प्रदायिक अवार्ड एक बड़ी कड़ुवी घूंट के समान था, जिससे रोग के उपचार की नहीं, उसके बढ़ जाने की ही सम्भावना थी। परिगणित अथवा शोषित वर्ग के नाम पर हिन्दू जनता को खण्डित कर दिया गया, और ऐसे विशेष मत-क्षेत्रों का निर्माण किया गया, जिसमें केवल शोषित कहलाने वाली जनता को ही मताधिकार प्राप्त हो सकता था, इसके साथ ही उन्हें चुनाव के साधारण क्षेत्रों में भी मताधिकार मिला हुआ था। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की जिस कूटनीति और षड्यन्त्रों से भारत की बहुसंख्यक जनता को खण्ड-खण्ड करने की योजना बनाई गई थी, उससे महात्मा गांधी को बहुत निराशा हुई। उन्होंने उसकी अखण्डता की रक्षा के लिए अनशन किया। सम्पूर्ण भारत में असन्तोष की जो लहर फैली उससे दिनकर भी प्रभावित हुए। रेणुका की बोधिसत्व कविता इसी अछूतोद्धार आन्दोलन की प्रेरणा से लिखी गई। गांधी की अहिंसा नीति के विरोधी होते हुए भी उन्होंने भारतीय सामाजिक व्यवस्था की मूल विषमताओं पर कुठाराघात किया। उसी के फलस्वरूप उन्होंने घृणा सिखा कर निर्वाण दिलाने वाले दर्शन की भर्त्सना की, धन पर आधृत धर्म की विषम व्यवस्थाओं पर व्यंग्यपूर्ण आघात किया।

पर गुलाब जल में गरीब के अश्रु राम क्या पायेंगे?
बिना नहाए इस जल में क्या नारायण कहलायेंगे?
मनुज मेघ के पोषक दानव आज निपट निर्द्वन्द्व हुए?
कैसे बचें दीन, प्रभु भी, धनियों के गृह में बन्द हुए?[2]

अन्धविश्वासी रूढ़िवादी पण्डितों ने गांधी की इस नीति का कर्कश विरोध

---

१. रेणुका—दिनकर, मंगल आह्वान
२. रेणुका—दिनकर, पृष्ठ १८

किया। उन्हें धर्म का खण्डनकर्ता मान कर उनके प्राण लेने की चेष्टाएं की गईं। इसी प्रकार की एक घटना देवघर (बिहार) में हुई। दिनकर ने व्यापक युगधर्म की याद दिला कर बोधिसत्व का आह्वान इन शब्दों में किया—

जागो, गांधी पर किए गए नरपशु-पतितों के वारों से,
जागो, मैत्री निर्घोष ! आज व्यापक युगधर्म पुकारों से।
जागो, गौतम ! जागो महान !
जागो अतीत के क्रान्ति गान ![1]

जब स्वदेशी आन्दोलन द्वारा व्यापारिक शोषण पर आधृत साम्राज्य-वाद की नीव हिलने लगी, लंकाशायर और मैनचेस्टर के व्यापार का दिवाला निकलने लगा, तब अंग्रेजों ने रक्तपात, त्रास और दमन-नीति का सहारा लिया। बन्दूकों और किरिचों के जोर पर व्यापारिक क्रान्ति के विधायकों का मुंह बन्द करने का प्रयत्न किया जाने लगा। 'कस्मै देवाय ?' कविता में इस शोषण के मर्मस्पर्शी चित्र खीचे गए हैं—

शुभ्रवसन वाणिज्य-न्याय का,
आज रुधिर से लाल हुआ है,
किरिच नोंक पर अवलम्बित
व्यापार-जगत बेहाल हुआ है।[2]

किसानों के आर्थिक शोषण और किसान-आन्दोलन को दबाने के लिए किए गए अमानुषिक और पाशविक कार्यों का प्रतिशोध लेने के लिए दिनकर ने 'भूषण' की भावरंगिणी और लेनिन की क्रान्ति-चेतना का आह्वान किया—

देख, कलेजा फाड़ कृषक दे रहे हृदय-शोणित की धारें;
बनती ही उन पर जाती हैं, वैभव की ऊंची दीवारें।
धन-पिशाच के कृषक-मेघ में नाच रही पशुता मतवाली,
आगन्तुक पीते जाते हैं, दीनों के शोणित की प्याली—
उठ भूषण की भावरंगिणी ! लेनिन के दिल की चिनगारी !
युग-मर्दित यौवन की ज्वाला ! जाग-जाग री क्रान्तिकुमारी ![3]

रेणुका में क्रान्ति की जो चिनगारियां धीरे-धीरे सुलग रही थीं, हुंकार में उन्होने प्रज्ज्वलित अग्नि का रूप धारण कर लिया। दिनकर अतीत का आंचल छोड़ कर वर्तमान में आए। दो महान् शक्तियों के वज्रसंघात की चिनगारियां

---

१. रेणुका, तृतीय संस्करण, पृष्ठ १६
२. " " पृष्ठ ३०
३. " " पृष्ठ ३२

सम्पूर्ण भारत-भूमि पर फैल गई। एक ओर ब्रिटिश साम्राज्य की लौह, संहारक और ध्वंसक शक्ति और दूसरी ओर भारतीय जनता के त्याग का अपार बल, ज्वालाओं से घिरे हुए रुधिर-सिक्त वातावरण में उन्होंने क्रान्ति के गीत गाए, पराधीन देश के कवि की भावनाएं, प्रकाशन और मुद्रण पर लगे हुए प्रतिबन्धों के कारण विवश और असहाय हो उठीं। उसी विवशता का अनुभव करते हुए उन्होंने लिखा—

जहाँ बोलना पाप, वहां क्या गीतों से समझाऊं मैं ?

***　　　　*　　　　***

चौराहे पर बंधी जीभ से मोल करूं चिनगारी का ?[1]

परन्तु उनके आक्रोश ने ब्रिटिश-दमननीति को चुनौती दी। उन्होंने "गला फाड़-फाड़ कर गाया, चिल्ला-चिल्ला कर गाया"—

वर्तमान की जय, अभीत हो खुल कर मन की पीर बजे,
एक राग मेरा भी रण में, बन्दी की जंजीर बजे।
नई किरण की सखी, बांसुरी के छिद्रों से लूक उठे,
सांस सांस पर खड्ग-धार पर नाच हृदय की हूक उठे।

उन्होने नव जागृति-काल के जलते हुए तरुणों और मूक होकर अत्याचार सहती हुई सशक्त जनशक्ति को क्रान्ति की चुनौती दी—

नये प्रात के अरुण! तिमिर उर में मरीचि-संधान करो,
युग के मूक शैल! उठ जागो, हुंकारों, कुछ मान करो।[2]

'असमय आह्वान' में व्यक्त अन्तर्द्वन्द्व केवल दिनकर के मन का ही द्वन्द्व नहीं है, उनके युग के युवक वर्ग का द्वन्द्व है, जो जीवन में राग और रण का सामना एक साथ कर रहे थे। दिनकर ने रजनीबाला के अवतंस और मंजीर, विधु के मादक शृङ्गार, से सम्बन्ध तोड़ कर रजत शृङ्गी से भैरव नाद फूंका।

मृत्तिका-पुत्र दिनकर ने विवस्वान के प्रकाशपुंज को चुनौती दी—

ज्योतिर्धर कवि में ज्वलित सौर-मण्डल का,
मेरा शिखण्ड अरुणाभ, किरीट अनल का।
रथ में प्रकाश के अश्व जुते हैं मेरे
किरणों में उज्ज्वल गीत गुंथे हैं मेरे।[3]

'हाहाकार' कविता में उनकी दृष्टि चारों ओर फैले हुए शोषण, अत्याचार और

---

१. हुंकार. आमुख, पृष्ठ १—दिनकर
२. वही, पृष्ठ २
३. वही, पृष्ठ १६

राजनीतिक दमन पर केन्द्रित हुई। विजित, पराजित और शोषित की सहिष्णुता तथा शांति का उपहास करते हुए उन्होंने कहा—

टांक रही हो सुई, चर्म पर, शान्त रहें हम, तनिक न डोलें,
यही शांति, गरदन कटती हो, पर हम अपनी जीभ न खोलें!
शोणित से रंग रही शुभ्र पट, संस्कृति निठुर लिए करवालें,
जला रही निज सिंहपौर पर, दलित-दीन की अस्थि मशालें।

* * *

वे भी यहीं दूध से जो अपने श्वानों को नहलाते हैं।
ये बच्चे भी यहीं, कब्र में "दूध-दूध!" जो चिल्लाते हैं।[1]

'अनल किरीट' में उन्होंने जनशक्ति को अत्याचारी शासक वर्ग की टक्कर मे मर मिटने की चुनौती दी। 'भीख' में भगवान से लहू की आग, मन का तूफान, असन्तोष की चिनगारी, शोणित के अश्रु और अंगार मांगे जिससे क्रान्ति की ज्वाला फूट सके।

'पराजितों की पूजा' और 'कल्पना की दिशा' इस प्रसंग में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये दोनों ही कविताएं उस समय के आसपास लिखी हुई थी जब गांधी ने सत्याग्रह-आन्दोलन रोकने की आज्ञा दे दी थी—जब सुभाष, जवाहर, और जयप्रकाश का खौलता हुआ खून गांधी की शान्ति और समझौते की नीति से ठण्डा किए जाने को तैयार नही था। जिस सविनय अवज्ञा-आन्दोलन के लिए कांग्रेस के अध्यक्ष ने भारतीय जनता को उसकी दृढ़ता और अपराजेय शक्ति के लिए बधाई दी थी, उग्र दल के युवक नेता उसे गांधी तथा भारत की पराजय मानते थे, उनका उष्ण रक्त साम्राज्यवादी सत्ता को निकाल बाहर करने के लिए उबल रहा था—दिनकर ने भी इसे, भारत की पराजय ही माना। पराजितों द्वारा विजयादशमी का पूजन उन्हें व्यंग्य सा लगा, उन्हें लगा कि गांधी की नीति भारत की जवानी को, उसकी खिलती ज्वाला को मिट्टी में मिला रही है, गोरा बादल की मां और जौहर की रानी का तेज प्रशमित कर उनके साथ अन्याय कर रही है। उनके मन की ज्वाला, तलवार चलाने पर प्रतिबन्ध के कारण घुटने लगी, मन का तूफान अवरुद्ध होकर बोल उठा—

जीवन का यह शाप, सेवते हम शैलों के मूल रहें;
बर्फ गिरें रोज, बेबस खिलते-मुरझाते फूल रहें
बंधी धार, अवरुद्ध प्रभंजन, वन-देवी श्रीहीन हुई;

---

१. हुंकार, पृ० २३—दिनकर

एक एक कर बुझी शिखाएं, वसुधा वीर-विहीन हुई ।[1]

'कल्पना की दिशा में' उन्होंने गांधी-नीति के विरुद्ध खुल कर आवाज़ उठाई। इसी कविता में उन मान्यताओं की स्थापना हुई जिसने दिनकर को 'कुरुक्षेत्र' की प्रसिद्धि दी, जिस दर्शन को अस्वीकार करने के कारण बाबू राजेन्द्रप्रसाद ने उस ग्रन्थ पर अपनी सम्मति नहीं दी। जब गांधी ने अंग्रेजों की तोप का उत्तर तकली और चरखे से देने का निश्चय किया दिनकर ने लिखा—

ऊब गया हूं देख चतुर्दिक अपने
अजा-धर्म का ग्लानि-विहीन प्रवर्तन;
युग-सत्तम संबुद्ध पुनः कहता है,
ताप कलुष है, शिखा बुझा दो मन की।

* * *

तुम कहते हो शिखा बुझा दो, लेकिन,
आग बुझी, तो पौरुष शेष रहेगा ?

यहीं पर उन्हें गांधी की आध्यात्मिकता रक्षणीय प्रतीत हुई। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वे उस प्रचण्ड 'महामानव' के अन्वेषी बने जो अपनी बांहों पर स्वर्ग को उठा सके, जिसकी सांसों पर प्रभंजन नाच उठे, जिसके इंगित पर इतिहास बदल जाय, जो रणारूढ़ होने पर 'त्रस्नु' धर्म का पाठ करने न बैठ जाय। द्विधा और व्यामोह जिसे मृषा तर्क से न बांध सकें। इस महामानव की कल्पना उन्होंने इस रूप में की—

शैल-शिखर सा प्रांशु, गंभीर जलधि-सा,
दिनमणि-सा समदृष्टि, विनीत विनय-सा;
झंझा-सा बलवान, काल-सा क्रोधी,
धीर अचल-सा, प्रगतिशील निर्झर-सा।[2]

कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच समझौता-वार्ता असफल होने पर भारत में साम्प्रदायिक दंगों की एक लहर-सी आ गई। संगठित और असंगठित रूप में हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे का खून पीने को हिंस्र पशु बन गए। 'तक-दीर का बंटवारा' नामक कविता में इस स्थिति के प्रति क्षोभ और पीड़ा तथा विवशता व्यक्त हुई है। पराधीनता की हथकड़ियों और बेड़ियों से जकड़ी हुई कौम की तकदीर के बंटवारे पर उसका मन क्रोध और लज्जा से भर उठा—

---

१. हुंकार, पृष्ठ ५२
२. वही, पृष्ठ ६८

बेबसी में कांप कर रोया हृदय, शाप-सी आहें गरम आईं मुझे;
माफ करना, जन्म लेकर गोद में, हिन्द की मिट्टी, शरम आई मुझे।
बोलना आता नहीं तकदीर को, हिन्द वाले आसमां पर बोलते।
खूं बहाया जा रहा इन्सान का, सींग वाले जानवर के प्यार में।
कौम की तकदीर फोड़ी जा रही, मस्जिदों की ईंट की दीवार में।[1]

द्वितीय महायुद्ध के पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति की पृष्ठभूमि में लिखित एक कविता भी हुंकार में संकलित है, जिसमें दिनकर ने द्वितीय महायुद्ध होने की भविष्यवाणी की। प्रथम और द्वितीय महायुद्धों के बीच इटली में मुसोलिनी और जर्मनी में हिटलर कट्टर राष्ट्रवाद के संकीर्ण दायरे में युद्ध को जीवन और शान्ति को मृत्यु का नाम दे रहे थे। विश्व के वातावरण में उनका आतंक छाया हुआ था। राष्ट्र-सभा (League of Nations) के सक्रिय सदस्य होते हुए भी मुसोलिनी ने अपनी महत्वाकांक्षाओं के क्रूर सपनों को सत्य करने के लिए अबीसीनिया पर हमला कर दिया। यह हमला विश्व की अन्य शक्तियों के लिए एक चुनौती, और प्रजातन्त्रवादी सिद्धान्तों पर प्रथम कुठाराघात था। फासिस्ट मान्यताएं व्यक्तिवाद, समाजवाद तथा प्रजातन्त्रवाद की विरोधी तो थीं ही, शान्ति-विरोधी भी थीं। इसी शान्ति-विरोधी नीति का अन्तर्राष्ट्रीय जगत पर भारी प्रभाव पड़ा जिसने लीग आफ नेशन्स द्वारा प्रतिपादित विश्व-शान्ति के सिद्धान्तों को चुनौती दी। इस मान्यता के अनुसार राष्ट्र के गौरव का एकमात्र साधन है युद्ध और राष्ट्र-गौरव की कसौटी है, शक्ति-अर्जन, साम्राज्य-विस्तार। फासिस्ट विचारदर्शन का मूल मंत्र था 'खतरा उठाते हुए जिओ,' 'हर प्रकार के बलिदान और त्याग के लिए तैयार रहो।' इस मन्त्र की दीक्षा इटली के हर बच्चे और युवक को दी जाती थी। अबीसीनिया पर इटली का आक्रमण दुर्बल-शान्ति पर हिंस्र सैनिक-राष्ट्र का आक्रमण था। इसी आक्रमण से उत्तेजित होकर दिनकर ने 'मेघ रन्ध्र में बजी रागिनी' कविता लिखी। इटली से भी अधिक भयंकर शक्ति जर्मनी में राइन-तट पर विकसित हो रही थी, जहां हिटलर अपनी तानाशाही सनक में आकर आर्य राष्ट्र के मंगल-चिह्न 'स्वस्तिक' को यहूदियों के खून में नहला कर कलंकित कर रहा था; इसी कविता में दिनकर ने संसार को विश्वयुद्ध की ओर ढकेलने वाले इस दानव तानाशाह पर भी प्रहार किया—

बहते चले आज खुल खुल कर लंका के उनचास पवन।

---

१. हुंकार, पृष्ठ ७०

चोट पड़ी भूमध्य 'सिन्धु' में 'नील तटी' में शोर हुआ ।[1]

* * *

राइन तट पर खिली सभ्यता, हिटलर खड़ा मौन बोले ।
सस्ता खून यहूदी का है, नाजी निज स्वस्तिक धोले ।[2]

राष्ट्र-सभा की नीति पर भी उन्होंने चोट की । अबीसीनिया पर इटली के आक्रमण से राष्ट्र-सभा की आधारभूत शान्ति-नीति को बड़ा गहरा धक्का पहुंचा । आक्रमणकारी और आक्रान्त दोनों ही देश उसके सदस्य थे । इटली तो उसके संस्थापक देशों में से एक था और विश्व-शान्ति का मुख्य रक्षक माना जाता था । ब्रिटेन और फ्रांस, इटली की इस विश्वासघाती नीति का केवल नैतिक विरोध कर रहे थे, अबीसीनिया को आर्थिक और सैनिक सहायता देने में वे देश असमर्थ थे । अबीसीनिया के साथ सहानुभूति रखते हुए भी वे इटली का कुछ भी नहीं बिगाड़ सके और वह इटली का उपनिवेश बन कर रह गया । दिनकर ने इसी स्थिति का चित्रण करते हुए लिखा—

बुझा रहे ज्वाला सांसों से कर से आग लगाते हैं ।
हुआ बिधाता बाम, जेनेवा बीच सुधी चकराते हैं ।[3]

कुरुक्षेत्र और सामधेनी काल की पृष्ठभूमि (१९३९—४५)

कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों की स्थापना के बाद, कुछ दिनों के लिए, भारत ने स्वतन्त्रता से सांस ली, लेकिन जल्दी ही इसके विरुद्ध अनेक प्रतिक्रियाएं आरम्भ हो गईं । एक ओर मन्त्रिमण्डलों को पग-पग पर सरकार द्वारा लगाए गए व्यवधानों का सामना करना पड़ता था, दूसरी ओर दूसरे राजनीतिक दलों की ओर कांग्रेस की उदासीनता का बड़ा भयंकर परिणाम हुआ । १९३७ के चुनाव के बाद पं० नेहरू ने घोषणा की कि भारत में केवल दो राजनीतिक दल हैं कांग्रेस और ब्रिटिश । मिस्टर जिन्ना ने उनका खण्डन करते हुए 'मुस्लिम दल' के स्वतन्त्र अस्तित्व की घोषणा की । उधर देशी नरेश अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए अंग्रेजों के पिट्ठू बने हुए थे । इस प्रकार भारतीय राष्ट्रीयता के दो महत्वपूर्ण शत्रु सामने आ गए थे । मुसलमानी नेतृत्व और भारतीय नरेश । कांग्रेस में आन्तरिक संघर्ष भी इस समय प्रबल हो उठे थे । इस प्रकार एक संयुक्त मोर्चे के अभाव में भारत की शक्ति

१. हुंकार, पृष्ठ ४२
२. वही
३. वही

अपेक्षाकृत बहुत कम हो गई थी।

भावी कार्यक्रम और नीति को लेकर कांग्रेस में ही दो दल बन गए। सन् १९३८ में श्री सुभाषचन्द्र बोस कांग्रेस के प्रधान चुने गये। हरिपुरा अधिवेशन में उन्होंने द्वितीय महायुद्ध द्वारा मिले हुए अवसर का सदुपयोग करके हिंसात्मक क्रान्ति द्वारा अंग्रेजों के हाथ से शक्ति छीन लेने का सुझाव दिया।[१] समाजवादी और साम्यवादी दल ने भी उनके स्वर में स्वर मिला कर गांधी की समझौतावादी और सुधारवादी नीति का विरोध किया। उन्होंने भारत के लिए प्रस्तावित संघात्मक राज्य का भी विरोध किया। अप्रैल, सन् १९३८ में अखिल भारतीय समाजवादी सम्मेलन मे श्री एम० आर० मसानी ने राष्ट्रीय और मजदूर आन्दोलन को नये सिरे से संगठित करके ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा बनाने का सुझाव दिया।[२] परम्परावादी दल के प्रमुख नेता राजाजी, वल्लभभाई पटेल और राजेन्द्रप्रसाद का गांधीजी में अन्ध विश्वास था, वे न सरकार को चुनौती देने के लिए तैयार थे, और न भारत छोड़ने की तिथि निश्चित करना उचित समझते थे। उनके विचार में इंग्लैण्ड के विरुद्ध कोई ऐसा कदम उठाना ठीक नहीं था जिससे यूरोप की तानाशाही शक्तियों को बढ़ावा मिलता। वे इंग्लैण्ड के साथ सम्मानपूर्ण सहयोग के पक्ष में थे। यह कदाचित् पहला अवसर था, जब पं० जवाहरलाल नेहरू ने पुरातनवादी दल को अपना नैतिक सम्बल दिया, और भारत की समस्याओं को अन्तर्राष्ट्रीय पृष्ठभूमि में रख कर देखा।[३]

नरम दल द्वारा मनोनीत डा० पट्टाभि सीतारमैया को पराजित करके श्री सुभाषचन्द्र बोस दूसरी बार कांग्रेस के अध्यक्ष बने। त्रिपुरी अधिवेशन में पं० गोविन्दवल्लभ ने बहुत बड़े बहुमत से यह प्रस्ताव स्वीकृत करवा दिया कि कांग्रेस के अध्यक्ष को कार्य-समिति के सदस्यों का चुनाव गांधी जी की सम्मति से करना होगा। इसके बाद ही सुभाषचन्द्र बोस ने कांग्रेस की अध्यक्षता से त्यागपत्र देकर फार्वर्ड ब्लाक की स्थापना की, जिसके अन्तर्गत क्रान्तिकारी शक्तियों का संगठन किया जा सके।

१. Indian Annual Register, 1938, Vol 1. PP. 336-48

२. Indian Annual, PP. 382-392

३. Nehru was implacable in his opposition to Nazism and Fascism. He visited Europe in 1938 and declined the invitation of Hitler to visit Germany as on a previous occasion he had turned down the request of the Italian Duce to meet him on his return to China much against the will of Bose, the President, who did not want India to incur the hostility of Japan.

Moraes—Jawahar Lal Nehru, PP. 252, 270, 274.

विश्वयुद्ध में सहयोग और असहयोग के प्रश्न को लेकर उठे हुए वाद-विवादों और उनके परिणामों का विस्तृत विवेचन यहां करना अनावश्यक और अप्रासंगिक है। केवल इतना कह देना उचित होगा कि सरकार द्वारा कांग्रेस की शर्तों के अस्वीकृत हो जाने से उसकी प्रतिष्ठा पर काफी आंच आई और जनता में अपना प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए १७ अक्तूबर, १९४० को व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आन्दोलन का आरम्भ गांधी जी द्वारा मनोनीत आचार्य बिनोवा भावे ने किया। सैद्धान्तिक भूमि का त्याग यहां भी नहीं किया गया। युधिष्ठिर की सन्तान ने धर्मयुद्ध के नाम पर युद्ध का विरोध निःशस्त्र होकर, केवल नारे लगा कर किया जिससे शत्रु के शत्रु लाभ न उठा सकें। गांधी की नीति इस समय केवल युद्ध-विरोधी नारे लगा-लगा कर विरोध-प्रदर्शन करना था, कार्य करना नहीं। सत्याग्रहियों को यह ध्यान रखना पड़ता था कि वे कोई ऐसा कार्य न करें जिससे सरकार की शक्ति को हानि पहुंचे। लेकिन सरकार की नीति दमन की ही रही। ३१ अक्तूबर को पं० नेहरू को ४ साल का सश्रम कारावास दण्ड मिला। सरकार के इस कार्य से सारे देश में क्रोध और उत्तेजना की लहर फैल गई। इस दण्ड के अनौचित्य के विषय में प्रधानमन्त्री चर्चिल ने भी भारत के वाइसराय को पत्र लिखा।[1] जनवरी सन् १९४१ तक पहुंचते-पहुंचते लगभग २२५० व्यक्ति इस सम्बन्ध में दण्डित हुए।

इन्हीं दिनों विश्वयुद्ध में इंगलैण्ड को कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। रूस पर जर्मनी के आक्रमण से मध्यपूर्व-एशिया खतरे में पड़ गया। अपने घर में नजरबन्द सुभाष बाबू अंग्रेजों को धोखा देकर भाग निकले। जापान के विश्वयुद्ध में सम्मिलित हो जाने पर खतरा भारत के दरवाजे पर ही आ गया, इन परिस्थितियों से बाध्य होकर सरकार को अपनी दमन-नीति को कुछ हल्का करना पड़ा। भारतीय महासागर में जापान की जल-शक्ति का आतंक छा गया, बंगाल और मद्रास पर युद्ध के बादल मंडराने लगे। इन सब परिस्थितियों से बाध्य होकर ब्रिटेन के युद्धकालीन मंत्रिमण्डल ने इस समस्या पर विचार करने के लिए श्री स्टैफर्ड क्रिप्स को नियुक्त किया, और क्रिप्स मिशन के असफल होने के बाद 'भारत छोड़ो' आन्दोलन आरम्भ हुआ जिसमें 'करो या मरो' का आदर्श सामने रखा गया। अगस्त १९४२ को कांग्रेस का बम्बई

---

१. As you know, I have always felt that a man like Nehru should be treated as a political detenu and not as a criminal and welcomed every mitigation of his lot.

The Second World War, V-III, P. 748.

अधिवेशन समाप्त हुआ, और ६ ता० को प्रातःकाल वहां एकत्रित सब नेताओ को गिरफ्तार करके अज्ञात स्थानों पर भेज दिया गया। सरकारी प्रतिबन्धों के कारण कांग्रेस द्वारा निर्धारित निर्णय भी जनता को ठीक तरह से ज्ञात नहीं हो पाए, जनता क्रोध और उत्तेजना से पागल हो उठी, और सरकार ने विकराल दानव का रूप धारण कर उन्हें आग की भट्ठी में भून डालने का निर्णय कर लिया। एक ओर रेलवे स्टेशन, डाक तार टेलीफोन के तार काट-काट कर गिराए जाने लगे और दूसरी ओर से नर-मुण्डों और लाशों से सड़कें पाट दी गईं। बिहार और उत्तरप्रदेश में यह ज्वाला बड़े ही भयंकर रूप में फैली। बलिया शहर पर बम-वर्षा की नौबत आ गई। इस आन्दोलन का दमन करने में लगभग तीन महीने लग गए। साम्यवादियों के अतिरिक्त और सब दलों ने आन्दोलन में भाग लिया। सतारा और मिदनापुर में विद्रोही जनता ने स्वतन्त्र-राष्ट्रीय सरकार भी बना ली थी। जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में समाजवादी दल गुप्त रूप से सशस्त्र संघर्ष का संचालन करता रहा। सरकार का रुख भी बड़ा कठोर रहा। सुरक्षा के पहरेदार, सैनिक और पुलिस लुटेरे हिंस्र बन गए, उन्होंने जनता, बच्चों और स्त्रियों के साथ अमानुषिक अत्याचार किए। भारी जुर्माने लगाए गए। सरकार की बेईमानी तथा व्यापारी पूंजीपतियों के भ्रष्टाचार के कारण बंगाल में भारी अकाल पड़ा, जिसमें पन्द्रह-बीस लाख मनुष्यों की मृत्यु हुई। नफाखोरों ने लगभग १५० करोड़ का मुनाफा कमाया।

इस काल की एक और बहुत महत्वपूर्ण घटना थी—सुभाषचन्द्र बोस द्वारा आजाद हिन्द सेना का निर्माण। दिसम्बर, सन् १९४१ में जापान ने युद्ध में प्रवेश किया। उस समय, मलाया में नियुक्त अमरीकी, आस्ट्रेलियन और अंग्रेजी सैन्य विभागों के साथ लगभग ६० हजार भारतीय सैनिक और उच्च पदाधिकारी भी थे। पराधीन देश होने के कारण उनके तथा अन्य देश के सैनिकों में वेतन और अन्य सुविधाओं की दृष्टि से बहुत भेद-भाव रखा गया था। जापानियों ने बड़ी आसानी से मलाया पर अधिकार कर लिया। इन्हीं दिनों बंगाल के क्रान्तिकारी नेता श्री रासबिहारी बोस ने जापानी सैन्याधिकारियों से मिल कर युद्ध में बन्दी भारतीय सिपाहियों की एक देशभक्त सेना बनाई। इस प्रकार सितम्बर, सन् १९४२ में भारतीय सेनानायकों के नेतृत्व में 'आजाद हिन्द सेना' बनी। मलाया, बर्मा, हांगकांग, जावा इत्यादि देशों में अनेक प्रवासी भारतीय उसमें सम्मिलित हुए। सुभाषचन्द्र बोस जो जनवरी, १९४१ में अंग्रेजों की नजरबन्दी से निकल भागे थे, अफगानिस्तान होते हुए जर्मनी पहुंचे थे, और वहां से जापान आ गए, उनके नेतृत्व में 'आजाद हिन्द सेना' एक महत्वपूर्ण

और बलशाली सैन्य संगठन बन गई। २६ जून, सन् १९४५ को भारत के प्रति रेडियो संदेश भेजते हुए आजाद हिन्द रेडियो से उन्होंने घोषित किया कि आजाद हिन्द सेना कोई पराधीन और शक्तिहीन सेना नहीं थी। उसके नायक धुरीराष्ट्रों की सहायता से भारत को अंग्रेजों की दासता से मुक्त करने की योजना बना रहे थे। अपनी योजना का औचित्य सिद्ध करने के लिए उन्होंने इतिहास-पुष्ट प्रमाण दिए और गांधी की नीति के अव्यावहारिक आदर्शवाद की कटु आलोचना की।[1]

१९४३ से लेकर १९४५ तक भारतीय जनता को अनेक कठिनाइयों, और कुंठाओं का सामना करना पड़ा। सरकार के संरक्षण में चलती हुई चोरबाजारी और भ्रष्टाचार से साधारण जनता पीड़ित थी। कांग्रेस के प्रमुख नेता जेल में थे। १९४४ में गांधी जी के मुक्त हो जाने पर भी राजनीतिक गुत्थी सुलझी नहीं थी। गांधी जी 'भारत छोडो' प्रस्ताव की समाप्ति को स्वीकार करने के लिए तैयार नही थे। मई, १९४५ में युद्ध समाप्त हुआ। जून में कांग्रेस के नेता छोड़ दिए गए। और सारे देश में उत्साह की नई लहर आ गई। पंडित नेहरू तथा सरदार पटेल ने जनता को उसकी अजेय शक्ति और साहस के लिए बधाई दी।[2]

इन्हीं दिनों लाल किले में बन्दी आजाद हिन्द सेना के सेनानायकों का मुकदमा शुरू हुआ। इन वीरों को मु त कराने का दायित्व कांग्रेस ने लिया, जब आजाद हिन्द सेना के वीरों की शौर्य-गाथाएं प्रकाश में आई, सारी जनता का प्यार उन पर उमड़ पड़ा। उसी समय हवाई-दुर्घटना में भारत के परमवीर सपूत सुभाष की मृत्यु के समाचार से सम्पूर्ण भारत पर अवसाद के बादल छा गए। उनके कठिन प्रवास की दुखद कहानियों को सुन कर यह अवसाद क्रोध में बदल गया। भारतीय सेना में भी भयंकर आक्रोश के चिह्न दिखाई देने

१. (A) Even a Washington in America or Garibaldi in Italy with their national armies and volunteers could not dispense with foreign aid.

(B) India's main difficulty was that her leaders did not teach their people to hate their enemies. They were trying to "fight Fascism abroad by shaking hands with the representatives of imperiali m at home. *Netaji, His life and work, PP. 357-58.*

२. "The events in Satara, in Bihar, in Midnapore, elsewhere in Bengal and in the United Provinces, he said, "have added a glorious chapter in the history of the peoples' fight for independence," Sardar Patel said that the Congress was not prepared to alter even a comma of the 'Quit India' Resolution "Not only that," said he "the Congress would soon have to say 'Quit Asia' instead of 'Quit India'."

Dr. Raghuvanshi—Indian Nationalist Movement and Thought, P. 246.

लगे। इस प्रकार युद्ध समाप्त होते-होते, भारत में फिर क्रांति की उत्तेजना चारों ओर व्याप्त हो गई।

'सामधेनी' और 'कुरुक्षेत्र' की रचना उपर्युक्त पृष्ठभूमि में हुई।

'सामधेनी' की राष्ट्रीय कविताएं प्रायः १९४१ से १९४६ के बीच में लिखी गई हैं; अधिकतर रचनाओं में तत्कालीन राजनीतिक स्थितियों और चेतना का प्रभाव दिखाई पड़ता है। सामधेनी की दूसरी कविता 'तिमिर में स्वर के बाले दीप, आज फिर आता है कोई' में उस घोर संकट काल में जनता की भावनाओं के ज्वालामुखी का चित्रण है। ऊपर से शान्त और मौन, अन्तर में अंगार तथा ज्वाला—दिनकर इसी अंगार के तूफान और हलाहल के दुर्जय विस्फोट को घटित देखना चाहते थे। पर क्रान्ति की आग धुंधुवा कर रह जाती थी। 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पास करने वाले राष्ट्र के अग्रणी नेता जेल में बन्द थे, दिनकर ने उस घुटनभरी अग्नि का चित्रण इस प्रकार किया है—

सुलगती नहीं यज्ञ की आग,
दिशा धूमिल यजमान अधीर;
पुरोधा-कवि कोई है यहां ?
देश को दे ज्वाला के तीर!
धुओं में किसी वह्नि का आज निमन्त्रण लाता है कोई[1]।

१९४३ में लिखी गई कविता 'मंजिल दूर नहीं है' में विषम परिस्थितियों और भयंकर अत्याचारों से पीड़ित, जनता को आशा बंधाई गई है, उसे सान्त्वना देने का प्रयास किया गया है। 'आग की अग्नि में' सन् बयालीस के भयंकर अत्याचारों से त्रस्त और परास्त जनता का चित्रण है। जिसका कुचला हुआ तेज दमन के तिमिर में लुप्त हो रहा था। उस तेज की पुनर्प्राप्ति के लिए दिनकर ने भगवान से चढ़ती जवानियों का शृङ्गार मांगा। दमन के पहाड़ को सामने पाकर, क्रान्ति के अवरुद्ध प्रवाह को मार्ग देने के लिए, बल-पुंज केसरी की झुकी हुई ग्रीवा को फिर से उन्नत करने के लिए भगवान के विस्फोट और तूफान की भीख मांगी। आंखों में आंसू के स्थान पर चिनगारियां और लहू में विष का संचार मांगा, वह विभा, वह शक्ति मांगी जो अपने अनल-विशिख से आकाश को जगमगा दे। जवानी का झण्डा, 'जवानी' और 'साथी' में भी समय की यही आग व्यक्त है। आजाद हिन्द सेना के शौर्य और बलिदान की कहानी 'सरहद के पार' और 'फलेगी डालों में तलवार' नामक कविता में की गई है। इन

१. सामधेनी, पृष्ठ ६—दिनकर

कविताओं का उद्देश्य प्रशस्तिमात्र नहीं, जनता के हृदय में क्रान्ति की आग उत्पन्न करना था, पहली कविता में यह आग आजाद हिन्द सेना के एक साधारण सिपाही की वाणी से फूटी है—

यह झंडा, जिसको मुर्दे की मुट्ठी जकड़ रही है,
छिन न जाय, इस भय से अब भी कस कर पकड़ रही है;
थामो इसे; शपथ लो, बलि का कोई क्रम न रुकेगा
चाहे जो हो जाय, मगर, यह झंडा नहीं झुकेगा।[1]

आजाद हिन्द सेना के निर्माण के बाद असंख्य प्रवासी भारतीयों ने अपने प्राण और सर्वस्व सुभाषचन्द्र बोस के चरणों पर समर्पित कर दिया। उनके शौर्य की नई-नई कहानियां रोज कही जाती थीं तथा उनके भारत आने की चर्चा प्रायः दिन-रात हुआ करती थी। दिनकर ने उनके आगमन की आशाभरी सम्भावना इन शब्दों में की—

देश के दरवाजे पर रोज, खड़ी होती ऊषा ले माल।
कि जाने तुम आओ किस रोज, बजाते नूतन रुद्र विषाण,
किरण के रथ पर हो आसीन, लिए मुट्ठी में स्वर्ण विहान।[2]

इसी रुद्र का पावन नाम लेकर उनकी लेखनी ने अपने गान बोए, गान जिसमें भारतवर्ष के उबलते हुए क्रोध और प्रतिशोध की आग थी, जिस आग को वे असि-वृक्ष के रूप में पल्लवित देखना चाहते थे, जिसमें अंगारों और चिनगारियों के फूल खिलें।

द्वितीय महायुद्ध में, जब तक धुरीराष्ट्र और मित्रराष्ट्र भाग ले रहे थे, भारत का साम्यवादी दल उसे साम्राज्यवादी युद्ध मानता रहा, लेकिन, रूस पर जर्मनी का आक्रमण होते ही उसे जनता का युद्ध कहा जाने लगा। द्वितीय महायुद्ध में सहायता देने के लिए भारत की ओर से रखी गई शर्तों के अस्वीकृत हो जाने पर भारतीय नेताओं ने 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पास किया जिसके परिणामस्वरूप १९४२ की क्रान्ति हुई, परन्तु साम्यवादी दल विद्रोह का विरोध और युद्ध का समर्थन करता रहा। जब सम्पूर्ण देश अग्निकुण्ड बन रहा था, और अंग्रेजों को निकाल बाहर करने के लिए प्राण की बाजी लगाए हुए था भारतीय साम्यवादी मन, वचन और कर्म से खुल कर नौकरशाही के सहायक बन रहे थे। दिनकर ने इसी स्थिति को लक्ष्य करके 'दिल्ली और मास्को' कविता लिखी। इस कविता के पहले भाग में विश्व में बढ़ती हुई 'लाल लहर' के

---

१. सामधेनी, पृष्ठ ६७—दिनकर
२. वही, पृष्ठ ६०—दिनकर

भीषण प्रकाश, भयानक विप्लव तथा उसकी शक्ति का चित्रण हुआ, दूसरे भाग में भारत में साम्यवादी दल की नीति पर व्यंग्य कसा गया है—

चिल्लाते हैं 'विश्व ; विश्व' कह जहां चतुर नर ज्ञानी,
बुद्धि-भीरु सकते न डाल जलते स्वदेश पर पानी।
जहां मास्को के रणधीरों के गुण गाए जाते,
दिल्ली के रुधिराक्त वीर को देख लोग सकुचाते।[1]

तीसरे भाग में राजनगरी दिल्ली के कलंक का चित्रण करते हुए दिनकर ने उसे स्वदेश-हृदय पर गरल उड़ेलने वाली नागिनी, वीरविहीन देश की गिरी हुई तलवार, पौरुष का मरण, 'देश का कलंक' इत्यादि विशेषणों से आभूषित किया। चौथे भाग में सन् बयालीस की क्रान्ति में ही उन्होंने साम्य का सत्य रूप देखा। साम्यवादियों को पहले देश की पराधीनता और विषमता की प्राचीर तोड़ने की चुनौती दी; और सन् बयालीस के विद्रोह की गम्भीरता और सार्थकता का प्रतिपादन किया।

यह जो उठी शौर्य की ज्वाला, यह जो खिला प्रकाश;
यह जो खड़ी हुई मानवता, रचने को इतिहास;
सो क्या था विस्फोट अनर्गल ? बाल कुतूहल नर प्रमाद था ?
निष्पेषित मानवता का यह क्या न भयंकर तूर्य-नाद था ?
इस उद्वेलन बीच प्रलय का था पूरित उल्लास नहीं क्या ?
लाल भवानी पहुंच गई है भरत भूमि के पास नहीं क्या ?[2]

पांचवें खण्ड में इसी क्रान्ति की अग्नि में समिध अर्पित करने के लिए साम्यवादियों का आह्वान किया गया। छठवें खण्ड में देवी के 'शिवा' और चण्डी रूपों का समन्वय करते हुए कवि ने धर्म और ध्वज की रक्षा के लिए हिंसात्मक क्रान्ति का गीत गाया—

कर में त्रिशूल, कमंडल,
दिव्य-शोभिनी, सुरसरि-स्नाता,
राजनीति की अचल स्वामिनी,
साम्य-धर्म-ध्वज-धर की माता
भरत भूमि की मिट्टी से शृङ्गार सजाने वाली
चढ़ हिमाद्रि पर विश्व-शान्ति का शंख बजाने वाली।[3]

रूस का अन्धानुकरण करके भारत के सम्मान और गौरव पर आघात

१. सामधेनी, पृष्ठ ६१—दिनकर
२. वही, पृष्ठ ६३
३. वही, पृष्ठ ६३

पहुंचाने वाले साम्यवादियों के प्रति उन्होंने संदेश दिया—

दिल्ली के नीचे मर्दित अभिमान नहीं केवल है,
दबा हुआ शत-लक्ष नरों का अन्न-वस्त्र धन-बल है।
दबी हुई इसके नीचे भारत की लाल भवानी,
जो तोड़े यह दुर्ग, वही है समता का अभिमानी।[1]

'हे मेरे स्वदेश' नोआखाली और बिहार के दंगे के समय लिखी गई। जब एक ओर से कुटिल राजनीतिज्ञ मज़हब और ईमान की रक्षा के नाम पर निरपराध हिन्दू जनता का सिर कटवा रहे थे और दूसरी ओर से प्रतिशोध की भावना से उतने ही भयानक काण्ड किए जा रहे थे—दिनकर के पास इस स्थिति के चित्रण के लिए लज्जा, ग्लानि और विवशता के अतिरिक्त कुछ नहीं था। कुछ राजनीतिक नेताओं की धर्मान्ध कुटिलता और कुछ के द्वारा की गयी अतीत की भूलों के फलस्वरूप भारत साम्प्रदायिकता की आग में जल रहा था—कूटनीतिज्ञ भेड़ियों की महत्वाकांक्षाओं का मूल्य इन्सान की ज़िन्दगी से चुकाया जा रहा था—

यह विकट त्रास! यह कोलाहल!
इस वन से मन उकताता है;
भेड़िये ठठा कर हँसते हैं,
मनु का बेटा चिल्लाता है![2]

धर्मान्धता-जन्य विकट पागलपन के कारण भारत की स्वतन्त्रता के स्वप्नों के पंख जलने लगे। आन्तरिक संघर्षों और वैमनस्य के कलंक से देश का मस्तक नीचा हो गया। इन खाक में मिलते हुए आदर्शों की रक्षा के लिए दिनकर ने विवश आक्रोश के गीत गाए—

जलते हैं हिन्दू-मुसलमान,
भारत की आँखें जलती हैं,
आने वाली आजादी की
लो दोनों पांखें जलती हैं।
वे छुरे नहीं चलते, छिदती
जाती स्वदेश की छाती है,
लाठी खाकर भारत माता
बेहोश हुई जाती है।[3]

---

१. सामधेनी, पृष्ठ ६५
२. सामधेनी, पृष्ठ २८
३. वही, पृष्ठ ३१

इसके अतिरिक्त द्वितीय महायुद्ध से उत्पन्न वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय विवशताओं, विभीषिकाओं और विषमताओं के कारण दिनकर युद्ध की समस्या पर विचार करने को बाध्य हुए। 'कलिंग विजय' पहली कविता है जिसमें दिनकर ने हिंसा को स्वीकार नहीं किया। परन्तु, यह स्वीकृति अस्थायी थी, 'कुरुक्षेत्र' में वे फिर अपनी पुरानी मान्यताओं पर लौट आए तथा शारीरिक और मानसिक शक्ति के समन्वय और संतुलन में ही मानव के पूर्ण विकास की कल्पना थी।

स्वतन्त्रता-परवर्ती राष्ट्रीय काव्य की पृष्ठभूमि

'बापू' काव्य की पृष्ठभूमि में दो घटनाएं प्रधान हैं—बापू की नोआखाली यात्रा, और उनका निर्वाण। 'बापू' उनके शब्दों में विराट के चरणों में वामन का दिया हुआ क्षुद्र उपहार है।

नोआखाली यात्रा की पृष्ठभूमि में भारत की साम्प्रदायिक समस्या का एक लम्बा इतिहास था। विभिन्न प्रान्तों के प्रशासन से कांग्रेस का इस्तीफा, मुस्लिम लीग के लिए वरदान सिद्ध हुआ। प्रायः उन सभी प्रान्तों में जिन्हें मुसलमान पाकिस्तान के अन्तर्गत रखना चाहते थे, मुस्लिम लीग की शक्ति दिन पर दिन बढ़ती गई। व्यवस्थापिका सभा के विश्वासपात्र होने पर भी सिन्ध के प्रधान-मन्त्री अल्लाबख्श को त्यागपत्र देना पड़ा। उनका दोष केवल इतना था कि उन्होंने कांग्रेस की नीति के अनुसार खान-बहादुर का सम्मान छोड़ दिया था। उनके अवसरवादी सहयोगी हिदायतुल्लाह मुस्लिम लीग में चले गए और गवर्नर की सहायता से मुख्यमन्त्री बने रहे। आसाम की धारासभा के यूरोपी सदस्यों की सहायता से मोहम्मद सदाउल्लाह के नेतृत्व में 'लीगी मन्त्रि-मण्डल बन गया। बंगाल में फ़जलुलहक का संयुक्त मन्त्रिमण्डल बना और उसके बाद बहुत जल्दी ही नजीमुद्दीन का लीगी मन्त्रिमण्डल स्थापित हो गया। सन् १९४३ में उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रदेश में भी लीग का मन्त्रिमण्डल बन गया। इस प्रकार ब्रिटिश सरकार मुसलमानों की हठधर्मी, संकीर्णता और स्वार्थनीति का लाभ उठा कर उनकी पीठ ठोक कांग्रेस को नीचा दिखाती रही। भारत की स्वतन्त्रता के मार्ग में दुर्बलकाय दानव पहाड़ बन कर खड़ा हो गया। 'भारत छोड़ो' के स्थान पर उसने 'भारत काटो तब छोड़ो' का नारा लगाया। उसके मज़हबी पागलपन के सामने अनेक तर्क और विवेकपूर्ण प्रस्ताव असफल हो कर रह गए। श्री राजगोपालाचार्य ने रूस के संविधान पर आधृत कांग्रेस-लीग-सहयोग के लिए जो फ़ारमूला सामने रखा, उसे भी मि० जिन्ना ने रद्द कर

दिया। अखण्ड भारत की स्वीकृति भी उन्हें मान्य नहीं थी। इस विषय पर गांधी जी के साथ भी उनकी वार्ता दीर्घकाल तक बिना किसी परिणाम के चलती-चलती एक दिन टूट गई। गांधी-जिन्ना वार्ता की असफलता के बाद देश का वातावरण बड़ा ही संकटपूर्ण हो गया। कहीं-कहीं तो गृहयुद्ध की चर्चा भी चलने लगी।

'कैबिनेट मिशन' के प्रस्तावों को ठुकरा कर मुस्लिम लीग ने १६ अगस्त, १९४६ को 'शस्त्र प्रयोग' द्वारा पाकिस्तान बनाने का प्रस्ताव पास किया, साम्प्रदायिक दानव ने अपना मुखौटा उतार कर खाकसारों, तथा मुस्लिम राष्ट्रीय सेना के सदस्यों, को तलवार उठा कर मजहब की रक्षा करने की चुनौती दी। सुहरावर्दी के नेतृत्व में, लीगी मन्त्रिमण्डल की छत्रछाया और संरक्षण में हिन्दू जनता, बलि के बकरों की तरह कटवाई गई। तीन दिन तक बंगाल में दिन-रात यह नरमेध इस्लाम के नाम पर चलता रहा, नोआखाली में मज़हबी पागल-पन में मनुष्य भेड़िए बन गए, जिनके हाथ में तलवार और आंखों में हिंसा की चिनगारियां थीं, जिनसे फूटी हुई ज्वाला में असहाय हिन्दू भस्म हो रहे थे। शासनतन्त्र तटस्थ निरपेक्ष देख रहा था—जैसे ये हिंस्र पशु उन्हीं के छोड़े हुए हों, ऐसा लग रहा था कि सारा देश इस हवनकुण्ड में होम दिया जाएगा। साम्प्रदायिकता के विषधरों की ज़हरीली फुफकार में मानवता भस्म हो जाएगी। महात्मा गांधी की आध्यात्मिक शक्ति और निर्भय व्यक्तित्व ही पीड़ित जनता का एकमात्र नैतिक सम्बल रह गया था। 'बापू' कविता की रचना उसी समय हुई जब बापू नोआखाली की यात्रा कर रहे थे।

दिनकर ने सदैव ही 'बापू' की पूजा अंगारों और चिनगारियों से की थी। उनके उच्च सैद्धान्तिक आदर्शों को पृथ्वी की कमज़ोरियों में ढाल लेना उनके मत में असम्भव था। अंगार की पूजा करते हुए भी, गांधी की अथाह करुणा के सागर की गम्भीरता और प्रेम के अमृत-प्रवाह के प्रति अपार श्रद्धा का व्यक्तीकरण उन्होंने किया—

पर तू इन सब से परे; देख
तुमको अंगार लजाते हैं,
मेरे उद्वेलित-ज्वलित गीत
सामने नहीं हो पाते हैं।[1]

* * *

लज्जित मेरे अंगार, तिलक—
माला भी यदि ले आऊं मैं,

किस भांति उठूं इतना ऊपर ?
मस्तक कैसे छू पाऊं मैं ?[1]

'वज्रपात' तथा 'अघटन घटना क्या समाधान' में गांधी जी की निर्मम और पागलपन से भरी हत्या के मार्मिक चित्रों ने, जनता के रोते हुए हृदय का प्रतिनिधित्व किया—

धरती विदीर्ण हो सकती है
अम्बर धीरज खो सकता है;
बापू की हत्या हुई, किसी भी दिन
कुछ भी हो सकता है।[2]

परन्तु इस अगाध श्रद्धा के पीछे दिनकर का 'हिन्दू' भी शंकाग्रस्त होकर बोल रहा है। गांधी के मार्ग से समस्या के व्यावहारिक समाधान के प्रति उनके मन में यहां भी शंका है—

दानवता से मैं भी अधीर,
नर प्रर मेरा भी सहज प्यार,
मैं भी चाहता पकड़ पाऊं,
इस अमिट प्रेम का क्षीण तार।
पर, हाय, प्रणय के तार छोर
बस एक हमारे कर में हैं;
क्या अन्य छोर भी इसी तरह
आबद्ध अपर अन्तर में है ?
उत्तर दे सकता कौन ? शान्त,
मेरे शंकाकुल कुटिल हृदय !
जब तक शंकाएं शेष, नहीं
दर्शन दे सकता तुझे प्रणय।[3]

स्वतन्त्रता के पश्चात् लिखे हुए प्रमुख ग्रन्थ हैं 'रश्मिरथी', 'नीलकुसुम', 'नए सुभाषित', 'उर्वशी' और 'परशुराम की प्रतीक्षा'। रश्मिरथी परम्परा के मोह से लिखा हुआ प्रबन्ध-काव्य है, जिसमें कुन्ती के अवैधपुत्र, अथवा 'सूतपुत्र' कर्ण की गौरव-गाथा का गान हुआ है। कर्ण के चरित्र के इन दोनों ही अंशों के द्वारा दो सामाजिक प्रश्नों को उठाया गया है, इसकी पृष्ठभूमि में कोई विशेष ऐतिहासिक

१. बापू, पृष्ठ ३
२. वही, पृष्ठ ६०
३. वही, पृष्ठ १६

घटना नहीं है, बल्कि इसकी मूल प्रेरणा सामाजिक है। नीलकुसुम की कुछ रचनाओं की पृष्ठभूमि में भारत की राजनीति के विविध पक्षों, पंचशील के सिद्धान्तों तथा अन्य सामयिक घटनाओं को ग्रहण किया गया है। इस प्रसंग में 'जनतन्त्र का जन्म' कविता उल्लेखनीय है जो २६ जनवरी, १९५० को भारत के गणतन्त्र के निर्माण के अवसर पर लिखी गई थी। इसी कविता की प्रसिद्ध पंक्ति है—

'सिंहासन खाली करो कि जनता आती है' [१]

'किसको नमन करूं मैं', 'राष्ट्रदेवता का विसर्जन' और 'हिमालय का सदेश' कविताओं में दिनकर राष्ट्रवाद की सीमा का अतिक्रमण कर विश्वबन्धुत्व की ओर बढ़ रहे थे, तथा नये सुभाषित की कुछ कविताओं में वर्तमान व्यवस्थाओं की विषमताओं पर हल्के-फुल्के छीटे डाल रहे थे कि चीन के आक्रमण ने उन्हे फिर राष्ट्रवाद की ओर मोड़ दिया। इस आक्रमण का इतिहास और उससे सम्बद्ध घटनाएं हमारे मस्तिष्क में बिलकुल ताज़ी हैं। उनका उल्लेख इस प्रसंग में अनावश्यक जान पड़ता है। यहां केवल एक तथ्य स्मरणीय है कि दिनकर का आक्रोश केवल चीन की आसुरी वृत्ति के प्रति नहीं है, वे चीन के आक्रमण के लिए भारतीय राजतंत्र और विचार दर्शन को उत्तरदायी मानते है। सत्ताधारी राजनीतिज्ञों की निर्वीर्य शान्ति नीति, उनके अनुसार चीन के इस दुस्साहस के लिए उत्तरदायी है। 'परशुराम की प्रतीक्षा' की पृष्ठभूमि में चीन के आक्रमण की घटना उतनी नहीं है जितनी उसके लिए उत्तरदायी परिस्थितियां। इस कविता में गांधीवाद के नाम पर चलती हुई कृत्रिम आध्यात्मिकता तथा निर्वीर्य कल्पनाओं का खण्डन और विरोध किया गया है। भारत की शान्ति और तटस्थ नीति की अव्यावहारिकता और भ्रांत अध्यात्मप्रधान दर्शन का विरोध किया गया है। तथा राजनीतिक सत्ताधारियों के भ्रष्टाचारों तथा आन्तरिक अव्यवस्थाओं की ओर इंगित किया गया है। कहीं-कही पर उनकी अभिव्यक्ति आवश्यकता से अधिक उग्र और कटु हो गई है :—

घातक है, जो देवता सदृश दिखता है,
लेकिन, कमरे में गलत हुकुम लिखता है।
जिस पापी को गुण नहीं, गोत्र प्यारा है,
समझो उसने ही हमें यहां मारा है।
जो सत्य जान कर भी न सत्य कहता है।
या किसी लोभ से विवश मूक रहता है।

---

१. नील कुसुम, पृष्ठ ५८—दिनकर

उस कुटिल राजतंत्री कदर्य को धिक है,
यह मूक सत्या हन्ता कम नहीं बधिक है।[1]

इस प्रसंग में शोचनीय तथ्य यह है कि ये उक्तियां एक सैनिक के मुख से कहलाई गई हैं जिसे सोचने-विचारने का नहीं केवल लड़ने, मारने और मरने का अधिकार है। सैनिक-अनुशासन की दृष्टि से इस कविता की विधा आपत्ति-जनक है।

परन्तु चीन का आक्रमण वह घटना है जिसने दिनकर की यह आस्था दृढ़ कर दी है कि लाल लपट से गांधी की, भारत की और भारतीय संस्कृति की रक्षा करने के लिए हमें सैन्य-शक्ति का पूर्ण सहारा लेना पड़ेगा, अपने जीवन दर्शन में युद्ध को भी उतना ही प्रधान स्थान देना होगा जितना परमार्थ और मानवतावाद को। मानवतावाद, भारत का साध्य-लक्ष्य होगा, और सैन्य-शक्ति उसका साधन।

१. परशुराम की प्रतीक्षा, पृष्ठ ३—दिनकर

तीसरा अध्याय

दिनकर की काव्य-चेतना का विकास-१

प्रयोगकालीन काव्य-चेतना

दिनकर की काव्य-चेतना अभाव से भाव, निषेध से स्वीकृति और निवृत्ति से प्रवृत्ति की ओर अग्रसर हुई है। आरम्भिक दिनों में उनके सामने काव्य-रचना के अनिश्चित और अनेक मूल्य थे। बिहार के विद्रोही राष्ट्रीय चेतना के अग्निमय वातावरण में उनके कवि-रूप का निर्माण हुआ, माखनलाल चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी और मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं द्वारा उन्हें राष्ट्रीय कविता के संस्कार प्राप्त हुए, छायावाद के युवक कवियों की रेशमी झिलमिला-हट से भी उनका कल्पनाशील, युवा व्यक्तित्व प्रभावित हुए बिना नही रह सका। यही कारण है कि 'रेणुका' में हमें उनकी काव्य-चेतना के अनेक सूत्र मिलते हैं। उसके पहले लिखी गई रचनाओं (बारदोली-विजय और प्रण-भंग) में पूर्वकालीन राष्ट्रीय और आख्यानात्मक काव्य-परम्पराओं का ही अनुसरण हुआ है। इसलिए 'रेणुका' को दिनकर की प्रयोग-कालीन रचना माना जा सकता है, जिसमें उनके मूल्य निश्चित नहीं हो सके है। अन्तःमुखी और बहिर्मुखी काव्य-प्रवृत्तियों में किस ओर उनका झुकाव अधिक है यह स्पष्ट नहीं होता। एक ओर क्रान्ति का प्रलयंकारी स्वर है तो दूसरी ओर छायावाद की कुठा, वेदना और नैराश्य भी है। 'रेणुका' के इन्हीं सूत्रों का विकास दिनकर की परवर्ती काव्यकृतियों में हुआ है इसलिए उनका विस्तृत और पृथक्-पृथक् विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है। उन सूत्रों के पांच मुख्य रूप हैं :

१. राष्ट्रीय चेतना
२. यथार्थवादी कला-चेतना
३. निवृत्ति-मूलक वैयक्तिक चेतना
४. कल्पना-प्रधान सौन्दर्य-चेतना
५. शृङ्गार-चेतना और नारी-भावना।

विकास की दृष्टि से इन सभी प्रतिपाद्य विषयों के दो सोपान माने जा सकते हैं। प्रथम वह स्थिति, जब कवि की प्रतिक्रियाएं मूलतः भाव-परक हैं। इसके अन्तर्गत कुरुक्षेत्र के पूर्व लिखी गई प्रायः सभी रचनाएं रखी जा सकती हैं। राष्ट्रीय चेतना के काव्य 'रेणुका' और 'हुंकार' दिनकर की भावप्रवणता के परिणाम हैं, 'द्वन्द्वगीत' और रसवन्ती में भी वैयक्तिक भावनात्मक प्रतिक्रियाओं की ही अभिव्यक्ति हुई है। 'कलिंग विजय' में द्वन्द्वगीत की वैयक्तिक करुणा और व्यथा ने समष्टिजन्य रूप ग्रहण किया है। यहां तक दिनकर एक भावप्रवण कवि है विचारक कवि नहीं, 'कुरुक्षेत्र' में वे पहली बार विचारक और द्रष्टा के रूप में आते हैं और कविता के प्रति उनकी भावात्मकता बुद्धि से संपुष्ट होकर अभिव्यक्ति पाती है। राष्ट्रीय-सांस्कृतिक और ऐतिहासिक प्रतिपाद्य के प्रति उनके मूल्य निश्चित और स्थिर हो जाते है, कुरुक्षेत्र के अतिरिक्त सामधेनी, बापू और परशुराम की प्रतीक्षा में भी दिनकर का अग्निमय भाव बुद्धि-संपुष्ट है। अधिकतर, विचारक कवि का भावपक्ष गौण और दुर्बल पड़ जाता है, परन्तु दिनकर की कविता में बुद्धि, भाव को शीतल नहीं बनाती, उनको उद्‌बुद्ध करके उन्हें दृढ़ता और शक्ति प्रदान करती है। 'द्वन्द्वगीत' की निवृत्ति-भावना कुरुक्षेत्र के विचारप्रधान कर्म-मूलक दर्शन में सदा के लिए खो गई। दूसरी ओर 'रसवन्ती' की कोमल-सुकुमार शृङ्गार-भावना की परिणति विचार-संपुष्ट होकर 'उर्वशी' के कामाध्यात्म-दर्शन के रूप में हुई। रेणुका की यथार्थवादी सामाजिक भावना ही स्वतन्त्रता के बाद, फैले हुए राजनीतिक भ्रष्टाचार, आर्थिक और सामाजिक वैषम्य के प्रति फिर से जागृत हो उठी है। 'नए सुभाषित', 'नीम के पत्ते', और 'परशुराम की प्रतीक्षा' में संकलित अनार्की जैसी कविताओं के आक्रोश और व्यंग्य को रेणुका की अंतिम कविताओं में व्यक्त सामाजिक यथार्थवादी भावनाओं का नया रूप माना जा सकता है। दिनकर की शेष रचनाएं हैं, रश्मिरथी, नीलकुसुम तथा सीपी और शंख। रश्मिरथी, द्विवेदीयुगीन प्रबन्धकाव्य-परम्परा का काव्य है जिसके आख्यान और चरित्र-चित्रण मे दिनकर की मुख्य प्रवृत्तियां स्वतः उभर आई है। नीलकुसुम का परिधान नई कविता का है परन्तु काव्य-चेतना प्रायः उनकी अपनी पुरानी ही है। सीपी और शंख देश और विदेश के मान्य कवियों की रचनाओं का अनुवाद है, इसलिए काव्य-चेतना के विकास के प्रसंग में उस कृति का अधिक महत्व नही है।

ध्वंसक क्रान्ति

जैसा कि पहले कहा जा चुका है दिनकर की प्रारम्भिक रचनाएं अधिकतर

भावावेश प्रेरित हैं। यदि रोमान्टिक काव्य के विषय में यह मान्यता स्वीकार कर ली जाए कि वह सम्भावनाओं को देख कर नहीं चलता, उसमें वांछनीय-अवांछनीय, सम्भावना-असम्भावना का प्रश्न नहीं उठता, तो यही कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय-प्रतिपाद्य की ओर भी दिनकर की प्रारम्भिक दृष्टि रोमान्टिक कवि की ही रही है। रेणुका में उनकी राष्ट्रीय भावना का सूत्रपात ही हो सका है निर्धारण नहीं। उसके तीन मुख्य रूप हैं। प्रथम रूप है ध्वंसक क्रान्ति के आह्वान का, जिसकी प्रतिनिधि कविता है ताण्डव। 'रुद्र' केवल प्रतीक मात्र हैं। रुद्र का आह्वान जनता की रौद्र-भावनाओं का आह्वान है। जिसे कवि अपने विस्फोटक स्वर द्वारा अत्याचार, आडम्बर और अहंकार का नाश करने की चुनौती देता है। यह ध्वंस और विनाश सम्भावनाओं की ओर ध्यान नहीं देता। कवि बुद्धि द्वारा उसे संतुलित नहीं करता, उसके ध्यान-योग में तो केवल शृंगीनाद, प्रलय के बादल, अग्नि और तूफ़ान, डगमगाते हुए पर्वत हैं—जो हिंसक क्रान्ति के प्रतीक हैं। यह क्रान्ति, यह ज्वाला अव्यवस्था फैला सकती है—आग लगा सकती है परन्तु समस्या का अन्तिम समाधान नहीं बन सकती। प्रलय या नाश की स्थिति स्थायी रूप से काम्य नहीं हो सकती परन्तु रेणुका का राष्ट्रवादी कवि संतुलन नहीं जानता, वह केवल नाश और विध्वंस ही देख सका है, निर्माण की कल्पना उसकी दृष्टि में नहीं है। अभी तक इस क्षेत्र में दिनकर पूर्ण भावनावादी हैं, बुद्धिवाद उनके निकट नहीं है। भावों को बुद्धि से संतुलित करने की कल्पना वे नहीं करते। रेणुका में व्यक्त उनकी वीरता अंधी वीरता है और उनकी क्रान्ति अन्धी क्रान्ति। 'ताण्डव' कविता के पाठ की एक रोचक कहानी है। २६ दिसम्बर, १९३३ को देवघर के शंकर मन्दिर में सान्ध्य-शृङ्गार के समय दिनकर जी ने इस कविता का पाठ किया और १५-१-३४ को बिहार में भयंकर भूकम्प आया। कविता के अलौकिक प्रभाव पर तो कोई अन्धी आस्था वाला व्यक्ति ही विश्वास कर सकता है, लेकिन उसका प्रतीकात्मक महत्त्व अवश्य स्वीकार किया जा सकता है। वह नाश जिस पर नव-निर्माण की नींव न पड़ सके, जो भूकम्प और बाढ़ बन कर ही रह जाये, स्थायी महत्त्व की वस्तु तब तक नहीं हो सकता जब तक उसकी परिणति किसी उदात्त लक्ष्य में न होती हो। ताण्डव की क्रान्ति में इस उदात्त लक्ष्य का बिल्कुल अभाव नहीं है, प्रलय के बादलों की गड़गड़ाहट, अग्नि वर्षा की ज्वाला, पर्वतों की डगमगाहट में उसका वह स्वर प्रच्छन्न होते हुए भी शक्तिपूर्ण है—

लगे आग इस आडम्बर में,
वैभव के उच्चाभिमान में,

अहंकार के उच्च शिखर में,
स्वामिन् अन्धड़ आग बुला दो
जले पाप जग का क्षण-भर में [1]

राष्ट्रीय भावना के विश्लेषण की दृष्टि से रेणुका की दूसरी महत्वपूर्ण कविता है हिमालय। इस कविता में उनकी तत्कालीन राष्ट्रीय चेतना के विभिन्न तत्व संयुक्त रूप में मिलते हैं। कहीं-कहीं उसमें 'ताण्डव' की-सी आग है—

कह दे शंकर से आज करें
वे प्रलय नृत्य फिर एक बार।
सारे भारत में गूंज उठे,
हर हर बम का फिर महोच्चार [2]

'कस्मै देवाय ?' में भी क्रान्ति की धात्री कविता से आग बरसाने का आह्वान किया गया है—

क्रान्ति-धात्रि कविते! जागे, उठ
आडम्बर में आग लगा दे,
पतन, पाप, पाखण्ड जलें,
जग में ऐसी ज्वाला सुलगा दे। [3]

अतीत के प्रति मोह और वेदना

अतीत के प्रति मोह और वेदना को भी दिनकर की राष्ट्रीय चेतना का प्रारम्भिक रूप माना जा सकता है। रेणुका में इस पक्ष को बहुत प्रधानता दी गयी है। अतीत की ओर आसक्ति से देखने की प्रवृत्ति को दिनकर ने छायावादी संस्कार माना है। 'छायावादी कविता का मूलाधार भावुकता थी और भावुकता जब वर्तमान से असन्तुष्ट हो जाती है तब, स्वभावतः वह अतीत की ओर लालसा से दौड़ती है।' [4] दिनकर के अतीत-मोह का स्रोत तो राष्ट्रीय-सांस्कृतिक और छायावादी दोनों ही काव्य-धाराओं में था परन्तु उसके प्रति करुणा और अवसाद के भाव मूलतः छायावादी कविता से ही प्राप्त हुए थे इसमें कोई सन्देह नही है। 'हिमालय', 'मिथिला', 'पाटलिपुत्र की गंगा' इत्यादि कविताएं इस भाव-धारा की प्रमुख रचनाएं हैं, जिनमें सामान्यतः भारत का,

---

१. रेणुका, पृष्ठ ३, तृतीय संस्करण—दिनकर
२. वही पृष्ठ ७, तृतीय संस्करण—दिनकर
३. वही, पृष्ठ ३१
४. काव्य की भूमिका, पृष्ठ ४२—दिनकर

और विशेषत: बिहार प्रदेश की ऐतिहासिक गरिमा, प्राकृतिक सौन्दर्य, भौगोलिक महत्व और सांस्कृतिक वैभव की अभिव्यक्ति की गई है। मिथिला, कपिलवस्तु, वैशाली, पाटलिपुत्र, गंडकी, लिच्छवी, विद्यापति, बोधिसत्व इत्यादि का गान करते हुए कवि-हृदय उसी में रम जाता है।

व्यापक राष्ट्रीयता

यद्यपि दिनकर की समष्टि चेतना प्रदेश से देश और देश से विश्व की ओर उन्मुख हुई है परन्तु राष्ट्र के नाम पर उनके सामने सम्पूर्ण देश रहता है। देश की संस्कृति, देश का भूगोल, देश की समृद्धि का समग्र चित्रण इन पंक्तियों में है —

सुखसिन्धु, पंचनद, ब्रह्मपुत्र,
गंगा यमुना की अमिय धार,
जिस पुण्यभूमि की ओर बही,
तेरी विगलित करुणा उदार।

* * *

तू तरुण देश से पूछ अरे,
गूंजा कैसा यह ध्वंस-राग ?
अम्बुधि-अन्तस्तल-बीच छिपी
यह सुलग रही है कौन आग।[1]

'कस्मै देवाय' कविता में भी इसी व्यापक राष्ट्रीयता को अभिव्यक्ति मिली है—

धर्म भिन्नता हो न, सभी जन
शैल-तटी में हिल मिल जाएं,
ऊषा के स्वर्णिम प्रकाश में
भावुक भक्ति-मुग्ध-मन गाएं।[2]

भाव-प्रवण व्यक्ति की दृष्टि व्यक्तिपरक होती है, वह वहां अधिक टिकती है जहां उसकी भावनाओं का निकट सम्बन्ध होता है, दिनकर के प्रान्तीय प्रेम के पीछे भी यही तथ्य निहित है; लेकिन इस प्रेम और राग के नाम पर उनकी राष्ट्रीय भावना का रूप अनुदार और संकीर्ण नहीं होने पाया है।

'मिथिला' और 'पाटलिपुत्र की गंगा' में भारत के ऐतिहासिक गौरव और वर्तमान वैषम्य का चित्रण हुआ है। वह मिथिला जो जनक और कपिल की

---

१. रेणुका, पृष्ठ ७—दिनकर

२. वही, पृष्ठ ३४

जन्मभूमि है जहां की नारी-रत्न सीता ने विश्व में नारीत्व का आदर्श स्थापित किया, जहां विद्यापति के मधुर गीत गुंजरित हुए थे, आज पतझड़ की उदास कोयल के समान अवसाद-ग्रस्त, क्षीण प्रभा और हत आभा होकर खंडहर में अपने सुहाग की लाली ढूढती फिरती है। 'पाटलिपुत्र की गंगा' में भी मगध और वैशाली का गौरव-गान है तथा अतीत के माध्यम से वर्तमान को जगाने का प्रयास किया गया है। उसमें शृङ्गी का भैरवनाद नहीं, हारे हुए देश के युवक की करुणा है, जो अपने निस्तार का मार्ग न पाकर याचनाओं और प्रार्थना का सहारा लेता है।

यद्यपि इस याचना में अवसाद का स्वर प्रधान है, लेकिन अतीत के गौरव की करुण स्मृति द्वारा वर्तमान की समस्याओं के समाधान का उद्देश्य भी उनमें निहित है, जिसे छायावादी नहीं द्विवेदीयुगीन कविता की प्रवृत्तियों के अन्तर्गत ही रखा जा सकता है।

'रेणुका' की ध्वंसक क्रान्ति के स्वर में उस युवक वर्ग का प्रतिनिधित्व हुआ था जो भगतसिंह की उपासना में पागल था, ब्रिटिश सरकार की दमन-नीति से जिसका खून उबल रहा था। दिनकर के स्वर का यह पागलपन 'हुंकार' मे खुल कर अपनी चरम सीमा पर पहुंचा है। 'रेणुका' में केवल उसकी मान्यताओं का निर्माण हो रहा था, वे राजनीति के विभिन्न पक्षों को प्रयोग रूप में अपनी कविताओं में स्थान दे रहे थे।

तत्कालीन राजनीतिक समस्याओं के प्रति दृष्टिकोण

दिनकर की राष्ट्रीय-चेतना की प्रेरक परिस्थितियों का विश्लेषण करते हुए प्रस्तुत विषय की ओर संकेत किया जा चुका है। इस दृष्टि से रेणुका की तीन कविताएं महत्वपूर्ण हैं—'बोधिसत्व', 'कस्मै देवाय' और 'बाग़ी'। प्रथम कविता अछूतोद्धार-आन्दोलन को स्वर प्रदान करने के लिए लिखी गई है—जो अब तक राजनीतिक समस्या का रूप ग्रहण कर चुका था। साम्प्रदायिक 'अवार्ड' के द्वारा भारत की जनता को विभाजित करके अपनी सत्ता बनाए रखने की सरकारी नीति से गांधी जी का ध्यान अस्पृश्यों की ओर गया, जिन्हें हिन्दुओं से पृथक् कर दिया गया था, इस प्रकार अछूतों की समस्या अब सामाजिक समस्या न रह कर राजनीतिक समस्या बन गई थी। दिनकर ने बोधिसत्व का आह्वान करके उनसे धर्म के सत्य रूप की प्रतिष्ठा करने की प्रार्थना की—

जागो, गांधी पर किए गए नरपशु पतितों के वारों से,
जागो, मैत्री-निर्घोष ! आज व्यापक युगधर्म-पुकारों से।

जागो गौतम ! जागो महान !
जागो, अतीत के क्रांति-गान !
जागो, जगती के धर्म-तत्व !
जागो, हे ! जागो बोधिसत्व ![1]

'कस्मै देवाय' में वे इतिहास-लोक छोड़ कर वर्तमान में आए। प्रियदर्शन अतीत में शान्ति की खोज करने में असफल होकर उन्होंने वर्तमान की समस्याओं पर विचार आरम्भ किया। इसी कविता को कुरुक्षेत्र के छठे सर्ग की भूमिका माना जा सकता है, जहां कवि ने विज्ञान की तलवार से खेलने वाले मनुष्य की मूर्खता का उपहास किया है, उसके दुरुपयोग के मूल में मानव-समाज के नाश के बीज देखे हैं—कस्मै देवाय में उस परवर्ती विकसित विचार-धारा का प्रथम सूत्र मिलता है—

जो मंगल उपकरण कहाते
वे मनुजों के पाप हुए क्यों ?
विस्मय है, विज्ञान विचारे
के वर ही अभिशाप हुए क्यों ?[2]

इसी कविता में देशव्यापी किसान-आन्दोलन, साम्प्रदायिक दंगे, ब्रिटिश साम्राज्यवाद की आर्थिक शोषण नीति इत्यादि विषय उन्होंने ग्रहण किए, और लाखों कराहते हुए क्रौंचों की करुणा से प्रेरित कवि-वाणी को युग-वाणी में परिवर्तित करने की कामना प्रकट की—

लाखों क्रौंच कराह रहे हैं
जाग आदि कवि की कल्याणी ?
फूट फूट तू कवि कंठों से
बन व्यापक निज युग की वाणी।[3]

इसके अतिरिक्त 'कुरुक्षेत्र' के उस व्यापक मानवतावाद के बीज भी इस कविता में मिलते हैं जहां कवि, मस्तिष्क की दौड़ और प्रतियोगिता को त्याज्य तथा गर्हित घोषित करके, हृदय के गुणों पर आधृत समाज और विश्व की कल्पना करता है, वह विश्व जहां मनुष्य का श्रेय कटु और आग्नेय विज्ञान नहीं होगा, जहां हृदय-देश पीछे छूटा हुआ न होगा, जहां उसका श्रेय, प्रणय की वायु,

---

१. रेणुका, तृतीय संस्करण, पृष्ठ १९
२. रेणुका, पृष्ठ ३०
३. वही, पृष्ठ ३२

आंसुओं की धार, और आत्मा का किरण-अभियान होगा। इन्हीं मान्यताओं का पूर्व रूप हमें रेणुका की इन पंक्तियों में मिलता है—

खींच मधुर स्वर्गीय गीत से
जगती को जड़ता से ऊपर
सुख की सरस कल्पना सी तू
छा जाये कण-कण में भू पर।

क्या होगा, अनुचर न वाष्प हो
पड़े न विद्युत दीप जलाना,
मैं न अहित मानूंगा, चाहे
मुझे न नभ से पंथ चलाना।[1]

हिंसात्मक मार्ग की स्वीकृति

राष्ट्रीय-चेतना के इन विविध रूपों के अतिरिक्त दिनकर की 'मूल चेतना' का एक सूत्र रेणुका में भी मिलता है। सामान्यतः यह कहा जाता है कि रेणुका मे दिनकर इतिहास के मोह में ही फंसे रहे हैं, यथार्थ वर्तमान में उतर कर नहीं आये, परन्तु एक आध स्थल रेणुका में भी ऐसे है जिनसे यह प्रमाणित होता है कि विभिन्न प्रयोगों के बावजूद दिनकर की मान्यता एक विशिष्ट दिशा की ओर झुक रही थी, और वह थी स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए हिंसात्मक मार्गों की स्वीकृति की। उन दिनों बंगाल तथा बिहार, क्रान्तिकारी आन्दोलनों के मुख्य केन्द्र थे। दिनकर के भाव-प्रवण व्यक्तित्व पर उनकी उग्र नीति का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था, इसलिए गांधी पर पूर्ण श्रद्धा और आस्था रखते हुए भी गांधी की अहिसा नीति को पूर्ण रूप से वे कभी स्वीकार नहीं कर सके थे, हुंकार में उनकी यह नीति स्पष्ट और प्रखर रूप में व्यक्त हुई, 'रेणुका' में भी इस प्रकार के संकेतों का अभाव नहीं है। 'हिमालय' कविता की ये पंक्तियां इस कथन के प्रमाण रूप में ली जा सकती हैं। अध्यात्म और तप की अस्वीकृति और शौर्य तथा क्रान्ति की स्वीकृति हिमालय की इन पंक्तियों में व्यक्त है—

रे, रोक युधिष्ठिर को न यहां,
जाने दे उनको स्वर्ग धीर,
पर, फिरा हमें गांडीव-गदा,
लौटा दे अर्जुन-भीम वीर।

* * *

---

१. रेणुका, पृष्ठ ३३

तू मौन त्याग, कर सिंहनाद,
रे तपी ! आज तप का न काल ।
नव-युग-शंखध्वनि जगा रही
तू जाग, जाग, मेरे विशाल ।[1]

रेणुका की राष्ट्रीय-चेतना के विकास में उनकी 'बाग़ी' कविता का महत्व-पूर्ण स्थान है। इसकी रचना सन् १६२६ में हुई। सशस्त्र क्रान्ति की तैयारी करने के अभियोग में अंग्रेज सरकार ने यतीन्द्रनाथ दास, भगतसिंह, बटुकेश्वर दत्त और उनके बीसियों साथियों को जेल में बन्द कर रखा था। आज़ादी के इन दीवानों के साथ जेल में बहुत बुरा बर्ताव किया जाता था जिसके फलस्वरूप वहां के बन्दियों ने अनशन कर दिया। अनशन तुड़वाने के लिए सरकार ने उन पर जो जुल्म किए उससे सारे देश का वातावरण उत्तेजनापूर्ण हो उठा—माखनलाल चतुर्वेदी और मैथिलीशरण गुप्त जैसे वयस्क साहित्यकार भी क्षुब्ध हो उठे—फिर दिनकर तो उन दिनों जवान थे। १४ सितम्बर को यतीन्द्रनाथ शहीद हुए—उसी दिन रात भर जाग कर उन्होंने २०० पंक्तियों की एक लम्बी कविता लिखी जिसमें से आठ पंक्तियां 'युवक' में प्रकाशित हुईं। आश्चर्य की बात यह है कि इस प्रकार की अमानुषिक हत्या पर दिनकर का क्रोध नहीं, उनकी करुणा जागी, उनके आंसू ही बहते रहे, आक्रोश के स्वर में वे गरजे नहीं। 'रेणुका' की राष्ट्रीय चेतना में करुणा और अवसाद का स्वर केवल अतीत से सम्बद्ध कविताओं में ही नहीं वर्तमान परिस्थितियों से प्रेरित रचनाओं में भी मिलता है। समाधान के लिए वे बाहुबल अथवा मनोबल के स्थान पर ईश्वर की सहायता का सहारा लेते हैं, उनकी आवाज़ में निर्बल जाति के युवक की दबी, सहमी और रोती हुई आवाज़ की भर्राहट है। इस प्रकार मूलतः रेणुका की राष्ट्रीय भावना में या तो आक्रोश है जो प्रलय के स्वप्न देखता है—अथवा निर्बल जाति के युवक की करुणा और अवसाद है जो असहाय आंसू बहाता है। 'रेणुका' में उनकी राष्ट्रीय चेतना का प्रारूप बनता है, जिसकी रेखाएं आगे चल कर पूर्णरूप से काटपीट कर परिवर्तित कर दी जाती हैं। अतीत के मोह का स्थान वर्तमान राजनीतिक समस्याएं ले लेती हैं—ध्वंसक क्रान्ति में केवल शोर नहीं रह जाता, उसमें कर्मठता और क्रियाशीलता आ जाती है और अवसाद का स्थान विचार-संपुष्ट समर्थ आक्रोश ले लेता है।

यथार्थवादी कला-चेतना

'रेणुका' के प्रतिपाद्य विषयों की दूसरी प्रमुख धारा वह है जिसमें उनकी

---

१ रेणुका, पृष्ठ ७, ८

काव्य-चेतना कला के यथार्थ मूल्यों की ओर उन्मुख होती है। इस भाव-धारा की प्रतिनिधि कविताएं हैं 'कविता की पुकार', 'कला, तीर्थ और कवि'। दृष्टि-कोण अधिकतर राजनीतिक प्रतिपाद्य के आवरण में लिपटा हुआ है। कविता की पुकार में उनकी कविता छायावाद के स्वप्निल नील कुंजों से बाहर आकर, नालन्द और वैशाली के खण्डहरों से बाहर वनफूलों की ओर जाने की कामना करती है, कल्पना और इतिहास को छोड़ कर यथार्थ और वर्तमान से सम्बन्ध स्थापित करना चाहती है। शृङ्गार और वैभव से विमुख होकर तृण-कुटियों में प्रवेश करना चाहती है—

विद्युत छोड़ दीप साजूंगी, महल छोड़ तृण-कुटी प्रवेश
तुम गांवों के बनो भिखारी, मैं भिखारिणी का लूं वेश।

छायावाद की बौद्धिक कल्पना और अप्सरा-लोक को छोड़ कर वह गांव के सहज अकृत्रिम वातावरण में उतरना चाहती है—जहां स्वर्णांचला संध्या-श्याम परी खेतों में उतर रही हो, हरी घास को रोंदती हुई गाएं रोमन्थन करती हुई आ रही हों। वह ग्रामबाला के रूप, सौन्दर्य और सुहाग के गीत गाना चाहती है—

पनघट से आ रही पीतवसना युवती सुकुमार
किसी भांति ढोती गागर-यौवन का दुर्वह भार।
बनूंगी मैं कवि! इसकी मांग, कलश, काजल सिंदूर सुहाग।[1]

ऐसे स्थलों पर छायावादी अभिव्यक्ति की चित्रात्मकता और प्रकृति पर मानवीय भावनाओं के आरोपण की शैली तो प्रयुक्त हुई है, परन्तु समष्टि-मूलक प्रतिपाद्य के कारण उनकी दृष्टि व्यापक हो गई है। प्रकृति पर उदात्त भाव और जागरण के इस आरोपण में दिनकर की काव्य-चेतना एक नई दिशा की ओर बढ़ी है। जहां उसमें राष्ट्रीय कविता की उदात्त समष्टि-चेतना और छायावाद की चित्रात्मक और प्रतीकात्मक शैली का संगम हुआ है—

पहन शुक्र का कर्ण-फूल है दिशा अभी भी मतवाली,
रहते रात रमणियां आएं ले ले फूलों की डाली।
स्वर्ग-स्रोत, करुणा की धारा, भारत मां का पुण्य तरल
भक्ति अश्रुधारा सी निर्मल गंगा बहती है अविरल।
पुजारिन की बन कंठ-हिलोर, भिगो दूंगी अग जग के छोर।[2]

उनकी काव्य-चेतना उस निरक्षर ग्रामीण विरहिणी-बाला की दूती

१. रेणुका, पृ० १४
२. रेणुका, पृ० १४

बनना चाहती है, जो अपनी व्याकुल और व्यथित भावनाओं को प्रिय तक भेजने में असमर्थ है—

भैया ! लिख दे एक कलम खत मों बालम के जोग
चारों कोने खेम-कुसल मांझे ठां मोर वियोग
दूतिका मैं बन जाऊंगी, सखी ! सुधि उन्हें सुनाऊंगी।

वह वनफूलों के भावनात्मक और कोमल पक्षों को ही समेट कर नहीं चलती, श्रमकणों से नहाए हुए, सूखी रोटी खाकर भूख बुझाने वाले कृषक के लिए गंगाजल भी बनना चाहती है, वैषम्यों से त्रस्त कृषकों की व्यथा और वेदना की सहभागिनी बनना चाहती है—

ऋण-शोधन के लिए दूध-घी बेच बेच धन जोड़ेंगे,
बूंद बूंद बेचेंगे, अपने लिए नहीं कुछ छोड़ेंगे।
शिशु मचलेंगे दूध देख, जननी उनको बहलाएगी,
मैं फाड़ूंगा हृदय, लाज से आंख नहीं रो पाएगी।
इतने पर भी धनपतियों की उन पर होगी मार
तब मैं बरसूंगी बन बेबस के आंसू सुकुमार
फटेगा भू का हृदय कठोर, चलो कवि बनफूलों की ओर।[1]

('दिनकर' की काव्य-चेतना, कल्पना और आदर्श से यथार्थ की ओर अग्रसर हुई है)। 'कला-तीर्थ' में मानों इसी विकास का विश्लेषण किया गया है। पूर्णचंद्र चुम्बित निर्जन वन, सुन्दर शैल-प्रान्त में जहां शुक्र का कर्णफूल धारण किए हुए मुक्त-कुन्तला दिशा-सुन्दरी अवनि और अम्बर को मिला रही थी, कवि को चिर सुकुमार सौन्दर्य के दर्शन होते हैं, वह सौन्दर्य जो अस्फुट यौवन का मधु, तरुणी का दृग-मद और कलिका का विकास बनता है, जिसकी दृष्टि में जीवन, केवल प्रेम, आकर्षण, और तृषा है, तरुणी के अधरों और आंखों का रस ही जहां आनन्द का स्रोत है जो जीवन को मादक और उल्लासपूर्ण बना देता है। काव्य-तीर्थ का यात्री उससे अभिभूत हो—दूसरे मार्ग पर चलता है—जहां पग-पग पर पाषाण-शिलाएं रास्ता रोकती हैं, कंटीली झाड़ियां वस्त्रों में उलझती हैं, पृथ्वी के यथार्थ को झेलते हुए जहां आकाश में खिली हुई चांदनी पर दृष्टि नहीं जाती, वहीं कवि को कर्तव्य-भावना के दर्शन होते हैं। एक युवक श्रम में रत फावड़ा चलाता हुआ जीवन के शुष्क पथरीले मार्ग को अपनी भुजाओं के बल पर रस-सिक्त करता आगे बढ़ता है, पथ के कांटों

---

१. रेणुका

को अलग कर बाधाओं पर विजय प्राप्त कर जो निर्भय मुस्काता रहता है। इस कर्मशील युवक की उक्ति है—

सुन्दरता पर कभी न भूलो,
शाप बनेगी वह जीवन में।
लक्ष्य विमुख पर भटकाएगी,
तुम्हें व्यर्थ फूलों के वन में।

और कवि के सामने यह प्रश्न उठ खड़ा होता है—

'सुन्दरता या सत्य श्रेष्ठ है ?'
उठने लगा द्वन्द्व पग-पग पर

उत्तर भी उनके पास है ; यह उत्तर केवल सैद्धान्तिक या तात्कालिक नहीं है, उसमें दिनकर की काव्य-चेतना के भावी विकास का संकेत निहित है। सुन्दर के बाद दिनकर सत्य की ओर मुड़े हैं अथवा यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि काव्य-विकास की अन्तिम मंजिल तक वे सुन्दर और सत्य को साथ लेकर चले हैं। 'उर्वशी' और 'परशुराम की प्रतीक्षा' क्रमशः सुन्दर और सत्य के ही सहअस्तित्व के प्रमाण हैं—

सुन्दरता आनन्द-मूर्ति है,
प्रेम-नदी मोहक, मतवाली
कर्म कुसुम के बिना किन्तु, क्या
भर सकती जीवन की डाली ?
सत्य सींचता हमें स्वेद से,
सुन्दरता मधु-स्वप्न लहर से ![1]

कला तीर्थ का तीसरा मार्ग—गंध फूल, दूर्वामय प्रान्त, राशि-राशि वन फूलों से भरा हुआ—वहीं एक बिन्दु पर दो मार्ग मिलते हैं जिसमें संगम पर कला-भवन स्थित है—महाज्ञान के चिरन्तन आलोक की विमल प्रभा फैल रही थी जिसकी दीवारों पर स्वर्णाक्षरों में अंकित है—

'सत्य भ्रमर सुन्दरता गुंजन'।[2]

प्रेम और सत्य के समन्वय और लय में ही उन्हें सच्ची कला के दर्शन होते हैं। ये दोनों तत्त्व अन्योन्याश्रित और एक-दूसरे के पूरक हैं। प्रेम सत्य की प्रथम प्रभा है और सत्य के आलोक से प्रेम का अस्तित्व है। सत्य और सुन्दर के इसी समन्वय में 'आनन्द' निहित है, सुन्दर का नैसर्गिक और अपार्थिव धरातल सत्य

---

१. रेणुका, पृ० ८०
२. रेणुका, पृष्ठ ८१

के कठोर पार्थिव को देवत्व के निकट ले जाता है। महा सत्य जब भावुक सुन्दर से मिलता है तभी कला तीर्थ का पुण्य प्राप्त होता है। इन कविताओं के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'रेणुका' में ही दिनकर की काव्यगत मान्यताएं स्पष्ट होने लगी थीं, वे सुन्दर से सत्य की ओर बढ़ने की कोशिश कर रहे थे। सत्य ने उन्हे 'समय' की ओर प्रेरित किया और सुन्दर ने 'रसवंती' और 'उर्वशी' की ओर।

निवृत्ति-मूलक वैयक्तिक चेतना—जीवन से पलायन

रेणुका के प्रतिपाद्य का तीसरा मुख्य सूत्र है निवृत्ति-मूलक वैयक्तिक चेतना का। जीवन के प्रति यह निराशावादी दृष्टिकोण दिनकर को भारतीय संतों के दुखवादी दर्शन और साधु-संन्यासियों के चक्कर में पड़ने के कारण प्राप्त हुआ। रेणुका के अनेक गीतों मे उन्होंने जीवन की नश्वरता के गीत गाए है। इस मनःस्थिति में उन्हें फूल खिलने के स्थान पर बिखरते हुए ही दिखाई पड़ते हैं। सृजन में संहार, मैत्री में कपट, मादकता और सुन्दरता में नश्वरता देखने वाले इस युवा कवि की मनः स्थिति उस समय सचमुच ही अस्वस्थ और चिन्ताजनक रही होगी। इन रचनाओं के लिखने के समय उनकी आयु लगभग चौबीस-पच्चीस साल की थी। चढ़ती उम्र के युवक की इस निराशावादी दृष्टि के औचित्य का विश्लेषण जरा कठिन जान पड़ता है। उनमें जीवन से भागने और बचने की प्रवृत्ति है। 'उर्वशी' के लेखक की 'मेनका से बचने' की चेतावनी पढ़कर इस परिवर्तन का इतिहास जानने की उत्सुकता होना स्वाभाविक है—

'यहां मेनका की चितवन पर मत ललचाना परदेशी'[1]

अस्वस्थ, असंतुलित और रुग्ण जीवन-दृष्टि

अपने जीवन की कटुताओं और नैराश्य से ऊबने पर व्यक्ति की दृष्टि कुंठित और विकृत हो जाती है, उसमें एक प्रकार की हीन भावना आ जाती है, जिससे बाध्य होकर व्यक्ति संसार के क्षुद्र कीट-पतंगों को भी अपने से अच्छा मानने लगता है। दिनकर अपने आत्मविश्वास और तेजस्विता के कारण अपने चारों ओर के वातावरण में सब से आगे रहते थे। विद्यार्थी जीवन में इस हीन भावना की ग्रन्थि के पड़ने का कोई कारण नहीं था। ग्रामीण वातावरण से नगर में आने पर भी उनमें किसी प्रकार की हीन भावना नहीं आई थी। हां, अपने व्यावसायिक जीवन से वे हमेशा ही असन्तुष्ट रहे। रहने का कारण भी था। साधारण किसान परिवार के होने के कारण बड़े पदों पर नियुक्ति के अभि-

---

१. रेणुका, पृष्ठ ८५

शंसा-पत्र को प्राप्त नहीं कर सकते थे, उनका अहं और आत्मसम्मान किसी के सामने झुकने को तैयार नहीं था। उनके शब्दों में 'मेरा आत्मसम्मान ही ग़रीबी के दिनों में मेरा सबसे बड़ा धन था'। ऐसी स्थिति में साधारण बाह्य परिस्थितियों में उनकी घुटती हुई प्रतिभा रेणुका के इन गीतों में व्यक्त हुई है। यह वह मनःस्थिति है जहां व्यक्ति नियति के हाथों का खिलौना और अपनी परिस्थितियों का दास मात्र रह जाता है। सामान्य व्यक्ति उसे स्वीकार कर लेता है, परन्तु प्रतिभावान और अहंवादी का सामंजस्य इन परिस्थितियों के साथ आसानी से नहीं होता। दिनकर के व्यावसायिक असन्तोष के साथ ही भावनात्मक असन्तोष भी जुड़ा हुआ था। सरकारी नौकरी उनके लिए एक विवशता थी, लेकिन उनके व्यक्तित्व को यह विवशता स्वीकार करने के लिए हर समय संघर्ष करना पड़ता था, हृदय और मस्तिष्क का द्वन्द्व उनके जीवन का अंग बन गया था, इसी द्वन्द्व की पहली प्रतिक्रिया निराशामूलक रही, जिसने दिनकर को निवृत्ति की ओर ढकेला। अन्ततोगत्वा बाह्य परिस्थितियों ने उनके जीवन-दर्शन का निर्माण नहीं किया, परन्तु इन गीतों में तो बाह्य परिस्थितिजन्य अवसाद ही उनके जीवन पर छा गया है। एक बात और ध्यान में रखने की है कि यह पलायन किन्ही नैतिक आदर्शों और दार्शनिक मान्यताओं द्वारा प्रेरित नहीं है। इस अन्धकार से निकल कर 'कुरुक्षेत्र' के स्वस्थ दर्शन का निर्माण वास्तव में एक बड़े कठिन संघर्ष और दृढ़ विचार-शक्ति का द्योतक है।

इस वैयक्तिक निवृत्ति की प्रतिनिधि कवितायें हैं, 'परदेशी', 'मनुष्य', 'उत्तर में', 'जीवन-संगीत' और 'वैभव की समाधि पर'। इन सभी कविताओं में उनकी दृष्टि श्मशान, चिता, कब्रों और खण्डहरों पर जा कर अटक गई है, मृत्यु और नाश के उपकरण उनके लिए सत्य बन गए हैं और जीवन के तन्तु सारहीन। कहीं-कहीं पर इस असारता के प्रति उनकी दृष्टि में किशोर-काल्पनिकता का तत्व अधिक हो गया है, और यह सारा दुःखवाद एक संवेदनशील युवक का दिवास्वप्न-सा जान पड़ने लगता है। जैसे—

मैं न रुकूंगा इस भूतल पर
जीवन, यौवन प्रेम गंवा कर,
वायु, उड़ा कर ले चल मुझको
जहां कहीं इस जग से बाहर।[1]

---

१. रेणुका, पृ० ८६—दिनकर

इसी प्रकार मनुष्य के दुखोपाख्यान पर आंसू बहाते हुए उन्होंने उसे खग, मृग, कुसुम, नदी विभोर सबसे निकृष्ट करार दिया है। प्रकृति के जड़-चेतन उपकरणों की स्वच्छन्दता ही इन पंक्तियों में संघर्षशील जीवन की ऊब से कुंठित कवि की ईर्ष्या का विषय बनी है, परन्तु यहां भी दुःख काल्पनिक अधिक है अनुभूत कम—

खग-मृग आनन्द विहार करें,
तृण तृण झूमें सुख में विभोर,
हम सुख-वंचित, चिन्तित उदास
क्यों निशि-बासर श्रम करें घोर।[1]

ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अवशेष भी उन्हें अनेक बार भौतिक जीवन की नश्वरता और निस्सारता की ओर इंगित करते जान पड़ते हैं। जिधर भी उनकी दृष्टि जाती है उन्हें सर्वत्र ग्लानिमयी निवृत्ति, और पलायन का कुत्सित क्रम ही दिखाई देता है। दिनकर की इस मनःस्थिति को, उस श्रमित, विजित और पराजित बुद्धि का भ्रम कहा जा सकता है, जिसका निराकरण उन्होंने 'कुरुक्षेत्र' में किया। उनके मन पर हर पल अनित्यता छाई रहती है, नश्वरता को छोड़कर और कुछ उन्हें दिखाई ही नहीं पड़ता। उनकी दृष्टि जीवन में कटुता और अवसान ही देखती है। प्रकृति में वे तुहिन-कणों की करुण कहानी पढ़ते हैं, कलियों का वसंत नहीं पतझड़ देखते हैं, तारों के अस्त पर उनकी दृष्टि जाती है, उदय पर नहीं—

वैभव का उन्माद, रूप की यह कैसी नादानी?
उसे! भूल जाना न ओस की करुणामयी कहानी।
जरा देखना गगन-गर्भ में तारों का छिप जाना;
कल जो खिले आज उन फूलों का चुपके मुरझाना।[2]

'जीवन-संगीत' कविता में उनकी दृष्टि मृत्यु और नाश पर ही टिकी रही है। संत कवियों के दुखवाद और साधु-संन्यासियों के चक्कर के कारण उन्होंने कंचन और कामिनी की निरर्थकता के गीत गाए है।

नारी का शुभ्र सौन्दर्य अपनी निस्सारता के कारण उनके लिए निरर्थक है, उनके लिए बस अनस्तित्व की ही सत्ता है और सब कुछ झूठ है। निष्कर्म बुद्धि की इस क्षिप्र लहर ने इस युवक कवि के हृदय को स्पर्श कर उसका आनन्दहास, और प्रगतिमय कम्पन सब कुछ हर लिया है, सौन्दर्य, तेज, सुख,

---

१. रेणुका, पृ० ८८
२. वही, पृ० ६१

उत्साह सबसे रहित, दिनकर एक दुर्बल दीन और दीप्तिहीन व्यक्ति के रूप में शेष रह गए हैं जो अहर्निश विद्रूप मरण का ही ध्यान करते रहते हैं।

रमणी के रूप, प्रणय के आह्लाद, जीवन के सुख पीछे पड़ जाते हैं और वे केवल सर्वनाश तक मृत्यु का संगीत ही सुन सकते हैं—

और गाल के फूलों पर क्यों तू फूली अलबेली ?
बिना बुलाए ही आती होगी वह मौत सहेली।
दो दिन प्रिय की मधुर सेज पर कर लो प्रणय-विहार सखी
चखना होगा तुम्हें एक दिन महाप्रलय का प्यार सखी।[1]

जीवन पीड़ाओं का दूसरा नाम है। मानव हृदय की तन्त्री के राग मिथ्या है, मृत्यु सत्य, जीवन चार दिन की चांदनी है, मृत्यु का अन्धकार सत्य है—प्रलय सत्य है, सर्वनाश की आग सत्य है।

'समाधि के प्रदीप' कविता में भी रोते हुए इतिहास के आंसुओं को साकार किया गया है। शाहजहां और मुमताज, जहांगीर और नूरजहां के प्रणय की सुनहरी मदिरा, सिहरते, शरमीले चुम्बन, मुहब्बत की चार आंखों का अवशेष है समाधि का वह प्रदीप जो विश्व-वैभव के अभिनय के उपसंहार के समान है। यहां भी नाश, प्रलय और क्षण-भंगुरता का आतंक और भय कवि पर छाया हुआ है—

हँसते हो, हां हँसो, अश्रुमय है जीवन का हास,
यहां श्वास की गति में गाता झूम-झूम कर नाश,
क्या है विश्व ? विनश्वरता का एक चिरन्तन राग,
हँसो, हँसो, जीवन की क्षणभंगुरता के इतिहास।[2]

'वैभव की समाधि पर' कविता मे भी, आंसू, कफ़न, चिता, श्मशान, मृत्यु, कब्र और खण्डहरों के गीत गाए गए हैं, इस अवसाद की चरम स्थिति उन पंक्तियों में देखी जा सकती है जहां छब्बीस वर्षीय युवक कवि अपने अवसान की कल्पना करता है—कहने की आवश्यकता नही है कि यह भी उसकी किशोर कल्पनाओं और कुंठित दिवास्वप्नों का ही परिणाम है। एक रोमान्टिक दुखद भावना से अपने को आवेष्ठित करते हुए वह अपने अहं को तुष्ट करना चाहता है। अपने महत्व की स्थापना करना चाहता है ; आज के प्रौढ़, प्रवृत्तिवादी और कर्मवादी दिनकर को अपनी इन पुरानी मूर्खताओं पर हँसी तो जरूर आती होगी—

---

१. रेणुका, पृष्ठ ९१
२. रेणुका, पृ० १००

'अमा-संध्या' और 'याचना' जैसे गीतों में प्रकृति के प्रति जिज्ञासा और अचरज भरी दृष्टि तथा उसमें निहित रहस्य-तत्व की व्याख्या की गई है। 'अमा-संध्या' में कवि प्रकृति के गोचर रूप में अगोचर सत्ता की अनुभूति करता है, उस अनुभूति में विस्मय और अचरज दोनों ही हैं। उनकी चित्र-कल्पना पर भी छायावादी शैली का प्रभाव स्पष्ट है। जैसे—

नीलिमा-सलिल में अमा खोल
कलिका-गुम्फित कबरी-बन्धन,
लहरों पर बहती इधर-उधर
कर रही व्योम में अवगाहन
रुनझुन रुनझुन किसका शिंजन ?
यह भुवन-प्राण-तन्त्री का स्वन ?
लघु तिमिर वीचियों का कम्पन ?
इस अमा हृदय का क्या गुनगुन ?
किस विरह गीत का स्वर उन्मन ?
रुनझुन रुनझुन किसका शिंजन ?[1]

छायावाद की रूमानी कल्पना ने जहां-जहां दर्शन को छुआ, अधिकतर उसके रहस्यात्मक पक्ष को ही ग्रहण किया। उपर्युक्त कविता में दिनकर के सामने भी वैसी ही जिज्ञासा और वैसे ही प्रश्न हैं। नीरव, प्रशांत अमा-संध्या के समय मौन विश्व में किसके कंकण की झनक भर जाती है, किसकी किंकिणी की ध्वनि मुखरित होती है। 'याचना' में उन्होंने भी 'अज्ञात प्रियतम' के प्रति आत्म-निवेदन किया है, उससे याचना की है—

दृग बंद हों तब तुम सुनहले स्वप्न बन आया करो,
अमितांशु ! निद्रित प्राण में प्रसरित करो अपनी प्रभा।
प्रियतम ! कहूं मैं और क्या ?[2]

कुछ कविताओं में प्रकृति के उपकरणों को आलम्बन रूप में भी ग्रहण किया गया है जिनमें मुख्य हैं 'फूल' और 'कोयल'। इन दोनों ही कविताओं में प्रकृति के चेतनीकरण और मूर्तिकरण के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं।

छायावाद से प्रभावित इन सभी कविताओं का दिनकर की कला-चेतना के विकास में महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि छायावाद युग के पहले हिन्दी की राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना से प्रेरित कविताएं उपदेशप्रधान, विवरणात्मक और वर्ण-

---

१. रेणुका, पृष्ठ ६७
२. वही, पृष्ठ ६६

नात्मक होती थीं। उन उद्बोधनों और चेतावनियों में कला की रंगीनी नहीं थी। छायावादीयुगीन राष्ट्रीय कवियों ने राष्ट्रीय कविता को उपदेश और उद्बोधन की नीरसता से निकाल कर अनुभूति की शक्ति प्रदान की और जनता के साथ हिन्दी कविता का सम्बन्ध स्थापित किया। दिनकर उनमें सर्वप्रमुख थे। इनके अतिरिक्त आगे चल कर दिनकर की चित्रकला छायावादी चित्र-कल्पना की अस्पष्ट सांकेतिक धूमिलता का निराकरण करके स्पष्ट और संतुलित चित्र-कल्पना का रूप ग्रहण करती है। उदाहरण के लिए 'उर्वशी' की चित्र-कल्पना में छायावादी चित्र-योजना द्विवेदीयुगीन स्पष्टता के साथ अंकित मिलती है।

शृंगार तथा नारी-भावना

रेणुका के प्रतिपाद्य-विषय का अन्तिम और पांचवां सूत्र है शृङ्गार तथा नारी-भावना। रेणुका में शृङ्गारपरक कविताएं एक दो ही हैं। 'प्रेम का सौदा' कविता इसके उदाहरण रूप में ली जा सकती है। इस कविता का रचनाकाल है सन् १६३५ ई०। अहं का पूर्ण विगलन, तथा पूर्ण समर्पण ही इस कविता के अनुसार प्रेम का सच्चा रूप है—

प्रेम-रस पीकर जिया जाता नहीं।
प्यार भी जो कर किया जाता नहीं।
चाहिए उर-साथ जीवन-दान भी
प्रेम की टीका सरल बलिदान ही।[1]

दिनकर की नारी-भावना तथा नारी और पुरुष के सम्बन्ध-विश्लेषण की दृष्टि से रेणुका की राजा-रानी कविता महत्वपूर्ण है। यह कहना अनुचित न होगा कि यहां दिनकर की काव्य-चेतना के उस अंश का प्रथम सूत्र मिलता है जिसकी चरम परिणति उर्वशी में हुई है। कविता के आरम्भ में ही पुरुष और नारी के लिए दो बड़े विशेषणों का प्रयोग हुआ है 'राजा वसन्त, वर्षा ऋतुओं की रानी' वसन्त और वर्षा; एक उल्लास, हास, जीवन और विश्वास का प्रतीक, दूसरी आंसू की। नारी के भाग्य में आकुल अन्तर और अश्रु ही लिखे हैं, इसी आंसू से सींच-सींच वह पुरुष के जीवन को हरा बनाती है। पुरुष के सुख के मूल में नारी का समर्पण और त्याग होता है। सीता और शकुन्तला के आख्यान के समावेश द्वारा प्रेम के मर्यादित और अमर्यादित दोनों रूपों के मूल में नारी की वेदनायुक्त भाग्यलिपि की ओर इंगित किया गया है। अपनी मर्यादा के निर्वाह और कीर्तिलता के प्रसार के लिए सीता को दिए गए 'अग्निविधान और

१. रेणुका, पृष्ठ १२

निष्कासन' जैसे अन्यायपूर्ण दण्ड के औचित्य को कौन स्वीकार कर सकता है ? दूसरी ओर, द्वापर की भोली शकुन्तला की व्यथा को भी शब्दों में उतारा गया है—

प्याली थी वह विष-भरी, प्रेम में भूली,
पी गई जिसे भोली तुम लता-भवन में ।[१]

माधवी-कुंज की मादक प्रणय-कहानी उसके नयनों में आंसू बन कर छा गई, लेकिन पुरुष के दोष और मालिन्य इन्हीं आंसुओं से धुल कर निखरते हैं। नारी का भाग्य है, 'आंसू से मोती बीज बोना'—यही उसकी और उसके जीवन की सार्थकता है—

रानी ! विधि का अभिशाप यहां ऊसर में
आंसू से मोती बीज तुम्हें बोना है ।[२]

स्त्री पुरुष की प्रेरणा है । अनजाने ही वह उसके भ्रू-इंगित पर घूमता रहता है । पुरुष नव वसन्त का कुसुम है तो नारी उसकी लालिमा । पुरुष पावस नभ है तो स्त्री उस पर छाई हुई सजल मतवाली घटा । राजा की सूनी दुनिया में रानी सोने की जाली बुनती है । नारी के रूप, सौन्दर्य, मधु और दीप्ति की प्रेरणा से पुरुष का जीवन सौरभ और माधुर्य से भर जाता है, उसकी मुस्कराहट से पुरुष के मार्ग का अन्धकार मिट जाता है, वह अबाध और निर्भय जीवन-मार्ग पर अग्रसर हो जाता है । नारी विद्युत-शक्ति बन कर सैनिकों के गिरते हुए नवजीवन का संचार कर देती है । हल्दीघाटी में राजपूत सैनिकों के गर्जन और हुंकार के साथ ही जौहर की ज्वाला भी प्रज्ज्वलित हो उठी । राष्ट्र की वेदी पर भी नारी और पुरुष प्रेरणा बन कर एक-दूसरे को शक्ति प्रदान करते हैं—

राजा की स्मृति बन ज्योति खिली जौहर में,
असि चढ़ चमकी रानी की विभा समर में ।[३]

इस शृङ्गार-भावना और नारी-भावना का विकास 'रसवन्ती' की अनेक कविताओं में हुआ । रेणुका की इस कविता को भी हम दिनकर की नारी-भावना का प्रयोगकालीन रूप ही मान सकते हैं । नारी के प्रति उनकी दृष्टि अभी प्रायः परम्परागत ही है यद्यपि उनकी धारणाओं में शाश्वत सत्यों और मूल्यों की स्थापना हुई है ।

---

१. रेणुका, पृष्ठ ४३
२. वही
३. वही, पृष्ठ ४४

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि रेणुका में दिनकर की 'निर्झरिणी' का उद्गम छोटी-छोटी कई धाराओं के साथ हुआ, 'शैल महाकवि' के मानस से विभिन्न स्रोत फूटे, पर रेणुका के बाद ही उनकी दिशा और संख्या निश्चित हो गई। समष्टि-जन्य राष्ट्रीय चेतना को मुख्य रूप से हुंकार, कुरुक्षेत्र, सामधेनी बापू, और परशुराम की प्रतीक्षा में अभिव्यक्ति मिली। वैयक्तिक चेतना पहले द्वन्द्व गीत की निवृत्ति और रसवन्ती के रस की ओर मुड़ी। द्वन्द्व गीत के बाद निवृत्ति का स्वर समाप्त हो गया और उनकी काव्य-धारा के केवल दो रूप रह गए (१) राष्ट्रीय कविता (२) शृङ्गार-कविता। दिनकर की सांस्कृतिक और सामाजिक काव्य-चेतना का अन्तर्भाव बड़ी आसानी से राष्ट्रीय चेतना के अन्तर्गत किया जा सकता है, इसलिए अब उनकी काव्य-चेतना के विकास का निरूपण विभिन्न कृतियों के आधार पर अलग-अलग न करके समग्र रूप में विशिष्ट भावधारा के विकास और इतिहास के रूप में प्रस्तुत किया जाएगा।

समष्टि-चेतना के मूल्यों का स्थिरीकरण

दिनकर की राष्ट्रीय चेतना के मूल्यों का स्थिरीकरण पहली बार 'हुंकार' में हुआ। 'रेणुका' में उनकी काव्य-चेतना इतिहास के खण्डहरों और संस्कृति के अवशेषों पर रो रही थी, अब जैसे बीते हुए पर रोने की व्यर्थता को समझ कर उसने वर्तमान से अपना सम्बन्ध स्थापित किया। नीतिवान ज्ञानी की तरह बीती को बिसार कर उसने आगे की सुधि ली। ब्रिटिश साम्राज्यवाद और भारतीय जनता के विकट संघात से उद्वेलित होकर दिनकर की काव्य-चेतना अग्नि की चिनगारियों से अपने स्वप्न सजाने को आगे बढ़ी, वह स्वप्न जिसमें सिन्धु का गर्जन, और प्रलय की हुंकार थी, जहां बंधा तूफ़ान रास्ता पाने के लिए विकल था, जहां मौन हाहाकार विश्व को हिला देने को व्यग्र हो रहा था। अब, दिनकर, 'नवल उर में विपुल उमंग भर कल्पना की मधुरिमा से मंडित पुलकित राजकुमार' नहीं रह गए थे, अब तो वह क्रान्ति की विभा से आलोकित ज्योतिर्धर थे, जिनके भावों और कल्पना की अरुणिमा ने धरती के अन्धकार को चुनौती दी—

जड़ को उड़ने की पांख दिए देता हूं,
चेतन के मन को आंख दिए देता हूं।
स्वर को कराल हुंकार बना देता हूं,
यौवन को भीषण ज्वार बना देता हूं,
शूरों के दृग अंगार बना देता हूं,
हिम्मत को ही तलवार बना देता हूं,

लोहू को देता हूं वह तेज रवानी,
जूझती पहाड़ों से अभय जवानी ।[1]

हुंकार की कविताओं के प्रतिपाद्य की दृष्टि से उसके मुख्य चार विभाग किए जा सकते हैं ।

१. द्वन्द्वमूलक कविताएं ।
२. ओज और आक्रोश से युक्त राष्ट्रीय कविताएं ।
३. विचारात्मक कविताएं ।
४. यथार्थवादी तथा समसामयिक घटनाओं और स्थितियों पर आधारित कविताएं ।

प्रथम वर्ग की रचनाओं को राष्ट्रीय-कविताओं के अन्तर्गत रखने के औचित्य पर प्रश्न उठाया जा सकता है । लेकिन, ये कविताएं कवि के उस अन्तःसंघर्ष की द्योतक हैं, जब उनकी समष्टि चेतना और वैयक्तिक सौन्दर्य-चेतना में होड़ चल रही थी । कवि-जीवन के प्रारम्भिक चरण में छायावाद के प्रभाव से दिनकर पर 'सुन्दर' का आग्रह काफी प्रबल था, 'असमय आह्वान' तथा 'साधना और द्विधा' जैसी कविताएं 'सुन्दर और शिव' के संघर्ष की द्योतक हैं, जो दिनकर के व्यक्ति और समष्टि चेतना की थाह ले रहा था, उनकी परीक्षा की कसौटी बन रहा था । हुंकार की पहली कविता है 'असमय आह्वान' । युवा कवि के सौन्दर्यवादी संस्कार उसे जीवन के आकर्षणों की ओर ले जाते हैं, उसकी चेतना रजनीबाला के रत्नगुम्फित कच-जाल और चरण-मंजीर की मधुर ध्वनि पर अटक कर प्रकृति के मादक सौन्दर्य और शृङ्गार के रसभोग की आकांक्षी है, परन्तु समय उसे आवाज़ देता है, क्रान्ति का दूत निमन्त्रण लेकर पहुंच जाता है, कवि अपने मन के द्वन्द्व के कारण लज्जित नहीं है, अपने राग के प्रति उसकी वैसी ही निष्ठा है जैसी समय की मांग के प्रति । कर्मसंकुल दिवस के श्रम के उपरान्त नए सुकुमार स्वप्नों, कल्पना के मोहक उपकरणों के प्रति उसके मन में मोह है । अपने अरमानों, अपनी चाहों को तोड़-मरोड़ कर फेंकने में उसे कातरता होती है । कामनाओं और भावनाओं के नूतन त्योहार की मधुमयी पीड़ा उसकी निधि है—परन्तु क्रान्ति के दारुण, कठोर और निष्ठुर आह्वान पर वह अपनी समस्त कल्पनाओं, मधु-स्वप्नों और आकांक्षाओं के संसार को मिटा कर युद्ध का भैरवगान गाने की घोषणा करता है, भावना पर कर्तव्य की, व्यक्ति पर युग-धर्म की और सौन्दर्य पर शिव की विजय होती है—

---

१. हुंकार, पृष्ठ १६

फेंकता हूं लो, तोड़-मरोड़
अरी निष्ठुरे ! बीन के तार;
उठा चांदी का उज्ज्वल शंख
फूंकता हूं भैरव-हुंकार ।
नहीं जीते-जी सकता देख
विश्व में झुका तुम्हारा भाल;
वेदना-मधु का भी कर पान
आज उगलूंगा गरल अकाल ।[1]

इसी मन:स्थिति को व्यक्त करने वाली दूसरी कविता है 'साधना और द्विधा'। वासन्ती चांदनी और पुरवैया के मादक वातावरण में पुलिन पर बैठा कवि साधना में लीन है। प्रकृति के विभिन्न उपकरण उसे अपनी भावनाओं की कहानी बताते हैं, उसके सामने अपनी व्यथा और रहस्य का उद्घाटन करते हैं। तभी पृथ्वी की कहानी स्थूल-नग्न यथार्थों से भरी कवि के मन में द्विधा उत्पन्न करती है—

पर, इस भरे जग में गरीबी का हितू कोई नहीं
चढ़ती किसी की बूट पर पालिश किसी के खून की
जीवित मरालों की चिता है सभ्यता की गोद में।[2]

कवि विस्मित और चकित है कि उसकी बंसी किस ध्वनि का उच्चार करे, प्रकृति के सुन्दर काल्पनिक रहस्यों का, अथवा मानवता की पीड़ा और कराह का।

आक्रोशपूर्ण क्रान्ति-चेतना

['हुंकार' की कविताओं का दूसरा वर्ग है उन राष्ट्रीय कविताओं का जिनमें क्रान्ति और आक्रोश का स्वर प्रधान है ; जहां कवि अपने युग के युवकों के उबलते हुए खून को स्वर देता है। उनकी वाणी को प्रलय का गर्जन देता है, जहां वह विद्रोह के गीत गाता हुआ तूफान का आह्वान करता है। परन्तु अब यह तूफान 'रेणुका' के 'ताण्डव' के समान केवल ध्वंस और नाश का ही संदेश नहीं देता। उसके पीछे एक राजनीतिक पृष्ठभूमि है, जनता के हृदय की ज्वाला है जो अत्याचार और अनाचार को चुनौती देती है। इस वर्ग की प्रतिनिधि कविताएं हैं—स्वर्ग-दहन, आलोकधन्वा, चाह एक, दिगम्बरि, अनल किरीट, भीख और विपथगा।

'स्वर्ग दहन' और 'आलोकधन्वा' सामान्यत: क्रांति युग के जाज्वल्यमान

१. हुंकार, पृष्ठ १०
२. वही, पृष्ठ ८१

पौरुष तथा विशेषत: दिनकर के प्रबल आक्रोश से भरे हुए शक्तिशाली कवि-व्यक्तित्व के प्रतीक हैं। दोनों ही कविताओं में मृत्तिकापुत्र स्वर्ग की अतुल शक्ति और विवस्वान के अमित तेज को ललकारता है। उसके मानस में वह्नि कुण्ड का दाह है परन्तु वह दाह केवल नाश और विध्वंस के लिए नहीं है। उसमें निर्माण का संकेत विद्यमान है। त्रस्त भारतीय मानस की करुणा को वाणी देने के लिए जब वे अपनी काव्य-वंशी में प्राण फूंकते हैं उनका स्वर करुण न रह कर रौद्र बन जाता है, उनके शब्दों से क्रान्ति की लपटें छूटती हैं—

दिव-दाह देखना किसी काल मेरा न ध्येय,
अपरार्क कहा लेना न चाहता मृषा श्रेय।
वंशी पर मैं फूंकता हृदय की करुण हूक,
जाने, क्यों शब्दों से उठती है लपट लूक।[1]

'आलोकधन्वा' में क्रान्तियुगीन युवा-कवि की ज्वलन्त कहानी कही गयी है। इस कविता में एक ओर जागरण युग की चेतना और क्रान्ति के आलोक से प्रज्ज्वलित भारतीय मानस की कहानी है और दूसरी ओर क्रान्ति-द्रष्टा दिनकर के ओज और आलोक की अभिव्यक्ति है। सम्पूर्ण कविता में दिनकर की प्रखर दीप्ति एक रूपकमयी भाषा में वर्णित है। आलोकधन्वा क्रान्ति के दिशा-निर्देशक का प्रतीक है। दीर्घकालीन सुप्तावस्था के बाद भारत में चेतना की लहर आई थी परन्तु दिनकर के आविर्भाव तक युग केवल अंगड़ाइयां ले रहा था, विभा की मन्द किरणें प्रभात का संकेत मात्र दे रही थीं, राजनीतिक आन्दोलन में उग्रता और प्रखरता कम, जागृति-जन्य चेतना ही अधिक थी। राजनीति और राष्ट्र के उग्र और प्रखर तत्व पृष्ठभूमि में पड़े थे, उनका महत्त्व गौण माना जाता था। विभा की चेतना को मध्याह्न की प्रखरता में परिणत करने का कार्य दिनकर को करना था, यही अभीष्ट लेकर उन्होंने क्रान्ति की प्रभाती गाना आरम्भ किया। क्रान्ति युग के कवि के तेज का चित्र उन्होंने इस प्रकार खींचा—

मेरा शिखण्ड अरुणाभ, किरीट अनल का
उदयाचल पर आलोक-शरासन ताने,
आभा में उज्ज्वल गीत विभा के गाने
आलोक-विशिख से बेध जगा जन-जन को,
सजता हूं नूतन शिखा जला जीवन को।[2]

'चाह एक' कविता में भी इन्हीं भावनाओं की आवृत्ति है। इन रचनाओं में

---

१. हुंकार, पृष्ठ १३
२. हुंकार, पृष्ठ १४

व्यक्त अंगार, ज्वाला, आलोक और तेज इस पीढ़ी के राष्ट्रीय कवियों को पूर्ववर्ती कवियों से बिल्कुल पृथक् कर देते हैं, जिनकी राष्ट्रीय चेतना में जलाने, मारने और विजय प्राप्त करने की अपेक्षा जलने, मरने, समर्पित और बलिदान होने का भाव अधिक था। उनके स्वर के पीछे गांधी के सत्य और अहिंसा का बल था, पर ये नए कवि नया उबाल लेकर आए थे। दिनकर की भावनात्मक प्रखरता ने उनके स्वर को यह तीव्रता दी थी। रूमानी कवि का प्रेम जितना तीव्र होता है उसकी घृणा और आक्रोश भी उससे कम तीव्र नहीं होता। उसकी बुलन्द आवाज़ राजनीति, संस्कृति और नैतिक अनुशासन के सिर पर चढ़ कर बोलती है तथा जनता के मन पर राजनीतिक नेताओं के वक्तव्यों से ज्यादा असर डालती है—ऐसी ही आवाज़ दिनकर की उस गांधी युग में थी, जो नवयुवकों के मन में केवल मरने का साहस ही नहीं मारने की शक्ति भी भर रही थी, जो केवल शीश-दान ही नहीं शीश उतारने की प्रेरणा भी दे रही थी, उस क्रांति की आग लगाना उनका एकमात्र ध्येय था, जो 'पत्थर' की छाती फोड़ सके, जिससे 'भूधर' के प्राण पसीज उठें। ये आकांक्षाएं उस युग के युवक वर्ग की थीं जो परिस्थितियों की विषमता से इस आग और तूफान को अपने हृदय में बांधे ही बैठे हुए थे, भीख और समझौते की नीति पर उनका विश्वास न था, और उनकी अग्नि को संक्रमण का मार्ग नहीं मिल रहा था। अग्नि उनके मन में ही धुंधुवा रही थी, दिनकर उस क्रान्ति की उद्दाम लहर देखने को व्यग्र थे, जो उनकी दृष्टि में मुक्ति का एकमात्र मार्ग थी—

> **जा रहा बीतता हवन-लग्न, करवटें चुका ले शेष-व्याल,**
> **मेरे मानस के इष्टदेव, आओ खोले निज जटा-जाल;**
> **यह आमन्त्रण उनका, न मोहने को जिनको हैं धरा-धाम,**
> **हैं सीख चुके ये निःस्व वीर, है दहन मुक्ति की राह एक।**
> **बल उठे किसी दिन वह्निराशि, ले-देकर मेरी चाह एक।**[1]

'अनल किरीट' कविता में स्वातन्त्र्य के सुधा-बीज बोने की आकांक्षा रखने वालों को कालकूट पीने के लिए सतर्क और सावधान किया गया है। आग का मुकुट पहन कर सर्वत्र, प्रत्येक परिस्थिति में आगे बढ़ते जाना – देश के सैनिक का कर्तव्य है—रुक कर पैर से कांटे निकालने का अवसर उसके पास नहीं है फूंक-फूंक कर कदम रखने की बात वह नहीं सोच सकता, मार्ग की कठिनाइयां पैरों में पड़े हुये छाले उसकी गति धीमी करने के बजाय तेज करते हैं, हर क्षण जागरूकता उसका स्वभाव है, तूफान ही उसका संगीत है, उनकी रसभरी

१. हुंकार, पृष्ठ १९

जवानी नेजों पर चढ़ कर खेलती है; भारत के ऐसे जवानों के चढ़ते पानी से खेलना ग्रासान नहीं है। ये गांधी युग के राष्ट्रीय कवि के भाव हैं, पर यह चित्र गांधी के सत्याग्रही सैनिक का नहीं, क्रांति के उस सैनिक का है, जिसकी कल्पना दिनकर के ग्रादर्श में थी और जिसकी ग्रावृति 'परशुराम की प्रतीक्षा' में की गई है।

'भीख' कविता में भी कवि की दृष्टि में जीवन का पहला सत्य है दहन। यहां कवि का तात्पर्य गांधी के ग्रात्म-दहन से नहीं है, बल्कि ग्रत्याचार, ग्रनाचार और शोषण के प्रति क्रोध और ग्राक्रोश से है। भारत के नौजवान के लिए दिनकर ईश्वर से लहू की वह ग्राग मांगते हैं जिसकी दारुण शिखा उसके प्राणों को जलाती हुई ग्रसन्तोष की चिनगारी को प्रज्ज्वलित करती रहे। वे ग्रत्याचार के प्रति ग्रसहनशीलता और ग्रशान्ति का वरदान मांगते हैं, जो जीवन के भीष्म तत्वों से प्यार करना सिखा सके।

इस प्रकार हुंकार में दिनकर का स्वातन्त्र्य-संग्राम गांधी का संग्राम नहीं था और न उनका सैनिक विनय, सत्य और ग्रहिंसा की प्रतिमूर्ति, केवल मशीनगन के सामने छाती खोल कर खड़ा होने वाला सैनिक था। दिनकर का राष्ट्रीयता ग्रारम्भ से ही क्रांतिमूलक रही है—जहां ग्रोज, शौर्य और पराक्रम प्रधान गुण थे, राष्ट्र के सैनिक में बुद्ध, ग्रशोक और गांधी की ग्रहिंसा की ग्रपेक्षा ग्रर्जुन और विक्रमादित्य के क्षात्र-तेज की ग्रावश्यकता उन्होंने ग्रधिक समझी थी।

क्रान्ति के उत्तरदायी उपकरण : राजनीतिक भ्रष्टाचार

'दिगम्बरि' और 'विपथगा' में क्रान्ति के लिए उत्तरदायी उपकरणों और परिस्थितियों का रागात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। जन-क्रान्ति कोई ग्राकस्मिक घटना नहीं होती, उसके लिए कारण धीरे-धीरे एकत्रित होते रहते हैं। ग्रत्याचार की घुटन ही एक दिन विस्फोट बन जाती है। जब रस्सों से कसे, कोड़े खाते हुये जवान पाप का प्रतिकार नहीं कर पाते, जब ग्रांसू बहाने के ग्रपराधी होने के भय से वह मन की भावनाग्रों का दमन करके रह जाते है, ग्रपमान के विष भरे घूंटों को होठों में ही दबाकर पी जाते हैं—उसी मौन, घुटन-भरे क्षुब्ध क्रोध में क्रान्ति का बीज बोया जाता है।

ग्रार्थिक वैषम्य

क्रान्ति के बीज को ग्रनुकूल भूमि प्रदान करने वाला दूसरा तत्व है ग्रार्थिक वैषम्य। जिस ग्रार्थिक व्यवस्था में पूंजीवादी शोषण का चक्र भयंकर गति से

चलता है, क्रान्ति के बीज वहीं अंकुरित होते हैं। जब दुर्बल दरिद्र जनता पूंजी-पतियों के विलास का बोझ ढोती है, जब शोषित और दलित वर्ग सब कुछ सहता हुआ मन ही मन घुटता रहता है—तभी क्रान्ति की भावना को संवर्धन मिलता है। अन्न और वस्त्रहीन बालक एक ओर जहां क्षुधा और शीत से तड़पते हैं, और दूसरी ओर महलों में निर्बाध विलास लीलाएं चलती हैं उन्हीं वैषम्यों में क्रान्ति का जन्म होता है।

क्रान्ति के वाहक होते हैं युवक। उनके मरण-त्योहार का जुनून पार्लियामेंट, सरकार और पूंजीवादी शोषकों पर आतंक बन कर छा जाता है, जार और नीरो के सिंहासन हिल जाते हैं। दिनकर ने 'विपथगा' में उसी क्रान्ति का स्वप्न देखा है जो सीधे रास्ते चलना नहीं जानती, जो व्यवस्था को मिटा कर कांटों पर आगे बढ़ती है। 'कुरुक्षेत्र' के दिनकर पर हिंसावादी होने का आरोप लगाया जाता है, परन्तु 'हुंकार' के दिनकर कहीं अधिक हिंसावादी हैं। कुरुक्षेत्र की रचना विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि में हुई थी, जो न कवि को काम्य था और किसी शान्तिप्रिय व्यक्ति को प्रिय हो सकता था, कुरुक्षेत्र में प्रतिपादित हिंसा एकपक्ष मात्र है—एक विशिष्ट परिस्थिति में शान्ति रूपी अभीष्ट की साधन मात्र है। परन्तु 'हुंकार' की हिंसा का न निराकरण है न शमन। क्रान्ति, दिनकर का अभीष्ट है यहां वह साधन और साध्य दोनों ही है, वास्तव में हुंकार का यही क्रान्ति-द्रष्टा दिनकर, कुरुक्षेत्र के भीष्म के रूप में अवतरित हुआ है।

'दिगम्बरि' कविता का उल्लेख भी इस प्रसंग में आवश्यक जान पड़ता है। 'विपथगा' में क्रान्ति के आगमन की प्रखर भयंकरता का चित्रण हुआ है—दिगम्बरि में 'विभा के बाण' वाले जागरण काल के युवक क्रान्ति की प्रतीक्षा में हैं। इस कविता में ब्रिटिश दमन-नीति से उत्पन्न क्षोभ और घुटन के वातावरण का चित्रण प्रधान है जिसका समाधान है क्रान्ति। दिनकर ने यहां भी युवकों को ही क्रान्ति का कर्णधार माना है। भारतीय स्वतन्त्रता के संग्राम के अहिंसा-वादी सेनानियों का रक्त भी आतंकवादी युवकों के मरण-ज्वार के प्रभाव से कभी-कभी उष्ण हो जाता था। परम्परावादी, समझौते के सीधे मार्ग पर चलते थे और युवक वर्ग आग में कूद कर अधिकार छीन लेने के पक्ष में थे। दिनकर क्रान्ति के ज्वार को ही समय की मांग समझते थे—

कलेजा मौत ने जब-जब टटोला इम्तिहां में,
जमाने को तरुण की टोलियां ललकार बोलीं।
पुरातन और नूतन वज्र का संघर्ष बोला;
विभा सा कौंध कर भू का नया आदर्श बोला;

नवागम रोर से जागी बुझी ठण्डी चिता भी,
नई भृकुटी उठा कर वृद्ध भारतवर्ष बोला।
नए युग की भवानी आ गई बेला प्रलय की
दिगम्बरि ! बोल ! अम्बर में किरण का तार बोला।[1]

इन सभी कविताओं में दिनकर की राष्ट्रीय चेतना संवेदनात्मक और भावात्मक है। इनको समस्या और प्रश्न के विविध पहलुओं की तीव्र भावात्मक प्रतिक्रियाओं का परिणाम ही माना जा सकता है। उपर्युक्त सभी कविताओं में व्यक्ति-धर्म क्रान्ति के रूप-विश्लेषण, युग-चित्रण, इत्यादि की भावात्मक प्रतिक्रियाओं का चित्रण हुआ है। कवि ने विचार और चिन्तन द्वारा सिद्धान्त निर्धारण नहीं किया।

विचार-संपुष्ट काव्य-चेतना

हुंकार में कुछ ऐसी कविताएं भी हैं जिनमें, दिनकर ने भावपरक प्रतिक्रियाओं को विचार-संपुष्ट करके उनमें क्लासिक स्पर्श देने का प्रयास आरम्भ कर दिया है; यद्यपि अभिजात कविता का पूर्ण गौरव आगे चलकर कुरुक्षेत्र में ही व्यक्त हुआ। विचारात्मक कविताओं में मुख्य हैं कल्पना की दिशा के 'यज्ञोन्मुखी' और 'महामानव की खोज' खण्ड, और 'व्यक्ति' कविता। यज्ञोन्मुखी में कवि ने रंगों की दुनिया मिट्टी को चढ़ा कर यज्ञारणि की कलम हाथ में ली परन्तु अहिंसात्मक आन्दोलन की नरम नीति के प्रति क्रोधित और क्षुब्ध होकर उन्हें यह कहना पड़ा—

महाश्चर्य ! सन्दीप्ति भूल कर अपनी,
सिंह भीत हो छिपा धनान्ध गुहा में,
जी करता है इस कदर्य के मुख पर
मल दूं लेकर मुट्ठी भर चिनगारी।[2]

'महामानव की खोज' में गांधी-नीति और गांधी-दर्शन का खुला खण्डन पहली बार किया गया है। अभी तक वे केवल सिद्धान्तों और आदर्शों का विरोध करते रहे थे; प्रगतिवादी दृष्टिकोणों के गांधी की प्रतारणा द्वारा मौन किए जाने पर, दिनकर का संयम और अनुशासन छूट गया, राजनीति पर छाए हुए गांधी के व्यक्तित्व ने अहिंसा और समझौते के विरोधियों के मुंह पर ताला लगा दिया जिससे उस समय के नवयुवकों को बड़ी निराशा हुई—गांधी-धर्म को ग्लानिपूर्ण 'अजा धर्म' का नाम देते हुए उन्होंने लिखा—

---

१. हुंकार, पृष्ठ १५
२. हुंकार, पृष्ठ ६५

ऊब गया हूं देख चतुर्दिक अपने
अजा-धर्म का ग्लानि-विहीन प्रवर्तन;
युग-सत्तम संबुद्ध पुनः कहता है,
ताप कलुष है, शिखा बुझा दो मन की।[1]

दिनकर ने गांधी-नीति के द्रोह छोड़ने की आज्ञा का खण्डन करते हुए, आत्मा और शरीर दोनों के अनिवार्य महत्व की प्रतिष्ठा की। इतिहास की साक्षी देकर सिद्ध किया कि संहार में देवत्व ही हारता आया है। दनुज की हिंसक वृत्तियों की उपेक्षा जीवन की क्रियात्मक भूल है—

तृणाहार कर सिंह भले ही फूले
परमोज्जल देवत्व प्राप्ति के मद में,
पर, हिंस्रों के बीच भोगना होगा,
नख-रद के क्षय का अभिशाप उसे ही।[2]

ऐसा लगता है कि गांधी-दर्शन के विरोध में राष्ट्रीयता के जो आदर्श प्रतिमान उन्होंने स्थिर किये कुरुक्षेत्र में उन्हीं की अभिव्यक्ति भीष्म जैसे पौराणिक पात्र के माध्यम से किये जाने के कारण अधिक मान्य हुई, नहीं तो कुरुक्षेत्र में प्रतिपादित शारीरिक और आत्म बल के सामंजस्य का सिद्धांत वे हुंकार के इन विचार-संपुष्ट गीतों में ही बना चुके थे। भारत की बागडोर सम्हालने के लिए वे उस प्रचण्ड मानव के अन्वेषी बने जिसकी सांसों पर प्रभंजन नृत्य करे, जिसके इशारे पर इतिहास बदल जाये—गांधी नीति में अध्यात्म-दर्शन और राजनीति को उलझा दिया गया था। राजनीतिक समस्याओं के आध्यात्मिक सुझावों से नई पीढ़ी के युवकों को बड़ा क्षोभ होता था। दिनकर ने उसी क्षोभ को वाणी दी : भारत के लिए ऐसे गायक की कल्पना की जो आत्मबल और शरीरबल का सामंजस्य कर सके। दर्शन और राजनीति के क्षेत्रों की पृथकता को पहचान सके—

वह मनुष्य जो रणारूढ़ होने पर
अस्नु धर्म का पृष्ठ नहीं खोलेगा;
द्विधा और व्यामाह घेर कर जिसको
मृषा तर्क से बांध नहीं पायेंगे।[3]

गांधी-दर्शन उनकी दृष्टि में क्षमा और दया के सुघर बेलबूटों से क्लीव

---

१. हुंकार
२. वही, पृष्ठ ६६
३. वही, पृष्ठ ६७

धर्म को सजाने वाला धर्म था। उन्होंने धरती के उस अग्रदूत मानवेन्द्र की कल्पना की जिसके एक हाथ में अमृत-कलश और धर्म की ध्वजा हो, परन्तु जो झंझा-सा बलवान और काल-सा क्रोधी भी हो, अचल के समान धीर होते हुये भी निर्झर-सा प्रगतिशील हो।

दिनकर की इन कल्पनाओं में कहीं-कहीं हिटलर और मुसोलिनी के व्यक्तित्वों के बल की राक्षसी गन्ध आती जान पड़ती है। अमृत-कलश और धर्म-ध्वज की रक्षा तो कठिन है पर झंझा-से क्रोध और शैल-से अहं द्वारा प्रेरित होकर व्यक्ति अपने को भगवान समझने लगता है। गांधी-दर्शन में आध्यात्मिकता की ओर असंतुलित झुकाव था, दिनकर की कल्पना शक्ति में चाहे असंतुलन न हो, पर शारीरिक शक्ति की ओर असंतुलित झुकाव की सम्भावना उसमें विद्यमान है। असंतुलन से व्यक्ति संत बने या दानव प्रश्न यह है। लेकिन दिनकर ने शक्ति के दानव के हाथ में वेद-कलश और धर्म-ध्वज पकड़ा कर उसे मनुष्य बनाये रखने का सर्वत्र प्रयास किया है। और अगर आत्मसम्मान, राष्ट्रसम्मान और देश की रक्षा का प्रश्न हो तो वह अबल देवता से दुर्दम दानव की ओर ही झुकेंगे।

'व्यक्ति' कविता में ससीम की तुच्छ सत्ता की महत्ता की स्थापना की गई है। समष्टि के निर्माण में व्यक्ति का अनिवार्य महत्व है। उसकी सीमाओं में ही उसकी शक्ति निहित है। व्यक्ति एक चिनगारी के समान है, अपने आप में महत्वहीन, परन्तु अनुकूल वायु पाकर वह अम्बर में आग लगा सकता है, प्रचण्ड ज्वाला फैला सकता है। व्यक्ति का मार्ग फूलों से न सही कांटों से भरा हो लेकिन उपवन के फलों की रक्षा करने में कांटों का योगदान भी महत्वपूर्ण है। व्यक्ति हिमकण के समान क्षण-भंगुर सही, किन्तु यदि अपने आप मिट कर वह किसी सुमन को पुलक दे सके तो उसका जीवन सार्थक है। 'रेणुका' में व्यक्त निवृति, नश्वरता और दुखवाद के बोझिल अवसाद के बाद 'हुंकार' का यह आशावादी दृष्टिकोण बड़ा अभिनन्दनीय और सुखद लगता है, जान पड़ता है जैसे मन को अंधेरे बन्द कमरे से निकल कर खुली हवा में सांस लेने का अवसर मिला हो।

यथार्थवादी तथा समसामयिक घटनाओं पर आधारित कवितायें

हुंकार में आकर दिनकर की काव्य-चेतना अतीत को छोड़कर वर्तमान में आने का बारबार हठ करती है, इतिहास, आंसू, प्रकृति-प्रेम, सब कुछ उसके लिए उपेक्षणीय बन जाते हैं—वह तो जैसे दिनकर की उंगली पकड़ कर उन्हें निर्दिष्ट मार्ग पर जबरदस्ती खींचे लिये जा रही है—

तेरे कण्ठ बीच कवि ! मैं बन कर युगधर्म पुकार चुकी,
प्रकृति-पक्ष ले रक्त-शोषिणी, संस्कृति को ललकार चुकी
वार चुकी युग पर तन मन धन, अपना लक्ष्य विचार चुकी,
कवे ! तुम्हारे महायज्ञ का साकल कर तैयार चुकी
ढोऊंगी मैं सुयश तुम्हारा, बन नवीन युग की वाणी,
ग्लानि न कर, सहचरी तुम्हारी हूं मैं भावों की रानी।[1]

जीवन के विविध पक्षों के यथार्थवादी चित्रण की प्रतिनिधि कविता है 'हाहाकार'।

समष्टि-चेतना की ओर उन्मुख होकर उनकी काव्य-दृष्टि चतुर्दिक अभावों की ही अनुभूति करती है। कवि नग्न यथार्थ से दूर भागने की चेष्टा करने पर भी उस कार्य में सफल नहीं हो पाता, विश्व के घुटते हुए प्राणी, जलते हुए घर उसे विक्षिप्त बना देते हैं, इस नग्न यथार्थ से मुह चुरा कर वह 'सुन्दर' के गीत गाना चाहता है, सौन्दर्य की आराधना करना चाहता है। उसकी पुरानी चाह जाग कर कहती है—

मेरी भी यह चाह, विलासिनि ! सुन्दरता को शीश झुकाऊं
जिधर जिधर मधुमयी बसी हो, उधर वसन्तानिल बन धाऊं !
झांकूं उस माधवी-कुंज में, जो बन रहा स्वर्ग-कानन में,
प्रथम परस की जहां लालिमा सिहर रही तरुणी आनन में।[2]

लेकिन कवि नभ में कुटी बनाने में अब और समर्थ नहीं रह जाता, एक पंखहीन पक्षी की तरह भूमि की हलचल में गिर पड़ता है। चारों ओर फैली हुई अशान्ति, हिंसा, शोषण, दलन, वैषम्य कवि के मानस में प्रबल हो उठता है। जातिवाद, राष्ट्रवाद और वर्णभेद से कराहते हुए विश्व के रोर से आंख बन्द कर लेना उसके लिए असम्भव हो गया है।

सामाजिक और आर्थिक शोषण से किसान और श्रमिक त्रस्त हैं। जीवन की सुख-सुविधाओं की तो बात ही क्या उन्हें जीने का भी अधिकार नहीं है। क्षुधा से पीड़ित, वस्त्र-हीन किसान जिसकी जबान बंद है, जिसको गम खाना और आंसू पीना पड़ता है, दिनकर को कल्पना के धरातल से जबरदस्ती खीच कर उनका ध्यान अपनी ओर दिलाते हैं। कृषक और श्रमिकों के, दूध के बिना मरते हुए बच्चे जैसे कवि के मन में एक उन्मादक व्यथा भर देते हैं, जिससे विक्षिप्त होकर वे बच्चों के भगवान को पुकारते हैं, अपने अंचल में

---

१. हुंकार, पृष्ठ ८४
२. वही, पृष्ठ २०

मरते हुए बच्चों की मां की विवशता के साथ तादात्म्य करते है ; और अन्त में प्रार्थना, अनुनय, विनय सब मार्गों को छोड़कर सामाजिक, आर्थिक और राज-नीतिक क्रान्ति का आह्वान करते हैं जिससे पृथ्वी के मनुष्यों को जीने का अधिकार प्राप्त हो।—

वे भी यहीं दूध से जो अपने श्वानों को नहलाते हैं।
ये बच्चे भी यहीं, कब्र में दूध दूध जो चिल्लाते हैं।
बेकसूर नन्हें देवों का शाप विश्व पर पड़ा हिमालय!
हिला चाहता मूल सृष्टि का, देख रहा क्या खड़ा हिमालय!
हटो व्योम के मेघ, पन्थ से, स्वर्ग लूटने हम आते हैं,
'दूध दूध' ओ वत्स! तुम्हारा दूध खोजने हम आते हैं।[1]

समष्टि चेतना का यह आर्थिक और सामाजिक पक्ष दिनकर की राष्ट्रीय चेतना का ही अंग है।

सामाजिक यथार्थवाद और समसामयिक घटनाओं पर आधृत 'हुंकार' की अन्य रचनाएं हैं 'तकदीर का बंटवारा', 'मेघ रन्ध्र में बजी रागिनी', 'भविष्य की आहट' और 'दिल्ली'। प्रथम कविता, भारतवर्ष की साम्प्रदायिक समस्या और द्वितीय अबीसीनिया पर इटली के आक्रमण के प्रति आक्रोश के फलस्वरूप लिखी गई है। भविष्य की आहट में विराट एशिया के जन्म की कल्पना है जिसमें एशिया के महान देशों के ऐक्य की भव्य और आतंकपूर्ण तस्वीर खीची गई है—

अखण्ड पाद-चाप ने सचेत शैल को किया,
चिंघार सिंहनी जगी, जगा विराट एशिया।

भूमध्य देश, चीन और भारत की एकता का दिनकर ने एक स्वप्न देखा था—

चूमता बढ़-बढ़ हिमालय व्योम को,
हिन्दसागर है निनादित रोर से;
सिन्धु से 'दजला' मिली 'भागीरथी'
फूलती पा प्रेम 'येलो' ओर से।[2]

पर आज गंगा की श्वेत धार में रक्त घोल कर 'येलो' तट के वासियों ने उसे दूषित करने का प्रयत्न किया है। दिनकर का स्वप्न खण्ड-खण्ड हो गया है और शायद तभी वह 'परशुराम' का फरसा लोहित कुण्ड में फिर से धोने के लिए उग्र रूप धारण कर रहे हैं।

---

१. हुंकार, पृष्ठ २३
२. हुंकार, पृष्ठ ७७

दिल्ली उनकी व्यंग्यात्मक कविता है। यद्यपि उसकी रचना सन् १९३३ में हुई पर उसकी पृष्ठभूमि सन् १९२९ की है जब नई दिल्ली का प्रवेशोत्सव मनाया गया था। इसी वर्ष भगतसिंह पकड़े गए और लाहौर कांग्रेस में पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पास हुआ, एक ओर उत्सव और दूसरी ओर दमन इन्हीं दोनों विरोधी स्थितियों के सह-अस्तित्व पर यह व्यंग्य कविता लिखी गई। सत्यानाश के प्रहर में रूप सजाती हुई दिल्ली को लक्ष्य करके उन्होंने लिखा—

मरघट में तू साज रही दिल्ली कैसे शृङ्गार ?
यह बहार का स्वांग अरी, इस उजड़े हुए चमन में।[1]

दिल्ली के अतीत-वैभव और वर्तमान-अंधकार को एक-दूसरे के विरोध में रखकर बड़े प्रभावपूर्ण चित्र खीचे गए हैं। इस कविता में भी दिनकर का विवश आक्रोश व्यंग्य बनकर व्यक्त हुआ है।

'हुंकार' की समष्टि चेतना का दिनकर की काव्य-चेतना के विकास में महत्वपूर्ण स्थान है। सामाजिक क्षेत्र में अपने युग और वैयक्तिक क्षेत्र में अपनी परिस्थितियों से लड़ कर उन्होंने जीवन के जो भावात्मक तथा निषेधात्मक मूल्य और मापदण्ड निर्धारित किए, उन्हीं की अभिव्यक्ति क्रमशः कुरुक्षेत्र के भीष्म और युधिष्ठिर के माध्यम से हुई। 'हुंकार' के दिनकर के अनुभव और उनकी धारणाएं गीता-दर्शन से संपुष्ट होकर भीष्म की उक्तियां बनीं। इस प्रकार कुरुक्षेत्र केवल चिंतनपरक काव्य न होकर दिनकर के अनुभवों और उनकी अपनी जीवन-दृष्टि का प्रतिनिधित्व भी करता है, जो हुंकार में निश्चित और निर्णीत होकर स्थायी हो गई थी, जिसे गीता और रसेल के दर्शन के स्पर्श से संपुष्ट करके दिनकर ने कुरुक्षेत्र में गौरवान्वित किया। 'हुंकार' के दिनकर का आक्रोश और आवेश जवानी का जोश कह कर टाला जा सकता था, भारतीय संस्कृति की रगों में मिले हुए अध्यात्म तत्व के कारण उसको नीची श्रेणी का दर्शन भी कहा जा सकता था, परन्तु भीष्म जैसे पौराणिक और वरिष्ठ पात्र के माध्यम ने दिनकर के अनुभवों को गरिमा देकर अमर बना दिया, वर्तमान में उपेक्षित 'अपरिपक्व और अप्रौढ़' मान्यताएं अतीत की कथा का बाना पहन कर आधुनिक गीता के रूप में मान्य हुई। 'कुरुक्षेत्र' के प्रतिपाद्य का विवेचन हम उसे 'हुंकार' से अलग करके करते रहे है पर मेरे विचार से 'हुंकार' के तीव्र मानसिक आलोड़नों और प्रतिक्रियाओं को झेले और पार किए बिना, दिनकर कुरुक्षेत्र की विचार-भूमि पर नहीं पहुंच सकते थे।

---

१. हुंकार, पृष्ठ ४४

'हुंकार', 'रसवन्ती' और 'द्वन्द्व गीत' का प्रकाशन प्राय: साथ-साथ हुआ है। तीनों में संकलित कृतियों का रचनाकाल भी प्राय: समान ही है, इसलिए, दिनकर की काव्य-चेतना के क्रमिक विकास में हुंकार के बाद इन दोनों कृतियों में व्यक्त काव्य-चेतना का विश्लेषण आवश्यक होता। पर, जैसा कि पहले कहा जा चुका है उनकी काव्य-चेतना के वैयक्तिक और समष्टिपरक पक्ष समानान्तर रूप से पृथक्-पृथक् विकसित हुए हैं। इस बात को ध्यान में रखते हुए—प्रस्तुत प्रसंग में इन दोनों कृतियों को छोड़ देना अभीष्ट होता, परन्तु यहां भी एक कठिनाई है। यद्यपि 'रसवन्ती' की श्रृङ्गार-चेतना और नारी-भावना को 'हुंकार' के बाद अग्रिम-समष्टि चेतना के काव्य कुरुक्षेत्र में स्थान नहीं मिला है, परन्तु 'द्वन्द्व गीत' के दर्शन का ऊहापोह उसमें महत्वपूर्ण और अनिवार्य स्थान रखता है, 'हुंकार' के दिनकर और 'द्वन्द्व गीत' के दिनकर के बौद्धिक द्वन्द्व युद्ध के द्वारा ही कुरुक्षेत्र के स्वस्थ संतुलित जीवन-दर्शन की स्थापना हो सकी है इसलिए कुरुक्षेत्र की काव्य-चेतना के विश्लेषण के पूर्व द्वन्द्व गीत की चेतना का विश्लेषण प्राय: अनिवार्य जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त द्वन्द्व गीत की निवृत्ति-मूलक नैराश्य-पूर्ण भाव-परम्परा यहीं समाप्त हो जाती है। कुरुक्षेत्र के भीष्म के कर्मवाद में उसका लय हो जाता है। अतएव, दिनकर की निवृत्ति-भावना के इस समाप्त होते हुए रूप का विश्लेषण इस प्रसंग में अनिवार्य है। 'रसवन्ती' की काव्य-चेतना का विश्लेषण श्रृङ्गार-भावना के विकास के अन्तर्गत किया जाएगा।

'द्वन्द्व गीत' की काव्य-चेतना

रेणुका के प्रतिपाद्य विषयों का विश्लेषण करते हुए कुछ कविताओं में व्यक्त दिनकर की अस्वस्थ, असंतुलित, रुग्ण और विकृत निवृत्ति-भावना की ओर संकेत किया जा चुका है। द्वन्द्व गीत में उसी भावना का परिवर्तन-परिवर्धन और संशोधन हुआ है। उसमें व्यक्त द्वन्द्व के मुख्य तीन रूप हैं—

१. राग और विराग का द्वन्द्व
२. कर्मवाद और पलायनवाद का द्वन्द्व
३. आस्था और अनास्था का द्वन्द्व।

जीवन की समस्याओं के विरोधी पहलुओं पर साथ-साथ विचार करने के कारण दिनकर की दार्शनिक मान्यताओं पर अस्थिरता का दोष लगाया जाता है। अभी कुछ दिन पहले ही एक वरिष्ठ प्राध्यापक ने कहा, 'दिनकर का दर्शन आखिर क्या है ? कभी वह प्रवृत्ति की बात करते हैं, कभी निवृत्ति की, कभी हिंसा-हिंसा चिल्लाते हैं और कभी बापू पर कविता लिखते हैं।' दिनकर पर इस प्रकार के आक्षेप का उत्तर यह है कि साहित्यकार दार्शनिक की भांति,

संसार, जीव, ब्रह्म और जीवन के सम्बन्ध में अन्तिम सत्य का निर्णय नहीं दे सकता। उसके दो ही रूप हो सकते हैं—या तो वह दर्शन की अधीत अनुभूति को अपने काव्य में उतारे अथवा जीवन को भोग कर, झेल कर अपने अनुभवों के आधार पर शास्त्रसम्मत दार्शनिक मान्यताओं के सत्यासत्य का निर्णय करे। इस दृष्टि से दिनकर दूसरे वर्ग में आते हैं। प्रथम वर्ग का साहित्यकार दर्शन की केवल बौद्धिक अनुभूति कर सकता है और बौद्धिक अनुभूति सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके काव्य में रस-तत्वों को गौण तथा बौद्धिक विश्वास को प्रमुख कर देती है। लौकिक जीवन से ऊपर उठकर आध्यात्मिकता में रस ले सकने वाले व्यक्ति ही उसका आनन्द ले सकते हैं। द्वितीय वर्ग के साहित्यकार की प्रयोगशाला जीवन और उसके अनुभव होते हैं, प्रयोगों के अन्तिम निष्कर्ष तक पहुंचने के पहले उसे अनेक विरोधी स्थितियों का सामना करना पड़ता है। कभी उसे राग, कर्म और ईश्वर सत्य जान पड़ते है और कभी यह सब कुछ झूठ, प्रपंच, मिथ्या और निस्सार दिखाई पड़ने लगते हैं। दिनकर की दार्शनिक प्रतिक्रियाएं भी बौद्धिक न होकर भावात्मक हैं, उनके दर्शन में विरोधी तत्वों के सह-अस्तित्व का मूल कारण यही है। और यह दोष नहीं उनकी शक्ति है।

राग और विराग का द्वन्द्व

'द्वन्द्व गीत' दिनकर के जीवन पर किए गए प्रयोगों और उसके फलस्वरूप प्राप्त अनुभूतियों की अभिव्यक्ति है। रेणुका की पूर्णतः अवसादभरी अनुभूतियों का अन्धकार यहां नहीं है, रूप और राग के आकर्षण और विकर्षण में पहला ही विजयी होता दिखाई देता है। वास्तव में राग-विराग का यह आकर्षण-विकर्षण, अभाव और निषेध से 'रसवन्ती' के भाव और रस की ओर झुकते हुए दिनकर के द्वन्द्व की कहानी है। शृङ्गार की मादकता, कामिनी का आकर्षण उन्हें अपनी ओर खींचते हैं, पर संस्कारों में ठूंस-ठूंस कर भरा हुआ नश्वरता, और संसार की अनित्यता का विश्वास उन्हें फिर पीछे ले जाकर पटक देता है—और वह सोचने लगते हैं—अधरों की क्षुधा, आंखों का मद और यौवन के मधुकणों की परिणति है नाश। चांदनी अमा में, और वसन्त पतझड़ में बदल जाता है। सुन्दरता काल का ग्रास बनती है, इसीलिए बार-बार कवि के मन में अपनी क्षणभंगुरता का आग्रह प्रधान हो जाता है—

दुख है, इस आनन्द कुंज में
मैं ही केवल अमर नहीं

केवल मैं न रहूंगा, यह
मधु-धार उमड़ती जाएगी।[1]

परन्तु द्वन्द्व गीत में व्यक्त नश्वरता के ये भाव और उससे उत्पन्न उदासीनता पहले की तरह एक कुंठित किशोर का दिवास्वप्न मात्र नहीं है। जीवन के स्वस्थ मार्ग की ओर बढ़ते हुए युवक को परिस्थितियों की झंझा और जीवन के कटु अनुभवों के जो थपेड़े लगते हैं वे ही कुछ समय के लिए हृदय में नैराश्य का भाव भर देते हैं परन्तु जल्दी ही वे सम्हल कर प्रकृत हो जाते हैं। जिस सौन्दर्य की नश्वरता पहले उन्हें जीवन से भागने को प्रेरित करती थी, अब जीवन की श्रान्ति और क्लान्ति मिटाने का साधन बन जाती है—

रति-अनंग शासित धरणी यह,
ठहर पथिक, मधु रस पीले;
इन फूलों की छांह जुड़ा ले,
कर ले शुष्क अधर गीले;
आज सुमन मण्डप में सोकर
परदेसी निज श्रान्ति मिटा,
चरण थके दोनों, तेरे पथ
बड़े अगम, ऊंचे टीले।[2]

* * *

उर उर में बंकिम धनु, दृग दृग
में फूलों के कुटिल विशिख;
यह पीड़ा मधु-मयी, मनुज
बिधता आ अपने आप यहां।[3]

* * *

कर्मभूमि के थके श्रमिक को
इस निकुंज की मधुबाला
एक घूंट में शान्ति मिटा कर
बेसुध, मत्त बनाती है।[4]

रसवन्ती की ओर प्रेरित करने वाली इस रागमयी दृष्टि के साथ ही साथ, उनके हृदय में मृत्यु से भयभीत, नाश से सहमे हुए व्यक्ति की घबराहट भी है जो

---

१. द्वन्द्व गीत, पृष्ठ १७—दिनकर
२. वही, पृष्ठ २८
३. वही, पृष्ठ १९
४. वही

सौन्दर्य में कुरूप और बीभत्स देखता है, चिता की आग का भय जिसे मधुबाला के अधरों के रस से वंचित कर देता है। निम्नलिखित पंक्तियों में वर्णित सौन्दर्य की बीभत्सता संत कवियों द्वारा वर्णित नारी अवयवों के बीभत्स वर्णनों के निकट पड़ती है—

दो कोटर को छिपा रहीं
मदमातीं आँखें लाल सखी।
अस्थि-तन्तु पर ही तो हैं
ये खिले कुसुम के गाल सखी!
और कुचों के कमल? झरेंगे
ये तो जीवन से पहले,
कुछ थोड़ा सा मांस प्राण का
छिपा रहा कंकाल सखी।[1]

रूप और सौन्दर्य के प्रति गहरे आकर्षण के मार्ग में हर समय नश्वरता और मृत्यु के भय से अवरोध खड़ा रहता है—कभी उनका मन यह सोच कर संशय-ग्रस्त हो जाता है कि सौन्दर्य के चांद को ग्रहण से कैसे बचाया जायगा, प्रलय के थपेड़ों से कोमल स्निग्धता की रक्षा कैसे की जा सकेगी। कभी वे कह उठते हैं—

पर, हूं विवश हाय, पंकज का
हिमकण हूं, डोलूं कैसे।[2]

अनेक ऐसे स्थल भी हैं जहां 'द्वन्द्व गीत' के दिनकर द्वन्द्व को बिल्कुल ही भूल कर रस-लिप्त हो गए हैं, जीवन के मादक आकर्षणों में पाप और पुण्य का भेद भूल कर नारी के रूप-राग में रम गए हैं। 'रसवन्ती' के कोमल मधुर गीतों की मादकता से इन रागमूलक रुबाइयों की मादकता कम नहीं है; अधिक चाहे भले ही हो। निम्नलिखित पंक्तियों में कामनाओं की उन उष्ण अनुभूतियों को अभिव्यक्ति मिली है जिनके पागलपन में व्यक्ति पाप-पुण्य, मर्यादा-अमर्यादा, लोक-परलोक का भय भूल जाता है—

जिस दिन विजन, गहन कानन में
ध्वनित मधुर मंजीर हुई
चौंक उठे ये प्राण, शिराएं
उर की विकल अधीर हुई

---

१. द्वन्द्व गीत, पृ० ३२
२. वही, पृ० ३३

तूने बन्दी किया हृदय में,
देवि, मुझे तो स्वर्ग मिला,
आलिंगन में बंधा और
ढीली जग की जंजीर हुई।[1]

* * *

रेशम के तारों से चिकने बाल,
हृदय की क्या जानूं ?
आंखें मुग्ध देखतीं, रहता
पाप-पुण्य का ध्यान नहीं।[2]

राग-विराग और आकर्षण-विकर्षण के इस द्वन्द्व में राग की विजय हुई जिसने दिनकर को यह साहस दिया कि वे बड़े यत्न से छिपाए हुए अपने प्रणय गीतों को धरती पर उतार सकें--वे गीत जिन्हें उन्होंने उडु से द्युति, लहर से गति और मलय से सौरभ लेकर संवारा था, जो उनमें मधुर मृदुल सपने संजोते आए थे, जीवन के प्रति इसी दृष्टि-परिवर्तन ने आगे चल कर उन्हें उर्वशी लिखने की शक्ति और प्रेरणा दी। द्वन्द्व गीत का यह भावनात्मक संघर्ष उर्वशी में व्यक्त कामाध्यात्म में निहित बौद्धिक और आत्मिक द्वन्द्व और संघर्ष का बीज रूप माना जा सकता है।

कर्मवाद और पलायनवाद का द्वन्द्व

द्वन्द्व गीत के पलायनवादी स्वर की तुलना में कर्मवाद का स्वर उतना प्रबल नहीं है जितना विराग की तुलना में राग का। संसार की नश्वरता, विफलता, कटुता और विषमता के निराशावादी स्वर आशावादी कर्मवाद के स्वर से कहीं अधिक मुखर और प्रखर हैं। द्वन्द्व गीत का प्रारम्भ ही अवसाद के स्वरों से होता है। कवि को तारों में जलन, मेघ में आंसुओं का पारावार, संध्या में विषाद और उषा में प्रणय की विफलता दिखाई देती है और उसी के साथ वह अपने हृदय का हाहाकार भी जोड़ देता है।

मृत्यु और जन्म के दो रहस्यमय छोरों के बीच स्थित जीवन के अफ़साने के प्रति दिनकर के मन में उत्साह नहीं एक विवशता है—जीवन—एक लम्बा रास्ता है—जिसके मोड़ अपरिचित हैं और मंजिल अज्ञात, पथिक को चलना है इस लिए विवशता से वह जीवन का बोझ ढोए जा रहा है, जीवन के प्रति यह थकावट और श्रान्ति का भाव द्वन्द्व गीत की अनेक पंक्तियों में व्यक्त है—

---

१. द्वन्द्व गीत, पृष्ठ २२
२. वही, पृष्ठ २०

जब तक शेष पन्थ, तब तक
विश्राम नहीं, उद्धार नहीं![1]

* * *

मंजिल थी मालूम न मुझको
और पंथ का ज्ञान नहीं,
जाना था निश्चय, इससे
चुपचाप पड़ा मुझको जाना।[2]

कर्म के मार्ग पर अनवरत चलते-चलते मनुष्य बिना किसी लक्ष्य-सिद्धि के जीवन के दूसरे छोर पर आ लगता है, अभी दिनकर की दृष्टि, साधना के उस स्तर पर नहीं पहुंची है जहां निःस्पृह निष्काम कर्म ही धर्म बन जाता है, परिणाम और फल की इच्छा जहां नही होती। निम्नलिखित पंक्तियों में, कर्मचक्र में फंसे, उकताए और थके हुए व्यक्ति के शैथिल्य की ध्वनि मिलती है—

अब सांझ हुई, किरणें समेट
दिनमान छोड़ संसार चला.
वह ज्योति तैरती ही जाती,
मैं डांड चलाता हार चला।
'दो डांड और दो डांड लगा'
दो डांड लगाता मैं आया,
दो डांड लगी क्या नहीं? हाय,
जग की सीमा कर पार चला।[3]

उपर्युक्त पंक्तियों की थकावट, श्रम, हार और पलायन का उत्तर उन्होंने कल्पना और यथार्थ के सामंजस्य, अहं के विस्तार और जीवन जीने के उत्साह द्वारा दिया है। स्वप्नों का अस्तित्व शून्य में होता है, पृथ्वी पर पैर टिका कर ही आकाश छूने की कल्पना की जा सकती है, दिनकर के दर्शन का यह मूल सूत्र द्वन्द्व गीत में ही पहली बार स्थापित हुआ है—

जिनको न तटी से प्यार, उन्हें
अम्बर में कब आधार मिला?
यह कठिन साधना-भूमि, बन्धु!
मिट्टी को किए प्रणाम चलो।[4]

---

१. द्वन्द्व गीत, पृष्ठ १३
२. वही, पृष्ठ ११
३. वही, पृष्ठ ५४
४. वही, पृष्ठ ५६

पलायन और हार के प्रतिपक्ष में अहं के विस्तार को खड़ा करके दिनकर ने मृत्यु पर जीवन की, नाश पर निर्माण की जय घोषित की है। आत्मकेन्द्रित, संकुचित भोगदृष्टि असमर्थ और असहाय की होती है, आत्म-विस्तार और परमार्थ, व्यक्ति को प्रबल शक्ति प्रदान करते हैं। इन्हीं भावनाओं की अभिव्यक्ति निम्नलिखित पंक्तियों में की गई है—

बांसुरी विफल, यदि कूक कूक
मरघट में जीवन ला न सकी,
सूखे तरु को पनपा न सकी,
मर्दों को छेड़ जगा न सकी
यौवन की वह मस्ती कैसी
जिसको अपना ही मोह सदा ?
जो मोल देख ललचा न सकी
दुनिया में आग लगा न सकी।[1]

निम्नलिखित पंक्तियों में जीवन का उत्साह व्यंजित है, दुख और सुख, कटु और मधु, त्याग और शौर्य की मिश्रित अनुभूतियां ही जिन्दगी को मादक और आकर्षक बनाती हैं, जीवन के भावात्मक और अभावात्मक तत्वों के संघर्ष में ही सच्चे सुख की अनुभूति की जा सकती है—

पी ले विष का भी घूंट बहक,
तब मजा सुरा पीने का है,
तन कर बिजली का वार सहे,
यह गर्व नए सीने का है।
सिर की कीमत का भान हुआ,
तब त्याग कहां, बलिदान कहां ?
गर्दन इज्जत पर दिए चलो तब मजा यहां जीने का है।[2]

'द्वन्द्व गीत' में दिनकर का कर्मवाद परिपक्व और प्रौढ़ नहीं हुआ है। कर्मवाद की स्वीकृति और अभिव्यक्ति बौद्धिक जागरूकता और सुनिश्चित दृष्टि की अपेक्षा रखती है, 'द्वन्द्व गीत' तक दिनकर की काव्य-दृष्टि मूलतः रूमानी है, उनकी प्रतिक्रियाएं भावात्मक हैं। विराग और राग दोनों भावात्मक होते हैं इसीलिए विराग पर राग की विजय का अर्थ था केवल भावात्मक संस्थिति और दृष्टिकोण में परिवर्तन ; परन्तु निवृत्ति और कर्मवाद में अन्तर केवल

---

१. द्वन्द्व गीत, पृ० ५७
२. द्वन्द्व गीत, पृ० ५७

भाव की संस्थिति का नहीं है। निवृत्ति और पलायन, भाव का अभावात्मक पक्ष था, परन्तु कर्मवाद एक सुविचारित, विचारसंपुष्ट गम्भीर जीवन-दर्शन है. पलायन से कर्म की ओर उन्मुख होने की प्रक्रिया विचारमूलक अधिक है, यहां केवल भाव-परिवर्तन से काम नहीं चल सकता था, बल्कि यहां तो मानसिक-संस्थान के मूलाधार में ही परिवर्तन की अपेक्षा थी। स्नायुओं के तनाव, आक्रोश अथवा अवसाद के स्थान पर बुद्धि-जन्य सन्तुलन और समन्वित विचार-शक्ति की आवश्यकता थी, 'द्वन्द्व गीत' की रचना के समय तक दिनकर हृदय के कवि थे, बुद्धि के नहीं, अभी वे समस्याओं और प्रतिपाद्यों की अनुभूति करते आए थे, उन पर विचार नहीं करते थे। विचार की प्रक्रिया तो उन्होंने कुरुक्षेत्र में ही आरम्भ की, जहां वे पूर्ण कर्मवादी कवि के रूप में प्रतिष्ठित हुए।

आस्था और अनास्था का द्वन्द्व

आस्था और अनास्था का प्रश्न द्वन्द्व गीत में मुख्य रूप से दो विषयों के सम्बन्ध में उठाया गया है। जीवन-गत आस्था-अनास्था तथा ईश्वर-गत आस्था-अनास्था। जीवन-गत आस्था ही प्रवृत्ति या कर्मवाद है और जीवन-गत अनास्था पलायनवाद जिसका विवेचन पहले हो चुका है। अतः प्रस्तुत प्रसंग में केवल ईश्वर-गत आस्था और अविश्वास के द्वन्द्व का विश्लेषण ही अभीष्ट होगा। अज्ञात के प्रति जिज्ञासा के भाव से इस प्रश्न का आरम्भ होता है, प्रारम्भ में इसका रूप अत्यन्त सहज और स्वाभाविक है, संसार का नियन्ता और सूत्रधार कौन है यह प्रश्न साधारण से साधारण मनुष्य के हृदय में उठता है। दिनकर का हृदय व्यक्ति की ससीमता की विवशता का अनुभव करते हुए असीम का रहस्य जानने को आकुल हो उठता है—

देखें तुझे किधर से आकर ?
नहीं पन्थ का ज्ञान हमें।
बजती कहीं बांसुरी तेरी,
बस, इतना ही भान हमें।
शिखरों से ऊपर उठने
देती न हाय, लघुता अपनी ;
मिट्टी पर झुकने देता है
देव हमें अभिमान नहीं।[1]

अध्यात्म सत्ता के प्रति कवि की जिज्ञासा सन्धान की ओर अग्रसर होती है; उसकी सीमा असीम की खोज में असफल होकर पूछती है—

---

१. द्वन्द्व गीत, पृष्ठ ९

सुरभि सुमन के बीच देव,
कैसे भाता व्यवधान तुम्हें।[1]

इस जिज्ञासा में प्रच्छन्न एक आस्था है, अलौकिक और नैसर्गिक के प्रति विस्मय है, और यह विस्मय, आस्था पर टिका हुआ है, परन्तु आगे चल कर दिनकर के मन में इस अव्यक्त विराट सत्ता के प्रति उपालम्भ और आक्रोश ही अधिक है। सृष्टि-निर्माण के दार्शनिक विश्वासों के प्रति एक अनास्था है, संसार के उद्देश्यहीन अस्तित्व के प्रति खीझ है। संस्कार से वे आस्तिक हैं पर अपने तर्कों का उत्तर वे दर्शन से मांगते हैं—

था अनस्तित्व सकता समेट
निज में क्या यह विस्तार नहीं ?
भाया न किसे चिर शून्य, बना
जिस दिन था यह संसार नहीं ?
तू राग-मोह से दूर रहा,
फिर किसने यह उत्पात किया ?
हम थे जिसमें, उस ज्योति या कि
तम से था जिसको प्यार नहीं ?[2]

यह द्वन्द्व दिनकर के अपने संस्कार और तर्कबुद्धि का है। संसार का दुःख, दहन और हाहाकार ईश्वर के प्रति उनके विश्वास को भी हिलाता जान पड़ता है। धरती का भोग केवल पीड़ा और दुःख है। मानव जीवन की इसी अनिवार्य व्यथा के कारण संसार के निरर्थक मायाजाल की निस्सारता की घोषणा करते हुए मानों भगवान को वे चुनौती और आज्ञा देते हैं—

तिल तिल हम जल चुके
विरह की तीव्र आंच कुछ मन्द करो,
सहने की अब सामर्थ्य नहीं
लीला-प्रसार यह बन्द करो,
चित्रित भ्रम जाल समेट धरो,
हम खेल खेलते हार चुके,
निर्वापित करो प्रदीप, शून्य में
एक तुम्हीं आनन्द करो।[3]

---

१. द्वन्द्व गीत
२. द्वन्द्व गीत, पृष्ठ ६०
३. वही, पृष्ठ ६६

दिनकर का यही अनास्था की ओर झुकता हुआ, और कर्म के क्षेत्र में डगमगाता हुआ व्यक्तित्व, कुरुक्षेत्र में युधिष्ठिर की समस्याएं बन कर आता है। 'द्वन्द्व' में समाधान का अवकाश नहीं था, और शायद उस समय के दिनकर के भावप्रवण कवि-व्यक्तित्व के पास इसका समाधान था भी नहीं।

'द्वन्द्व गीत' के इस वैयक्तिक भावनात्मक नैराश्य को द्वितीय विश्वयुद्ध के हाहाकार, त्रास और संहार ने विचारभूमि प्रदान की। सामान्य रूप से तो युद्ध की समस्या अपने-आप में भयानक होती ही है, दिनकर के लिए उसका एक विशेष त्रास था। 'विपथगा' और 'दिगम्बरि' की आग बरसाने वाला कवि, परिस्थितियों के कारण बन्धन में पड़ा अपनी वाणी को सरकार की इच्छानुसार ढाल रहा था, इसी विवशता ने युद्ध को दिनकर के जीवन का एक अंग बना दिया था। उनके ऊपर बलात् लादे गए इस कर्तव्य-कर्म ने निवृत्ति को ही उभारा, और युद्ध जैसे प्रश्न को लेकर इस अवसाद का समष्टि-मूलक रूप ग्रहण करना स्वाभाविक था। 'कलिंग-विजय' में पहली बार दिनकर की प्रचण्ड प्रखरता के अवसान के लक्षण दिखाई दिए। अच्छा हुआ, वह स्थायी नहीं बना। परन्तु यह प्रतिक्रिया क्रान्ति पर समझौते की अथवा हिंसा पर अहिंसा की विजय नहीं थी। 'कलिंग-विजय' में विजयी के मन में ग्लानि और पश्चाताप का चित्रण करके उन्होंने अशोक के व्यक्तित्व में केवल 'हुंकार' के 'समदृष्टि', 'विनीत', 'प्रांशु', 'धीर', 'अमृत कलश वाही', 'धर्म ध्वज धारी', 'महामानव' की प्रतिष्ठा की तथा विजयी की ग्लानि, शक्तिवान की क्षमा की महत्ता ही स्वीकार की। यहां भी अहिंसा केवल साध्य है, साधन की बात उठाई ही नहीं गई है, इसलिए कलिंग-विजय में अपने सिद्धान्तों से हटने का आरोप उनके ऊपर नहीं लगाया जा सकता। अशोक की असहाय करुणा, निर्वेद और क्रियात्मक विवशता केवल इसलिए क्षम्य है कि वह शक्तिवान है, समर्थ है; हारे हुए व्यक्ति द्वारा कही जाने पर ये ही उक्तियां अकर्मण्यता, नैराश्य, कायरता और क्लीवता की द्योतक होतीं।

कुरुक्षेत्र में व्यक्त समष्टि-चेतना

दिनकर के मानसिक द्वन्द्व के ये ही दोनों पक्ष कुरुक्षेत्र में युधिष्ठिर और भीष्म के माध्यम से व्यक्त हुए। 'कलिंग-विजय' में द्वन्द्वग्रस्त निवृत्ति अशोक की करुणा बन कर रह गई थी—कलिंग-विजय के आख्यान में बौद्ध धर्म की अहिंसा को स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई समाधान नहीं था। युद्धजन्य-विध्वंस और अव्यवस्था के तात्कालिक समाधान के रूप में तो अशोक की प्रतिक्रियाओं को स्वीकार किया जा सकता था, परन्तु जीवन के स्थायी समाधान के रूप में उसे स्वीकार

करना, दिनकर की मान्यताओं के बिल्कुल ही विपरीत था। लेकिन यह कहना गलत होगा कि दिनकर ने युद्ध के प्रश्न को कुरुक्षेत्र में फिर से केवल अपने मताग्रह की पुष्टि के लिए ही उठाया। कलिंग-विजय में युद्धान्त पर उस विजय की भावात्मक प्रतिक्रिया का चित्रण था, जिसने अपने द्वारा किए हुए ध्वंस का प्रतिकार करुणा से किया। कुरुक्षेत्र के युधिष्ठिर के आंसुओं का अथाह सागर उन्हें कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय करने में पूर्णरूप से असमर्थ बना देता है। विजयी होने पर भी वे हारे हुए हैं, इस प्रकार युधिष्ठिर के निर्वेद और करुणा के द्वारा जीवन की मूलभूत समस्याओं का उद्घाटन मात्र किया गया है और उसी के ब्याज से उनके प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत किया गया है। निर्वेद और नैराश्य से भरे हुए युधिष्ठिर के पास आंसू, उच्छ्वास, ग्लानि और परिताप को छोड़ कर और कुछ नहीं है, यदि यह कहें कि दिनकर की द्वन्द्वग्रस्त चेतना को युधिष्ठिर के व्यक्तित्व के माध्यम से पूर्णरूप से खुलने का अवसर मिला है तो भी कोई अत्युक्ति न होगी। युधिष्ठिर के पास कुछ कहने को नहीं है यहां तक कि भीष्म की हिंसा के विरोध में अहिंसा का प्रतिनिधित्व भी वह नहीं करते। आपद्धर्म के रूप में हिंसा के औचित्य और अहिंसा के सार्थक रूप का विवेचन भीष्म द्वारा ही होता है। युधिष्ठिर तो वेदना की उस चरम स्थिति पर पहुंच गए हैं जहां चेतना जड़ हो जाती है—

भर गया ऐसा हृदय दुख दर्द से,
फेन या बुदबुद नहीं उसमें उठा,
खींच कर उच्छ्वास बोले सिर्फ वे,
पार्थ मैं जाता पितामह पास हूं।[1]

कुरुक्षेत्र की भूमिका में दिनकर ने लिखा है, 'यह तो (कुरुक्षेत्र) अन्ततः,एक साधारण मनुष्य का शंकाकुल हृदय ही है जो मस्तिष्क के स्तर पर चढ़ कर बोल रहा है।' अब प्रश्न यह है कि इस शंकाकुल हृदय में कितना अंश आग बरसाने वाले दिनकर का है और कितना नैराश्य के अन्धकार में डूबते हुए दिनकर का? अथवा, उनके व्यक्तित्व में एक तीसरा अंश उदय हो रहा है जो उस भयंकर आग की ज्वाला को बांध कर उसके ध्वंसक तत्व को सृजनात्मक और रचनात्मक रूप देना चाहता है। वास्तव में कुरुक्षेत्र में पहली बार दिनकर ने अपनी भावुक प्रतिक्रियाओं पर विचार की लगाम कसी है, पहली बार अपने ऊपर संयम रख कर चिन्तन-मनन का प्रयत्न किया है, और इसी कारण 'कुरुक्षेत्र' पहले की कृतियों की अपेक्षा अधिक गौरवपूर्ण हो उठा है। छायावाद की

---

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ७—दिनकर

भूमिका में दिनकर ने स्वयं लिखा है 'सम अवस्था या मध्यम मार्ग की जैसे सर्वत्र महिमा देखी जाती है, वैसे ही, उसका साहित्य में भी महत्व है। निरी बुद्धि से कविता नहीं बनती, किन्तु कोरी भावुकता भी कविता के लिए अपर्याप्त है। अनुभूति के समय भावुकता, किन्तु, रचना के समय बुद्धि का सहयोग, यही वह मार्ग है जिससे ऊंचे साहित्य का सृजन हो सकता है।'[1] कुरुक्षेत्र दिनकर का प्रथम विचारात्मक अथवा चिन्तनप्रधान काव्य है जिसमें 'द्वन्द्व गीत' के दिनकर शंका उठाते हैं और 'हुंकार' के दिनकर शास्त्र और दर्शन का सहारा लेकर उनका समाधान करते हैं।

बाह्य परिस्थितियां बड़े से बड़े व्यक्ति को ऐसी परीक्षा में डाल देती हैं जिससे वह अपने मूल्यों, प्रतिमानों और आदर्शों के विरुद्ध कार्य करने की संशयग्रस्त स्थितियों में पड़ जाता है। मूल्यों का यह संशोधन उसके व्यक्तित्व और अस्तित्व मात्र को हिला देता है, ऐसी ही द्वन्द्व की स्थिति 'कुरुक्षेत्र' के युधिष्ठिर की है। उनके मन में युद्ध का परिताप है। ध्वंस और विनाश के हृदयद्रावक दृश्यों से विचलित होकर, वे भीष्म पितामह की शरण में जाते हैं। उस रक्तसिक्त विजय में उन्हें अपनी हार ही दिखाई पड़ती है—सैन्य युद्ध का यह भीषण परिणाम उनकी ग्लानि का पहला तर्क उपस्थित करता है—

जानता कहीं जो परिणाम महाभारत का,
तन-बल छोड़ मैं मनोबल से लड़ता;
तप से, सहिष्णुता से, त्याग से सुयोधन को,
जीत, नई नींव इतिहास की मैं धरता।[2]

कर्तव्य के नाम पर किया गया युद्ध अनघ है, यह समझने का प्रयास करने पर भी उनका हृदय व्यथा और वेदना से ही भरा है—निराशा और ग्लानि के चरम क्षणों में जीवन से भागने में ही उन्हें मुक्ति दिखाई देती है। इसी पलायन का उत्तर भीष्म देते हैं अथवा द्वन्द्वग्रस्त दिनकर का उत्तर कर्मयोगी दिनकर देते हैं जिन्होंने अब समस्याओं पर विचार करना आरम्भ कर दिया है। परन्तु यह बात ध्यान में रखने की है कि कुरुक्षेत्र की विचारभूमि 'हुंकार' की भावभूमि पर टिकी हुई है। 'हुंकार' की ईंटों की जड़ाई पर विचार का सीमेन्ट लगा कर कुरुक्षेत्र की रचना हुई है। कुरुक्षेत्र में राष्ट्र का स्थान विश्व ने ले लिया है,

---

१. काव्य की भूमिका, पृष्ठ ३७—दिनकर
२. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ९

श्रौर स्वतन्त्रता की लड़ाई का स्थान विश्वयुद्ध ने, परन्तु शौर्य श्रौर संघर्ष-नीति का मूलाधार श्रौर श्रादर्श वही है जो 'हुंकार' में था।

प्रतिपाद्य की दृष्टि से कुरुक्षेत्र का विभाजन श्रासान नहीं है क्योंकि उसमें विरोधी तत्वों के निराकरण श्रौर स्थापना के लिए श्रनेक विचार-सूत्रों का प्रयोग किया गया है, श्रौर, बहुचर्चित काव्य होने के कारण श्रनेक श्रालोचकों ने इस विषय में श्रपनी-श्रपनी ढपली श्रपना-श्रपना राग वाली कहावत चरितार्थ की है। फिर भी उसके तीन मुख्य रूप माने जा सकते हैं—

१. युधिष्ठिर द्वारा उठाई हुई समस्याएं
२. भीष्म द्वारा स्थापित जीवन-दर्शन
३. कथानक से स्वतन्त्र कवि द्वारा स्वीकृत मान्यताएं।

१. युधिष्ठिर का पक्ष निवृत्ति श्रौर पलायन का द्योतक है। जीवन के उदात्त तत्वों की रक्षा के प्रति जागरूकता के जो भाव उनके द्वारा व्यक्त कराए गए हैं, वे केवल प्रसंगवश हैं श्रौर उनके वैयक्तिक श्रादर्श हैं, जो महाभारत के 'धर्मराज' के व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक होते हैं। उनके निर्वेद को गांधी दर्शन का प्रतीक नहीं माना जा सकता, क्योंकि दिनकर का, गांधी-नीति की व्यावहारिकता के प्रति चाहे जितना श्रविश्वास रहा हो, उसकी निर्भयता, श्रपराजेयता श्रौर श्रेष्ठता उन्होंने सर्वत्र खुले शब्दों में स्वीकार की है। युधिष्ठिर का परिताप, उनके श्रांसू, उनका निर्वेद, इस निर्भय श्रपराजेयता से जरा दूर पड़ते हैं। उनकी उक्तियां करुणा तथा निर्वेद से जड़ व्यक्ति की श्राकुल उक्तियां हैं, क्योंकि, विलाप में बुद्धि कम, पागल श्रौर विक्षिप्त भावना श्रधिक होती है। इसीलिए युधिष्ठिर का द्वन्द्व 'द्वन्द्व गीत' के दिनकर के श्रधिक निकट पड़ता है, जिन्होंने मानों श्रपनी निवृत्ति-भावना को सदा के लिए मिटा देने को ही युधिष्ठिर में उसकी चरम परिणति दिखाई है।

भीष्म द्वारा प्रतिपादित दर्शन

कुरुक्षेत्र के प्रतिपाद्य के विषय में श्रनेक प्रकार के मत प्रकट किए है, कोई उसमें श्रराजकतावाद के तत्व देखता है, किसी को वह प्रगतिवादी रचना जान पड़ती है, कोई उसमें स्वीकृत हिंसा के कारण उन पर हिंसावादी होने का श्रारोप करता है। इस मत-वैभिन्न्य को देखते हुए प्रस्तुत विषय का विश्लेषण श्रौर भी कठिन हो जाता है। इसलिए, यहां श्रपनी श्रोर से कुछ निष्कर्ष न देकर भीष्म की उक्तियों के विश्लेषण द्वारा ही श्रपने मन्तव्य को स्पष्ट करने का प्रयास किया जा रहा है।

युद्धान्त पर युधिष्ठिर की करुणा और परिताप के प्रति भीष्म की प्रथम प्रतिक्रिया ही इस बात की द्योतक है कि वह युधिष्ठिर के हृदय में जागे हुए, करुणा पर आधृत मानवतावादी आदर्श को समस्त विश्व में साकार देखना चाहते हैं—युधिष्ठिर के हृदय की विशालता और असीमता की थाह लेते हुए उनका व्यथा का प्रथम विस्फोट इस प्रकार होता है—

…हाय नर के भाग !
क्या कभी तू भी तिमिर के पार
उस महत् आदर्श के जग में सकेगा जाग,
एक नर के प्राण में जो हो उठा साकार है
आज दुख से, खेद से, निर्वेद के आघात से ।[1]

भीष्म को अन्धा हिंसावादी करार देने वालों के विरोध में सब से प्रथम और सबल तर्क उनकी यह उक्ति है जहां वे करुणा और प्रेम के आदर्श को साध्य रूप में स्वीकार करके तभी आगे बढ़ते हैं ।

हुंकार की क्रान्ति और कुरुक्षेत्र के युद्ध की सामान्य पृष्ठभूमि

युद्ध के कारणों का विश्लेषण करते हुए जिन परिस्थितियों को उसके लिए उत्तरदायी सिद्ध किया गया है, उनका मूल हुंकार की क्रान्ति विषयक कविताओं में विद्यमान है । शोषक शासक की स्वार्थ नीति की विषैली सांसों से युद्ध की लपटें छूटती हैं तथा विकारों की शिखाएं जब व्यापक बन कर समष्टि पर छा जाती हैं तभी युद्ध के वातावरण का निर्माण होता है । 'हुंकार' की 'विपथगा' कविता में इसी प्रकार का भाव राष्ट्रीय स्तर पर व्यक्त हुआ है जहां क्रान्ति-कुमारी की पायलों की झनकार तलवारों की झनझनाहट बन कर गूंज उठती है । 'हुंकार' के राष्ट्रीय युद्ध और कुरुक्षेत्र के विश्वयुद्ध की परिस्थितियों के साम्य का विश्लेषण करने के लिए दोनों ही कृतियों के कुछ समानान्तर उद्धरण देना उचित जान पड़ता है, यद्यपि उससे प्रस्तुत विषय के कलेवर में अनावश्यक विस्तार हो जाने का भय है—'विपथगा' के जन्म और विकास की परिस्थितियां ये हैं—

पी अपमानों के गरल घूंट शासित जब होठ चबाते हैं,
जिस दिन रह जाता क्रोध मौन, मेरा वह भीषण जन्मलग्न ।

*　　*　　*

---

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ १३

पौरुष को बेड़ी डाल पाप का अभय रास जब होता है
दुनिया को भूखों मार भूप जब सुखी महल में सोता है
सहती सब कुछ मन मार प्रजा, कसमस करता मेरा यौवन ।

* * *

हिम्मत वाले कुछ कहते हैं तब जीभ तराशी जाती है
उल्टी चालें यह देख देश में हैरत सी छा जाती है
भट्ठी की ओदी आंच छिपी तब और अधिक धुंधुवाती है।
कोड़ों की खाकर मार पली पीड़ित की दबी कराहों में ;
सोने सी निखर जवान हुई तप कड़े दमन के दाहों में ;
मेरे चरणों में खोज रहे भय-कम्पित तीनों लोक शरण ।[1]

इन्हीं से मिलती-जुलती परिस्थितियां कुरुक्षेत्र के युद्ध की पृष्ठभूमि मे भी हैं, जहां भीष्म अधर्म पर टिकी हुई कृत्रिम शान्ति का विश्लेषण करके युद्ध के विध्वंस से विचलित युधिष्ठिर के मन का भार हल्का करना चाहते हैं—

सहते-सहते अनय जहां मर रहा मनुज का मन हो ;
समझ कापुरुष अपने को धिक्कार रहा जन-जन हो ;
अहंकार के साथ घृणा का जहां द्वन्द्व हो जारी,
ऊपर शान्ति, तलातल में हो छिटक रही चिनगारी
दबे हुए आवेश वहां यदि उबल किसी दिन फूटें
संयम छोड़, काल बन मानव अन्यायी पर टूटें
कहो, कौन दायी होगा उस दारुण जगद्दहन का ?
अहंकार या घृणा ? कौन दोषी होगा रण का ?[2]

पृष्ठभूमि वही है अन्तर केवल इतना ही है कि हुंकार की अभिव्यक्ति में रूमानी कवि का असंयमित आक्रोश और विद्रोह है, कुरुक्षेत्र की उक्तियों मे अभिजात कविता का गौरव और मार्दव है, उसमें क्रोधी युवक दिनकर के गर्जन के स्थान पर वयोवृद्ध पितामह की गम्भीरता है ।

भीष्म, हुंकार के 'महामानव' के प्रतिरूप

पहले कहा जा चुका है कि 'कल्पना की दिशा' के 'महामानव खण्ड' में दिनकर ने जिस धर्मध्वजधारी विक्रमादित्य की कल्पना की थी, भीष्म द्वारा प्रतिपादित जीवन-दृष्टि में उसी का व्यावहारिक आरोपण मिलता है। कुरुक्षेत्र की रचना द्वितीय महायुद्ध के संहार और नाश की प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप

---

१. हुंकार, पृष्ठ ७४-७५
२. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ २३

हुई थी, और उसमें दिनकर का शंकाकुल हृदय मस्तिष्क के स्तर पर चढ़ कर बोला था। उनके शंकाकुल हृदय का प्रतिनिधित्व युधिष्ठिर करते हैं और मस्तिष्क का भीष्म। कुरुक्षेत्र में चिन्तन, मनन और विचार प्रधान है इसलिए उसमें व्यक्त काव्य-चेतना के विश्लेषण का अर्थ है उसके विचार-तत्व और दर्शन का विश्लेषण। इस दृष्टि से कुरुक्षेत्र में व्यक्त दर्शन के दो रूप मिलते हैं। (१) कृति के मुख्य प्रतिपाद्य विषय युद्ध का दर्शन, तथा (२) समग्र रूप से स्थापित सामान्य जीवन-दर्शन। इन्हीं दोनों दृष्टियों से कुरुक्षेत्र के दार्शनिक प्रतिपाद्य का विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है।

कुरुक्षेत्र में प्रतिपादित युद्ध-दर्शन

यह कहना अनुचित न होगा कि दिनकर जी हिन्दी के पहले कवि हैं, जिन्होंने 'युद्ध' को अपनी कविता का प्रतिपाद्य बनाया, उसके मूल कारणों तथा पक्ष-विपक्ष का विश्लेषण करके उससे उत्पन्न समस्याओं के समाधानों की ओर इंगित किया। द्वितीय महायुद्ध के भीषण संहार, हाहाकार और त्रास ने दिनकर को इस विषय पर सोचने को बाध्य किया। अपनी दुर्बलताओं और परिसीमाओं से लड़ने में ही मनुष्य सबसे निरीह होता है। पारिवारिक परि-स्थितियों की विषमताओं के दबाव से उन्हें युद्ध-प्रचार विभाग में कार्य करना पड़ा। नियति का व्यंग्य देखिए कि जिस युवा कवि की कृतियां देश के लिए जेल जाने वाले नवयुवकों की जेबों में रहती थीं, जिसके सशक्त और ओजपूर्ण स्वर जनता में क्रान्ति की लहर उत्पन्न कर रहे थे, वही कवि परिस्थितियों के हाथ का खिलौना बन कर युद्ध-प्रचार में योग देने को अपना गला साफ कर रहा था। कुरुक्षेत्र की रचना ही इस बात का प्रमाण है कि दिनकर का मन उन दिनों कितना द्वन्द्व-ग्रस्त रहा होगा। जो भी हो, उन्हीं बाह्य परिस्थितियों और मानसिक संघर्षों के फलस्वरूप हिन्दी में विचारात्मक काव्य की नींव पड़ी और हिन्दी का प्रथम युद्ध-काव्य 'कुरुक्षेत्र' लिखा गया।

कुरुक्षेत्र में दिनकर जी युद्ध के विषय में एक नया दृष्टिकोण लेकर आए। भले ही भारतीय और पाश्चात्य धारणाएं पार्श्वभूमि और पृष्ठभूमि के रूप में हों, लेकिन स्थापनाएं और संदेश उनके अपने हैं और वे इतने व्यावहारिक, सार्वभौम और पूर्ण हैं कि आज जब हमारे देश में युद्ध के बादल घिरे हुए हैं, कुरुक्षेत्र की एक-एक उक्ति सार्थक जान पड़ती है।

वर्तमान समस्या : पुराना माध्यम

वर्तमान समस्या के व्याख्यान और समाधान के लिए उन्होंने महाभारत का माध्यम क्यों चुना ? इसके कुछ मुख्य कारण दिखाई देते हैं।

सबसे पहली बात तो यह है, कि द्वितीय महायुद्ध के समय देश पराधीन होने के कारण, भारतीय जनता में युद्ध के प्रति न तो भावात्नक सहानुभूति थी न बौद्धिक। अंग्रेजों की प्रवंचक दमन-नीति ने तानाशाही शक्तियों से लड़ने वाली प्रजातन्त्रवादी शक्तियों के विरुद्ध भारत में विरोधी और विद्रोही वातावरण उत्पन्न कर दिया था। अंग्रेज हमारे पहले शत्रु थे। उनकी विजय हमारे मन में आत्म-गौरव का भाव नहीं भर सकती थी : हां, उनकी हार से हमें प्रच्छन्न सुख अवश्य मिलता था। हम एक सबल प्रजातन्त्रवादी देश की तानाशाही भोग रहे थे। ऐसी स्थिति में, युद्ध-काव्य की रचना में वर्तमान युद्ध की प्रेरणा परोक्ष ही रह सकती थी। दूसरी बात यह है कि दोनों ही विश्व-युद्ध भारत से बाहर सुदूर देशों में लड़े गये। आग की लपटों की आंच भारत तक पहुंची तो, लेकिन युद्ध की विभीषिका आंखों के सामने आती—ऐसी नौबत नहीं आई। आकाश में मंडराते हुए हवाई जहाज, बम-प्रहारों से ढहते हुए गगन-चुम्बी प्रासाद, अरअराती हुई दीवारे, छतरियों से उतरते हुये हवाबाज, मशीनगनों और तोपों की गड़गड़ाहटों को कवि ने स्वयं नहीं देखा-सुना था—समाचार-पत्रों और रेडियो के विवरणों द्वारा ही उनके विषय में अनुमान और कल्पना की जा सकती थी। यह परोक्ष सम्पर्क कवि को अभिव्यक्ति का सबल माध्यम प्रदान करने के लिए काफी नही था। इसके विपरीत, लंकाकांड और महाभारत के युद्ध-वर्णन उनके मानस में संस्कार रूप में जमे हुये थे। यही कारण है कि दिनकर जी ने निकट वर्तमान की समस्या को सुदूर अतीत के माध्यम से व्यक्त किया। युद्ध-नायकों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है—कैसर, हिटलर, मुसोलिनी प्रथम और द्वितीय विश्व-युद्धों में विश्व-संहार के लिए चाहे जितनी बड़ी सीमा तक उत्तरदायी रहे हों, लेकिन भारतीय जनता तथा कवि के मानस में बने, दुर्वृत्तियों के प्रतीक दुर्योधन और रावण के व्यक्तित्वों से अधिक निकट नहीं आ सकते थे। इसी प्रकार युद्ध के सद्पक्ष के उद्घाटन में राम और युधिष्ठिर के समकक्ष प्रजातन्त्रवादी सत्ताओं के अग्रणी लायड जार्ज, विल्सन, चर्चिल अथवा रूजवेल्ट को भी नहीं रखा जा सकता था। इन युद्धों में सद्असद का निर्णय भी कठिन था, क्योंकि दोनों ही महायुद्धों का मूल कारण राजनीतिक और आर्थिक शक्तियों की खींच-तान मात्र था।

युद्ध एक अनिवार्य विकार

'कुरुक्षेत्र' का आरम्भ युद्धान्त पर युधिष्ठिर के हृदय की ग्लानि के चित्रण के साथ होता है। प्रस्तुत प्रसंग में युधिष्ठिर के निर्वेद का केवल इतना महत्व

है कि उसके व्याज से ही भीष्म पितामह द्वारा शौर्य की महिमा का व्याख्यान किया गया है तथा युद्ध के अनघत्व की स्थापना की गई है। युद्ध एक तूफान है। जिस प्रकार तूफान अनायास ही नहीं टूट पड़ता; उसी प्रकार मानव समाज में व्यक्तिगत, राजनीतिक और राष्ट्रीय स्तर पर जो विकारों की शिखाएं धीरे-धीरे सुलगती रहती हैं, क्षोभ, घृणा, ईर्ष्या और द्वेष उनको प्रज्ज्वलित करते रहते हैं। वही आग देश-प्रेम अथवा राष्ट्र-प्रेम के व्याज से युद्धाग्नि के रूप में फैल जाती है। युद्ध का आरम्भ अनय ही करता है। फिर धर्म, नीति तथा नय के मार्ग पर चलने वालों के लिए उसकी चुनौती स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई विकल्प रह नहीं जाता। शांतिप्रेमियों को भी युद्ध की ज्वाला में कूद पड़ना पड़ता है; तत्व-चिन्तन, गम्भीर विचार पीछे पड़ जाते हैं। युद्ध एक अनिवार्य विकार है और उसका उत्तर युद्ध से ही दिया जा सकता है, क्योंकि विषम रोग का उपचार मिष्टान्न नहीं, तिक्त औषधि है।

"रुग्ण होना चाहता कोई नहीं
रोग लेकिन आ गया जब पास हो
तिक्त औषधि के सिवा उपचार क्या?
शमित होगा वह नहीं मिष्टान से।"

युद्ध आपद्धर्म

भीष्म द्वारा हिंसा और युद्ध का प्रतिपादन कराने के कारण दिनकर जी पर हिंसावादी होने का आरोप लगाया जाता है, लेकिन उन्होंने हिंसा अथवा युद्ध को जीवन के साध्य या अन्तिम लक्ष्य के रूप में कभी नहीं स्वीकार किया। कोई भी कार्य चाहे वह वैयक्तिक हो अथवा समष्टिगत अपने-आप में पुण्य या पाप नहीं होता, पुण्य या पाप की कसौटी उस कार्य का लक्ष्य या उद्देश्य होता है। फिर युद्ध तो बिल्कुल ही अपवाद है—

"क्यों कि कोई कर्म है ऐसा नहीं,
जो स्वयं ही पुण्य हो या पाप हो,
औ समर तो और भी अपवाद है,
चाहता कोई नहीं इसको, मगर,
जूझना पड़ता सभी को, शत्रु जब
आ गया हो द्वार पर ललकारता।"

युद्ध के पाप-रूप का भी विश्लेषण उन्होंने किया है। युद्ध के मूल कारण हैं वैयक्तिक और राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न प्रकारों की प्रतियोगिताएं, स्पर्धा और ईर्ष्या तथा राजनीतिक शक्तियों का केन्द्रीकरण। दिनकर जी ने किसी

भी राष्ट्र के लिए सैन्य-शक्ति का संतुलन और उसके प्रयोग की सामर्थ्य को राष्ट्र का आवश्यक अंग माना है। वे कहते हैं—

"सेना-साज हीन है परस्व हरने की वृत्ति,
लोभ की लड़ाई क्षात्र-धर्म के विरुद्ध है;
वासना-विषय से नहीं पुण्य उद्भूत होता,
वाणिज्य के हाथ की कृपाण ही अशुद्ध है;
चोट खा परन्तु, जब सिंह उठता है जाग,
उठता कराल प्रतिशोध हो प्रबुद्ध है;
पुण्य खिलता है चन्द्रहास की विभा में तब,
पौरुष की जागृति कहानी धर्म-युद्ध है।"

स्वत्व, धर्म और सम्मान की रक्षा के लिए जो युद्ध किया जाता है वह पाप नहीं होता। अत्याचार का प्रतिशोध लेने के लिए उठाई गई तलवार की चमक में पुण्य खिलता है। अत्याचार सहना पाप है, अन्यायी को अन्याय करने की हिम्मत करने का अवसर देना पाप है—

"छीनता हो स्वत्व कोई और तू त्याग तप से काम ले, यह पाप है।
पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे, बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ है।"

देह की लड़ाई देह से

त्याग, तप, करुणा, दया-क्षमा मनुष्य के व्यक्तित्व का परिष्कार करते हैं, उसे मनुजत्व से देवत्व की ओर ले जाते हैं; इन्हीं की साधना मानव को अभीष्ट है, लेकिन यह केवल व्यक्ति-धर्म है, सामान्य धर्म है। युद्ध की स्थिति अपवाद है, क्योंकि आत्मबल मनोबल के सामने नहीं ठहर सकता—

"कौन केवल आत्मबल से जूझ कर
जीत सकता देह का संग्राम है?
पाशविकता खड्ग जब लेती उठा,
आत्मबल का एक वश चलता नहीं।"

इसी प्रकार हारी हुई जाति की अहिंसा, दया, करुणा और क्षमा का भी कोई अर्थ नहीं है। पराजित, शोषित और दलित की क्षमा कुलीन जाति का घोर कलंक है। पराजित का धर्म है प्रतिशोध, खोए हुए आत्मसम्मान की पुनः प्राप्ति। विवशता की स्थिति में की गई क्षमा अर्थहीन है, अभिशाप है—

"क्षमा शोभती उस भुजंग को, जिसके पास गरल हो।
उसको क्या जो दंतहीन, विषरहित, विनीत, सरल हो।"

तथा— **जेता के विभूषण सहिष्णुता क्षमा है, किन्तु**
हारी हुई जाति की सहिष्णुता अभिशाप है।

मन तथा कर्म का तादात्म्य

अधर्म और अन्याय के प्रति एक ही प्रतिक्रिया उचित मानी जा सकती है—उसके निराकरण के लिए दहकते हुए अंगारों पर चलना, और बिना किसी तर्क-वितर्क के आक्रमणकारी को मार भगाना। तर्क-वितर्क बुद्धि-जन्य होते हैं। साधारणतः जो विवेक, बुद्धि-ग्राह्य और कल्याणकारी होता है, युद्धकाल में वही विष बन जाता है। पुण्य और पाप, शान्ति और ध्वंस, मान और अपमान में कौन अभीष्ट है—अगर यह द्विधा मन में उत्पन्न हुई, अगर भुजा और मस्तिष्क अलग-अलग चले, तो युद्धकालीन कर्तव्य के पालन में व्याघात पहुंचता है। कुरुक्षेत्र के भीष्म बार-बार युधिष्ठिर को समझाते हैं—

"जहां भुजा का एक पंथ हो, अन्य पंथ चिन्तन का,
सम्यक्, रूप नहीं खुलता उस द्वन्द्वग्रस्त जीवन का।
द्विधामूढ़, वह कर्म योग से कैसे कर सकता है?
कैसे हो सन्नद्ध जगत के रण में लड़ सकता है?"

हिंसा, प्रतिशोध, घृणा इत्यादि सभी विकारी भावों को आपद्धर्म के रूप में न्यायोचित स्वीकार करने पर भी, न युद्ध को दिनकर ने कहीं साध्य माना है और न हिंसा को। कुरुक्षेत्र के तीनों पात्रों (युधिष्ठिर, भीष्म और स्वयं कवि) का अन्तिम लक्ष्य है—प्रेम और करुणा, दया और क्षमा पर आधृत मानवतावाद। पंचम सर्ग के अन्त में दारुण ऊहापोह और उद्वेलन के बाद युधिष्ठिर के सामने से निराशा और अवसाद का कुहासा मिट जाता है। वे नाश पर निर्माण की नींव रखने के लिए फिर से सन्नद्ध हो जाते हैं। रण-छिन्नलता में शान्ति-सुधा-फल के फलने का स्वप्न देखते हुए उनके द्वन्द्व की समाप्ति होती है—

कुरुक्षेत्र की धूलि नहीं इति पन्थ की,
मानव ऊपर और चलेगा;
मनु का यह पुत्र निराश नहीं,
नवधर्म-प्रदीप अवश्य जलेगा।[1]

इसी प्रकार भीष्म भी सम्पूर्ण प्रसंग में शौर्य, हिंसा, क्रान्ति और युद्ध के औचित्य को सबल और समर्थ शब्दों में सिद्ध करने के बाद, रण-भीति से मुक्त पृथ्वी की कल्पना, हिंसा और बल-प्रयोग के आधार पर नहीं मनुष्य के प्रेम, स्नेह, बलिदान और त्याग को मूलभूत तत्व मान कर ही करते हैं—

---

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ८६

भावना मनुष्य की न राग में रहेगी लिप्त,
सेवित रहेगा नहीं जीवन अनीति से ;

*　　*　　*

स्नेह बलिदान होंगे माप नरता के एक,
धरती मनुष्य की बनेगी स्वर्ग प्रीति से ।[1]

षष्ठ सर्ग का क्षेपक तो कवि ने प्रेम, दया, करुणा और धर्म-दृष्टि की स्थापना के लिए ही लिखा है। उनके अनुसार आज के जीवन-दर्शन की सबसे बड़ी कमी यही है कि आज मस्तिष्क की तुलना में मनुष्य का हृदय पीछे पड़ गया है। रसवती भू के मनुज का श्रेय उसके आंसू हैं, प्रणय-वायु है, मानव के लिए समर्पित मानव की आयु है। उसका श्रेय है मनुज का समता-विधायक ज्ञान और स्नेह सिंचित न्याय, पारस्परिक विश्वास, उसका श्रेय है वह मानवतावाद, वह विश्वबन्धुत्व जो मनुष्य का मनुष्य से उचित सम्बन्ध जोड़ता है—मानव मात्र के आध्यात्मिक और भौतिक साम्य-स्थापना के लिए ही उनकी सहज गर्जना याचना की नम्रता और असहायता में परिवर्तित हो गई है—

साम्य की वह रश्मि स्निग्ध उदार,
कब खिलेगी, कब खिलेगी विश्व में भगवान ?
कब सुकोमल ज्योति से अभिषिक्त—
हो, सरस होंगे जली-सूखी रसा के प्राण ?[2]

कुरुक्षेत्र में प्रतिपादित सामान्य जीवन-दर्शन

जीवन की अनेक समस्याओं के द्विमुखी और विरोधी पक्षों के साथ-साथ विश्लेषण और प्रतिपादन के कारण 'कुरुक्षेत्र' के विषय में यह कहा जाता है कि उनकी दृष्टि द्वन्द्वग्रस्त और प्रतिपादन अस्पष्ट है। यह धारणा भ्रामक है। प्रत्युत, सत्य तो यह है कि कुरुक्षेत्र में आकर उनकी प्रवृत्तियां संतुलित हो गई हैं। उनके मूल्य निर्धारित हो गये हैं। 'कविता ज्ञान है या आनन्द' नामक लेख में आई० ए० रिचर्ड्स की जिन मान्यताओं का विश्लेषण दिनकर ने किया है, वे ही कुरुक्षेत्र पर लागू होती हैं। रिचर्ड्स के अनुसार 'कविता का महत्व ज्ञान-दान को लेकर नहीं मूल्यों को लेकर है। मनुष्य के भीतर अनेक प्रवृत्तियां चलती रहती हैं। ये सभी प्रवृत्तियां भूखी होती हैं और सबकी सब संतुलन खोजती हैं। अनुभूतियां, वे श्रेष्ठ हैं जो संख्या में कम से कम प्रवृत्तियों को विफल करके अधिक से अधिक प्रवृत्तियों की तृषा को पूर्ण कर दें,

---

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ १४६
२. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ६६

सत्यासत्य का निर्णय हो गया है। मरण और जीवन, नाश और निर्माण में से सत्य कौन है, असत्य कौन? प्रवृत्ति और निवृत्ति में कौन धर्म है, कौन अधर्म; संसार नित्य है अथवा अनित्य; सुन्दरता सत्य है अथवा उसके भीतर छिपी हुई कुरूपता; कलिका का मुरझाना सत्य है अथवा विकास? इत्यादि प्रश्न दिनकर के मन में दीर्घकाल से चले आ रहे थे। जैसे प्रौढ़ होकर व्यक्ति अपने हृदय के उद्वेलनों का शमन दर्शन और आध्यात्मिकता से करता है वैसे ही जीवन की विविध विषमताओं और विरोधी परिस्थितियों से उत्पन्न अवसाद और उद्वेलन, समस्याओं और प्रश्नों का समाधान दिनकर ने कुरुक्षेत्र में पाश्चात्य और भारतीय दर्शन के सार तत्वों को ग्रहण करके किया है। ऐसी स्थिति में इस कृति की मूल चेतना को द्वन्द्वग्रस्त मानकर उसके आधार पर उसके कवि को 'द्वन्द्व का कवि' सिद्ध करना अनुपयुक्त है। 'कुरुक्षेत्र' की काव्य-चेतना का सम्यक् विश्लेषण हम उसके पूर्ववर्ती काव्य के परिपार्श्व में रख कर ही कर सकते हैं, और ऐसा करने पर कुरुक्षेत्र में आकर 'रेणुका' और 'द्वन्द्व गीत' की समस्याओं का स्वस्थ समाधान मिलता है, हुंकार की भावप्रधान समष्टि-चेतना दर्शन से सम्पुष्ट होकर स्थायी हो जाती है। हिंसा और अहिंसा का कितना अंश साध्य है कितना त्याज्य, इनमें से कौन साध्य है, कौन साधन, इस विषय में भी कवि की दृष्टि निर्भ्रान्त और स्पष्ट हो जाती है। दिनकर के मन में उठी हुई प्रायः हर शंका का स्वस्थ और संतुलित समाधान होता है, हर क्षेत्र की समस्या अभाव से भाव की ओर मुड़ कर कवि की दृष्टि को आशावादी बनाती है। युद्ध-दर्शन के प्रसंग में हिंसा और अहिंसा, व्यक्ति-धर्म और समष्टि-धर्म, इत्यादि प्रश्नों पर विचार किया जा चुका है। युद्ध से इतर व्यापक क्षेत्रों में कुरुक्षेत्र के दर्शन की दो मुख्य प्रवृत्तियां हैं—

(१) भावमूलक तत्वों की अभावमूलक तत्वों पर विजय।

(२) जीवन के विभिन्न विरोधी तत्वों में सामंजस्य।

अभावमूलक तत्वों पर भावमूलक तत्वों की विजय

पाप पर पुण्य की विजय : कुरुक्षेत्र के प्रथम पांच सर्गों में युद्ध की पृष्ठभूमि प्रधान है। अतएव, उसमें विवेचित प्रश्नों का मुख्य सम्बन्ध युद्ध-विषयक विभिन्न प्रश्नों को लेकर ही है। भीष्म की अनेक उक्तियों में कहीं-कहीं जीवन-दर्शन के व्यापक सिद्धान्त संकलित अवश्य हो गए हैं, लेकिन मुख्य रूप से जीवन का विश्लेषण और जीवनगत सत्यों का निर्धारण सप्तम सर्ग में ही हुआ है। पंचम सर्ग के अन्त में युधिष्ठिर 'रागानल' के बीच तप कर कुन्दन हो चुके हैं, पाप की ग्लानि का अंधकार मिट चुका है, आत्मा की किरण उसके

तिमिर पर विजय प्राप्त कर चुकी है, और दीर्घकाल से चला आता हुआ दिनकर के मन का द्वन्द्व भी समाप्त हो गया है, उनकी समस्या का भी समाधान हो गया है। परिस्थितियों की विवशता के अन्धकार में से उन्हें कर्तव्य का आलोक दृष्टिगत हो गया है। अपराध और पाप से उत्पन्न हीन भावना और ग्लानि मिट गई है। पाप पर पुण्य की विजय घोषित करते हुए वे उस मानव की जय बोलते हैं जो पाप के गहन गर्त में गिर कर फिर उठ खड़ा होता है और आलोक के मार्ग पर अग्रसर होता है। पाप और पुण्य जीवन के दो मार्ग हैं। मनुष्य का भाग्य है कि उसे इन दोनों पर ही चलना पड़ता है। पाप और दुःख भोग कर ही उसे पुण्य के सुख की उपलब्धि होती है। मानव-जीवन का यह सत्य है। सप्तम सर्ग के आरम्भ में ही अघ के गहन गर्त में गिरे हुए मानव की जय बोलते हुए दिनकर कहते हैं—

जय हो, अघ के गहन गर्त में गिरे हुए मानव की
मनु के सरल अबोध पुत्र की, पुरुष ज्योति-संभव की।
हार मान हो गई न जिसकी किरण तिमिर की दासी,
न्योछावर उस एक पुरुष पर कोटि-कोटि सन्यासी।[1]

जीवन का नियम है अन्धकार के बाद आलोक की प्राप्ति। भौतिकता-जन्य दुःखों और उद्वेगों के उपरान्त ही आत्मा का आलोक प्राप्त होता है। रजनी के बाद ही ऊषा का आगमन होता है। पृथ्वी के हर व्यक्ति के वस्त्र वैतरणी के जल से मलिन हैं। आरम्भ से लेकर अन्त तक किसी का पथ उज्ज्वल नहीं रहता। मनुष्य का मार्ग पुण्य के शिखरों और पाप के गर्तों से पूरित है, दोनों का सामना करते हुए वह उठता-गिरता आगे बढ़ता है। कभी गलत पैर पड़ने से वह गर्त में फंस जाता है, परन्तु फिर धूल झाड़ कर आश्वस्त होकर और सम्हल कर वह सामने की ऊंचाइयों की ओर बढ़ता है, पाप पर पुण्य की विजय की आशा और आकांक्षा ही उसे आगे की ओर बढ़ाए लिए जा रही है। जब तक यह पुण्य-बल है इस पुण्य का विश्वास है तब तक मनुष्य हार नहीं सकता—

जब तक है अवशिष्ट पुण्य-बल की नर में अभिलाषा,
तब तक है अक्षुण्ण मनुज में मानवता की आशा।[2]

'द्वन्द्व गीत' के पाप से भयभीत, जीवन और जगत की नश्वरता से सहमे हुए दिनकर को जीवन के इस सत्य पर विश्वास हो गया है कि—

---

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ९७
२. वही, पृष्ठ ९८

मही नहीं जीवित है मिट्टी से डरने वालों से,
जीवित है वह उसे फूंक सोना करने वालों से।
ज्वलित देख पंचाग्नि, जगत से निकल भागता योगी,
धुनी बना कर उसे तापता अनासक्त रसभोगी।[1]

भाग्यवाद पर कर्मवाद की विजय

बात-बात पर ईश्वर की कृपा की याचना करने वाले, हर समस्या को लेकर भाग्य का रोना रोने वाले उदयकालीन दिनकर में अब प्रचण्ड विश्वास की किरणें फूट पड़ी हैं। उनमें मध्याह्न के सूर्य की प्रखरता और शक्ति आ गई है, मनुष्य की शक्ति पर उनका विश्वास दृढ़ हो गया है। मनुष्य की कर्मशक्ति और प्रज्ञा अब उन्हें दुर्लभ से दुर्लभ अभीष्ट की प्राप्ति में समर्थ जान पड़ती है। भाग्यवाद पर कर्मवाद की विजय की स्थापना करते हुए वे कहते हैं—

भाग्यवाद आवरण पाप का
और शस्त्र शोषण का,
जिससे रखता दबा एक जन
भाग दूसरे जन का।[2]

* * *

ब्रह्मा का अभिलेख पढ़ा—
करते निरुद्यमी प्राणी,
धोते वीर कु-अंक भाल का
बहा भ्रुवों से पानी।[3]

निवृत्ति पर प्रवृत्ति की विजय

ग्लानि और पश्चाताप के आंसुओं से धुल कर युधिष्ठिर के अधीर हृदय को आशा की एक किरण प्राप्त हुई। वह आशा जो पुण्य और पाप दोनों वृन्तों पर खिलती है; जो इसका रहस्य पा लेता है वही मानव-समाज का हितैषी, धर्म का प्रणेता और अग्रणी होता है। विरागी युधिष्ठिर को धर्मक्षेत्र में प्रत्यागत पाकर भीष्म निवृत्ति और विराग का खण्डन करते हुये जीवन की समस्याओं और यथार्थवादी समाधान में ही धर्म के सच्चे रूप की स्थापना करते हैं। सन्यास मन की कायरता है, जीवन से पलायन है, मनुष्य का सच्चा धम है जीवन की उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाना—मानवों के लिए समर्पित

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ९७
२. वही, पृष्ठ १०७
३. वही, पृष्ठ २०६

हो जाने में ही मानव की सार्थकता है। निवृत्ति का मार्ग वैयक्तिक मोक्ष का मार्ग है, परन्तु वैयक्तिक मोक्ष धर्म नहीं है समष्टि के लिए मोक्ष-दान की अनवरत चेष्टा ही धर्म का सच्चा स्वरूप है। यतीधर्म जीवन से पलायन का नाम है। मनुष्य जीवन के तिक्त और कटु अंश से बचता है, केवल मधुर का ग्रहण करना चाहता है, अपनी इच्छाओं और कामनाओं के विपरीत परिस्थितियां उसकी आंखों में आंसू भर देती हैं; लेकिन जीवन में सफलता और असफलता सदैव अपनी इच्छानुसार नहीं प्राप्त हो सकती।—जीवन एक अरण्य है, जो चाहे अपने कर्मबल और शक्ति से अपने लिए राह बना सकता है, जीवन की समस्याओं से डरने और सहमने वाले उन पर विजय नहीं पा सकते बल्कि जिस व्यक्ति में पैर टिकाकर संघर्षों का सामना करने की शक्ति होती है जीवन उसका होता है। जीवन-पयोधि की सतह का जल पीने वालों का मुँह खारा ही रहता है, परन्तु जिसकी भुजाओं में उसे मथने की शक्ति है, वह उसकी सुधा का पान कर सकता है। कर्म से भागने वाला, संघर्षों से मुख मोड़ने वाला व्यक्ति उस मूर्ख के समान है जो वृक्ष की शिखा पर चढ़े बिना सुधाफल प्राप्त करना चाहता है, बिना मन्दर उठाए अमृत रस पीना चाहता है। जीवन के संघर्षों का सामना करने में असमर्थ व्यक्ति ही उसे स्वाद और रसविहीन कह कर छोड़ देता है। उसकी जीवन-शक्ति समाप्त हो जाती है और कल्पना-लोक में महल बना कर वह अलभ्य का सपना देखने लगता है—वह केवल मधुर और कोमल तत्वों की कामना करता है। केवल फूलों की इच्छा करता है। कर्म रज से भरे व्योम-खण्ड से दूर सतत प्रफुल्ल वाटिका में अपना आवास बनाना चाहता है। परन्तु यह मार्ग, मनुष्य का मार्ग नहीं है। मनुष्य कोरी कल्पना और चिन्तन के देश में नहीं रह सकता, वह आकाशगामी होने का स्वप्न नहीं देख सकता। उसके लिए आकाश का मार्ग पृथ्वी पर से होकर जाता है। विरक्ति मनुष्य को अकर्मण्य और निष्क्रिय बनाती है, असत्य में सत्य की प्रतिष्ठा करती है। जीवन की गति को मृत्यु और कर्म की जागरूकता को माया के अन्धकार का नाम देती है। अनस्तित्व को सत्ता, और हार को ही उपलब्धि के रूप में प्रतिष्ठित करती है। इसी निवृत्ति-भावना का निराकरण करते हुये भीष्म कहते हैं—

दीपक का निर्वाण बड़ा कुछ,
श्रेय नहीं जीवन का
है सद्धर्म दीप्त रख उसको
हरना तिमिर भुवन का[1]

---

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ १२८

अनासक्त रसभोगी मिट्टी पर खड़ा होकर हँसता है और दिवास्वप्नों के संसार में विचरण करते हुए निवृत्तिवादी के पास आंसू और निराशा के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। कर्मयोगी भूमि का पंक झेलता त्रिविध ताप को सहता, अन्धकार और आलोक का अनुभव करता अपना मार्ग बनाता है, मिट्टी की महिमा गाता हुआ, संसार को पहले से कुछ और सुन्दर बना कर जाता है। दूसरी ओर अकर्मण्य व्यक्ति निर्यान अम्बुधि में भटकता रहता है। वह दृश्य पर अविश्वास और अदृश्य पर विश्वास करता है, कर्मक्षेत्र उसके लिए माया और कर्महीन दिवास्वप्न सत्य है। जीवन के प्रति यह अनास्था उसके सत्य रूप का उद्घाटन नही कर सकती। ज्ञानमयी निवृत्ति से न द्विधा मिट सकती है और न जगत को छोड़ देने से मन की तृष्णा बुझ सकती है। आत्मा के सन्तोष का मार्ग आत्म-हनन नही उन्नयन है—उन्नयन भी काल्पनिक भगवान के प्रति नही, समाज के प्रति, मानव के प्रति, विश्व के प्रति।

जीवन की मृत्यु पर विजय

कलियों के मुरझाने को ही जीवन की अन्तिम परिणति मानने वाले दिनकर की दृष्टि अब बिल्कुल ही बदल गई है। पच्चीस वर्ष की अवस्था में अपनी मृत्यु की कल्पना करने वाले कवि की कुंठा ने अब जीवन में पूर्ण विश्वास और आस्था का रूप ले लिया है। जीवन की नित्यता उसे सत्य जान पड़ती है, सृष्टि के अनवरत और अथक क्रम में उसे अमरता के तत्व दिखाई पड़ते हैं—

पर निर्विघ्न सरणि जग की
तब भी चलती रहती है,
एक शिखा ले भार अपर का
जलती ही रहती है।
झड़ जाते हैं कुसुम जीर्ण दल
नये फूल खिलते हैं;
रुक जाते कुछ, दल में फिर
कुछ नये पथिक मिलते हैं।[1]

यतीधर्म का खण्डन करते हुये भी मरण पर जीवन की विजय का प्रतिपादन किया गया है, अकर्मण्य ज्ञानी, रो-रो कर अमर नहीं हो जाता, और कर्म का भार ढोने के कारण किसी व्यक्ति की आयु कम नही हो जाती। जिस व्यक्ति के मन पर हर समय नश्वरता का धुआं छाया रहता है, मृत्यु के अतिरिक्त

१. कुरुक्षेत्र, पृ० १३२

जिसे और कुछ नहीं दिखाई देता, वह जगत के रण में सन्नद्ध होकर लड़ने में असमर्थ रहता है—जीवन की उपेक्षा और मरण के चिन्तन से व्यक्ति अकर्मण्य हो जाता है—

> **तिरस्कार कर वर्तमान**
> **जीवन के उद्वेलन का,**
> **करता रहता ध्यान अहर्निश**
> **जो विद्रूप मरण का।**
> **अकर्मण्य वह पुरुष काम,**
> **किसके, कब आ सकता है?**
> **मिट्टी पर कैसे वह कोई**
> **कुसुम खिला सकता है।[1]**

तृष्णा को जीतने के प्रयत्न में निवृत्तिमार्गी यती बन जाता है, कर्मयोगी उसे अपने संयम और उन्नयन से जग में रह कर ही वश में करता है। असंख्य मनुष्यों को अपना बना कर उनके दुःख और सुख में समभागी होकर, पंगु को अपनी बांहों का सहारा देकर, दुर्बल-दरिद्र का बोझ उठा देने पर जिस आत्म-सुख की प्राप्ति होती है, तृष्णा के शमन और उन्नयन का सच्चा तथा सही मार्ग वही है। इस प्रकार कुरुक्षेत्र में 'रेणुका' और 'द्वन्द्व गीत' के दिनकर की अनेक रुग्ण और असंतुलित भावनाओं और विचारों का मूलोच्छेदन हो गया है। मृत्यु पर जीवन, भाग्य पर कर्म, पाप पर पुण्य के विजय की यह कहानी दिनकर के मानसिक संतुलन और स्वास्थ्यलाभ की कहानी है। नश्वरता और क्षणभंगुरता के कोमलतम उपमान भी अब उनके सामने जीवन की स्वस्थ और आकर्षक परिभाषा उपस्थित करते है—

> **फूलों पर आँसू के मोती**
> **और अश्रु में आशा,**
> **मिट्टी के जीवन की छोटी,**
> **नपी तुली परिभाषा।[2]**

वैयक्तिक भोगवाद पर समष्टि-हित की विजय

सप्तम सर्ग में दिनकर की उक्तियों के आधार पर उन्हें मार्क्सवादी और प्रगतिवादी घोषित किया जाता रहा है, लेकिन यह एक याद रखने की बात

---

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ १३१
२. वही, पृष्ठ १४५

है कि 'साम्य' शब्द का सम्बन्ध केवल मार्क्सवाद से नही है। मार्क्सवाद मे प्रतिपादित साम्य को दिनकर ने सदैव अधूरा माना है। कुरुक्षेत्र मे प्रतिपादित साम्य का आधार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद नहीं है। शोषक के प्रति घृणा, शोषित के प्रति सहानुभूति उस मानवतावादी पृष्ठभूमि में व्यक्त की गई है जिसमें आध्यात्मिक और भौतिक दोनों प्रकार के साम्य का संतुलन और सामंजस्य है। अगर करुणा, दया, क्षमा, सत्य, अहिंसा पर आधृत मानवतावाद को कुरुक्षेत्र का साध्य मान लें तो वह गाधी के बहुत निकट और मार्क्स से बहुत दूर पड़ता है। 'कुरुक्षेत्र' के प्रतिपाद्य की व्यापकता में अनेक ऐसे प्रश्न अन्तर्भूत है, जो जीवन के भौतिक पक्ष से सम्बन्ध रखते हैं जैसे साम्राज्यवाद का विरोध, वर्गवैषम्य का खण्डन, राजनीतिक भ्रष्टाचार इत्यादि। लेकिन न तो इनका निरूपण मार्क्सवादी सिद्धान्तों के अनुसार हुआ है और न दिनकर के समाधान भौतिकवादी हैं। वर्गवैषम्य के प्रति उनका आक्रोश और उसके उच्छेदन के लिए हिंसात्मक मार्ग की स्वीकृति भारतीय राष्ट्रीय संघर्ष के वातावरण मे पल्लवित हुई है। क्रान्ति का मार्ग उन्होंने पहली बार नही अपनाया है। वैयक्तिक भोगवाद की प्रेरणा से शक्ति का केन्द्रीकरण होता है, और शक्ति के केन्द्रीकरण से समाज में वर्गवैषम्य को संवर्द्धन मिलता है, दिनकर के पास इस वर्गवषम्य का एक ही उपचार है :

रण रोकना है तो उखाड़ विषदन्त फेंको
वृक-व्याघ्र-भीति से मही को मुक्त कर दो;
अथवा अजा के छागलों को भी बनाओ व्याघ्र,
दांतों में कराल काल-कूट विष भर दो ;
वट की विशालता के नीचे जो अनेक वृक्ष
ठिठुर रहे है उन्हें फैलने का वर दो
रस सोखता है जो मही का भीमकाय वृक्ष,
उसकी शिरायें तोड़ो, डालियां कतर दो।[1]

हिंसात्मक क्रान्ति की यह प्रेरणा रूसी साम्यवादी व्यवस्था से नही बल्कि भारतीय राजनीति क्षेत्र के उन व्यक्तियों और संस्थाओं से ग्रहण की गई है जो गांधीयुग में भी हिंसा और आतंकवादी नीति का अनुसरण कर रहे थे। 'कुरुक्षेत्र' की क्रान्ति 'रेणुका' की क्रान्ति नहीं रह गई है उसमें उत्तेजना कम उत्साह अधिक है।

---

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ १०२

वैयक्तिक भोगवाद के खण्डन और समष्टि हित-दृष्टि की स्थापना कुरुक्षेत्र मे कई बार की गई है—

उसे भूल नर फंसा परस्पर
की शंका में, भय में,
निरत हुआ केवल अपने ही
हेतु भोग-संचय में
इस वैयक्तिक भोगवाद से
फूटी विष की धारा,
तड़प रहा जिसमें पड़ कर,
मानव समाज यह सारा।[1]

* * *

तज समष्टि को व्यष्टि चली थी
निज को सुखी बनाने,
गिरी गहन दासत्व गर्त के
बीच स्वयं अनजाने।[2]

समष्टि-चिन्तन के साम्य के साथ-साथ बाह्य अथवा भौतिक साम्य को सम्यक् रूप से महत्व दिया गया है। भौतिक साम्य के इसी प्रतिपादन के आधार पर दिनकर को कभी-कभी प्रगतिवादी सिद्ध किया जाता रहा है। परन्तु भीष्म में हमारे पौराणिक विश्वास तथा आध्यात्मिकता के साथ भौतिक तत्वो के समन्वय के कारण उसमें अविश्वसनीयता का दोष नहीं आने पाता। यही नहीं भीष्म के मुख से प्रतिपादित किये जाने के कारण भौतिकवाद की एकांगिता अधूरेपन के स्थान पर उसमें सार्वभौमता और व्यापकता का समावेश हो गया है। प्रत्येक व्यक्ति को जीने का अधिकार है। भूमि किसी की क्रीतदासी नहीं है, मिट्टी के रस, मुक्त प्रकाश, खुली हवा पर सबका समान अधिकार है। हर व्यक्ति को अपने विकास के लिए खुला आकाश चाहिये। परन्तु वास्तविकता यह है कि सामाजिक और आर्थिक वैषम्य मानवता के विकास मे पर्वत के समान अड़े हुए हैं—इनके निराकरण मे ही दिनकर मानवता की मुक्ति की कल्पना करते हैं—

न्यायोचित सुख सुलभ नहीं, जब तक मानव मानव को,
चैन कहां धरती पर तब तक, शान्ति कहां इस मन को ?

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ १०४
२. वही, पृष्ठ ११४

जब तक मनुज मनुज का यह, सुख-भाग नहीं सम होगा,
शमित न होगा कोलाहल, संघर्ष नहीं कम होगा ।[1]

समष्टि-हित की स्थापना के साथ ही दिनकर ने श्रम की मर्यादा और महत्व की स्वीकृति पर भी विशेष बल दिया है। भाग्यवाद मे मनुष्य के शोषण के तत्व निहित है। वह पाप का आवरण है, मनुष्य का भाग्य है, उसका श्रम ही उसकी शक्ति है—

नर समाज का भाग्य एक है,
वह श्रम वह भुज-बल है;
जिसके सम्मुख झुकी हुई—
पृथ्वी, विनीत नभ-तल है;
जिसने श्रम-जल दिया उसे
पीछे मत रह जाने दो,
विजित प्रकृति से सबसे पहले
उसको सुख पाने दो?[2]

परन्तु व्यक्ति या समष्टि किसी भी स्तर पर दिनकर की दृष्टि भौतिकवाद की एकांगिता को लेकर नही चली है, इस प्रकार की उक्तियों के आधार पर उन्हें साम्यवादी नहीं घोषित किया जा सकता, यह दृष्टि तो उनके समग्र और व्यापक दर्शन की एक इकाई मात्र है। मानव की एकता की स्थापना का स्वप्न उन्होने निष्काम कर्म की पृष्ठभूमि मे समष्टि के प्रति कामनाओं के उन्नयन में देखा है। उनकी समष्टि साधना के दो रूप है——शक्ति का विकेन्द्रीकरण और उसका समान वितरण तथा वैयक्तिक भोगवाद के स्थान पर समष्टि-हित समन्वित कर्मवाद की स्थापना। इसके उदाहरण रूप मे ये पक्तियां ली जा सकती है—

और सिखाओ भोगवाद की यही रीति जन-जन को
करें विलीन देह को मन में, नहीं देह में मन को ।[3]

जीवन के विरोधी तत्वों में सामंजस्य की स्थापना

मानव-मन प्रवृत्तियों का जाल है। अनेक विरोधी प्रवृत्तियां एक साथ अथवा अलग-अलग उठ कर उसके मार्ग में उलझनें उत्पन्न करती है। एक ही समस्या के विभिन्न पहलुओं में फंस कर वह एक निर्णय लेने में असमर्थ रहता

---

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ १०१
२. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ १०८
३. वही, पृष्ठ १४१

है। फिर जब समस्या एक साधारण व्यक्ति अथवा साधारण जीवन की न हो कर विश्वजनीन और सार्वजनीन हो तब तो उसका रूप और भी जटिल और ग्रन्थिल हो जाता है। 'कुरुक्षेत्र' में ऐसी ही विरोधी प्रवृत्तियों की अनेक बार टक्कर हुई है, और कवि ने अनेक बार एक की विजय और दूसरी के निराकरण में समाधान न देकर दोनों के सामंजस्य और समन्वय द्वारा स्थितियों को सुलझाया है। कहीं देहबल और मनोबल के प्रयोग का प्रश्न उठा है; कहीं शौर्य और करुणा में कौन ग्राह्य है, इस प्रश्न पर कवि की दृष्टि अटकी है। इसी प्रकार कल्पना और यथार्थ, विज्ञान और कला, मस्तिष्क और हृदय, साम्यवाद और शक्ति के केन्द्रीकरण में तुलनात्मक श्रेष्ठता का प्रश्न उठने पर कवि ने दोनों विरोधी पक्षों के समन्वय में ही स्थिति के आदर्श रूप की कल्पना की है।

आध्यात्मिक और शारीरिक शक्ति का संतुलन

दिनकर का दर्शन पृथ्वी का सहारा नहीं छोड़ता। काल्पनिक आदर्श के मोह में वे पृथ्वी से पैर उठा कर आकाश में नहीं उड़ते। बल्कि आकाश की ऊंचाई पर पहुंच कर भी धरती का आधार लिये रहते है। इसलिये कुरुक्षेत्र के दर्शन का क्रियात्मक पक्ष बड़ा सबल है। पुरुष के पूर्ण व्यक्तित्व की कल्पना वह ओज और करुणा, आध्यात्मिक बल और शारीरिक बल के समन्वय में करते है। मनःशक्ति और पौरुष, क्षमा और शौर्य, दया और दर्प जैसे विरोधी गुण एक दूसरे के पूरक है, एक के बिना दूसरा अधूरा है—

सच पूछो तो, शर में ही बसती है दीप्ति विजय की।
सन्धि वचन संपूज्य उसीका, जिसमें शक्ति विजय की।
सहनशीलता, क्षमा दया को तभी पूजता जग है,
बल का दर्प चमकता उसके पीछे जब जगमग है।[1]

दिनकर की इन मान्यताओं के मूल में उनके युग की वे विरोधी शक्तियां है जो भारतीय राजनीति में एक दूसरे से टक्कर ले रही थीं। गांधी की राजनीति में आध्यात्मिकता की मात्रा इतनी अधिक थी कि कभी-कभी उस युग के युवकों और उग्रता में विश्वास करने वाले अन्य वर्ग के लोगों को उसके प्रति खीझ होती थी। 'हुंकार' और 'कुरुक्षेत्र' से पहले लिखे गए 'सामधेनी' के गीतों में दिनकर उसके विरुद्ध आवाज उठाते आ रहे थे, परन्तु कुरुक्षेत्र में आकर उन्होंने दोनों के बीच समन्वय का मार्ग स्वीकार कर लिया है, और व्यक्ति तथा समष्टि

---

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ २६

दोनों ही स्तरों पर उदात्त की साधना के लिए शारीरिक शक्ति को साधन रूप में अनिवार्य माना है ।

स्नेह और धर्म का समन्वय

राग और विवेक का द्वन्द्व मनुष्य के जीवन की सबसे बड़ी समस्या होती है । हृदय चाहता है वह करना जो इसे अच्छा लगता है, और मस्तिष्क उसके सामने मर्यादा तथा कर्तव्य के बन्धन फैला कर उससे वह करवाना चाहता है जो करना चाहिए । कामनाओं के मूल में प्रवृत्तियां होती है, आदर्श के मूल में विवेक । अपने वैयक्तिक और सामाजिक दायित्वों के निर्णय में इन्ही दोनों तथ्यों का मूल्यांकन मनुष्य को करना पड़ता है, जब कभी इसमें गलती होती है, व्यक्ति अपने अभीष्ट से, आदर्श से च्युत होकर पथ-भ्रष्ट हो जाता है ।

राग और बुद्धि मिल कर मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण करते है । कर्तव्य के प्रति उत्साह तभी हो सकता है जब उसमें राग की प्रेरणा हो—हृदय और बुद्धि, आदर्श और यथार्थ, स्नेह और धर्म की समन्विति ही सिद्धि मे सहायक होती है । कर्म अथवा धर्म के बिना स्नेह अव्यावहारिक और अर्थहीन होगा, स्नेह की प्रेरणा के बिना कर्मरत मनुष्य एक यन्त्र मात्र रह जाएगा । भीष्म के व्यक्तित्व में इन्ही सत्यों का आरोपण करते हुए दिनकर ने हृदय और भुजा, हृदय और मस्तिष्क में समन्वय की अनिवार्यता को स्वीकार किया है । जहा इन तीनों का अलग-अलग विभाजन किया जाता है, वहा गलती होती है, मनुष्य एक पूर्ण दृष्टि प्राप्त कर सकने में असमर्थ रह जाता है । यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि राग की अवरुद्ध धारा व्यक्ति को असंतुलित बना देती है और कभी न कभी किसी न किसी मार्ग से अपनी अभिव्यक्ति पा लेती है । ब्रह्मचर्य के व्रत के कारण भीष्म का राग उनके लिए पाप बन चुका था । वे हर समय अपने प्राणों पर बन्ध बांधे कोमल भावनाओं की ओर से सचेत रहते थे । फलस्वरूप—

> **बही न कोमल वायु, कुंज मन का था कभी न डोला,**
> **पत्रों की झुरमुट में छिप कर विहग न कोई बोला ।**
> **चढ़ा किसी दिन फूल किसी का मान न मैं कर पाया,**
> **एक बार भी अपने को था दान न मैं कर पाया ।[1]**

वही अतृप्ति हृदय के निभृत कोने में, भीष्म के अवचेतन के गह्वर में कही

---

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ६०

छिपी बैठी थी जो अर्जुन के प्रति प्रेम बन कर उमड़ पड़ी—और भीष्म को जीवन के उस सत्य का ज्ञान हुआ जिससे वे अभी तक वंचित थे।

मुझे शान्ति, यात्रा से पहले
मिले सभी फल मुझको
सुलभ हो गए धर्म स्नेह
दोनों के सम्बल मुझको।[1]

धर्म और स्नेह के इस संयुक्त आनन्द की उपलब्धि के पहले भीष्म के ही द्वारा मस्तिष्क और हृदय के अप्रकृत विभाजन के अनौचित्य का विश्लेषण कराया गया है।

हृदय प्रेम को चढ़ा, कर्म को
भुजा समर्पित करके,
मैं आया था कुरुक्षेत्र में
तोष मनों में भर कर,
समझा था मिट गया द्वन्द्व
पाकर यह न्याय विभाजन;
ज्ञात न था, है कहीं कर्म से
कठिन स्नेह का बन्धन।[2]

और अन्त में अपने व्यक्तित्व में कर्तव्य और भावना के अस्वाभाविक और असंपृक्त सम्बन्ध की आलोचना करते हुए मानो वे इस बात की घोषणा करते हैं कि हृदय और मस्तिष्क की द्विधा में पड़ा हुआ व्यक्ति अपने कर्तव्य के पालन में पूर्णरूप से सफल नहीं हो सकता। कुरुक्षेत्र के युद्ध के लिए वे अपने इसी खण्डित व्यक्तित्व को उत्तरदायी मानते है—

प्रकटी होती मधुर प्रेम की मुझ पर कहीं अमरता,
स्यात् देश को कुरुक्षेत्र का दिन न देखना पड़ता।[3]

शौर्य और करुणा का समन्वय

करुणा और शौर्य विरोधी भाव माने जाते है। पर दिनकर की अर्धनारीश्वर भावना में 'करुणा' की कोमलता और 'वीर' की परुषता साथ-साथ चलती

---

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ६६
२. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ५८
३. वही, पृष्ठ ६२

है। पहले पहल करुणा और शौर्य का यह समन्वय कलिंग-विजय के अशोक में किया गया था—

गिर गया हतबुद्धि-सा थक कर पुरुष दुर्जेय,
प्राण से निकली अनामय नारि एक अजेय।
अर्धनारीश्वर अशोक महीप;
नर पराजित, नारि सजती है विजय का दीप।[1]

कुरुक्षेत्र में इस समन्वय की कल्पना पहले की अपेक्षा अधिक ठोस धरातल पर की गई है। पंचम सर्ग के आरम्भ में भीष्म और युधिष्ठिर को नेपथ्य में भेज कर कवि सूत्रधार के रूप में स्वयं सामने आकर उस पृष्ठभूमि का विवेचन करता है जिसमें उसकी मान्यताएं घोषित होती हैं। युद्ध से संतप्त विश्व के लिए छाया खोजने के प्रयास में विफल वह सर्वत्र हिंसा और नाश के ही दृश्य देखता है। उसे इतिहास के पृष्ठ रक्त-रंजित, ज्वालामय और मनुष्य के कच्चे मांस के जलने की दुर्गन्ध से भरे हुये दिखाई देते हैं। सभ्यता के विकास के साथ शक्ति के केन्द्रीकरण में भी वह विजयी के स्वार्थ, मद, हिंसा-प्रयोग, और पराजित की कुंठा, क्रोध और घुटन देखता है, और फिर तलवार के साथ कलम का सहयोग इसी संहार की प्रतिष्ठा कर उसे अमर बना देता है। कविता और कला का आलम्बन बन कर संहार का दानव, देवता बन जाता है, उसमें समस्त दानवी कृत्यों और राक्षसी वृत्तियों को शौर्य का नाम देकर उसे अमर बना दिया जाता है। सैन्य-शक्ति ही जहां श्रेष्ठता का मापदण्ड हो, वहां जीवन के उदात्त गुणों का क्या महत्व रह जायेगा? सहस्रों लाखों व्यक्तियों की हत्या का पाप जहां पुण्य बन कर हँसता हो, वहां करुणा, दया, और क्षमा जैसे उदात्त गुणों का क्या मूल्य आंका जायेगा?

दिनकर ने विजयी के मन में करुणा का उदय दिखा कर एक ओर युधिष्ठिर के मानसिक क्षोभ का निराकरण किया है दूसरी ओर केवल शौर्य और शक्ति-समन्वित क्षमा और करुणा की ही महत्ता स्वीकार की है। विजित और पराजित की क्षमा का कोई अर्थ नहीं है। असमर्थ और निर्बल की सहिष्णुता तो अनिवार्य है। उदात्त गुणों की स्थापना उनका अभिप्रेत है और शौर्य उसका साधन। कभी-कभी कुरुक्षेत्र के रस-विधान के सम्बन्ध में यह निष्कर्ष दिया जाता है कि उसका अंगी रस है 'करुण पोषित वीर'। सबसे पहली बात यह है कि कुरुक्षेत्र में रस-विवेचना हम परम्परागत मान्यताओं के आधार पर नहीं कर सकते। न वह घटनाप्रधान प्रबन्ध है और न चरित्रप्रधान। उसमें विचारों की

१. सामधेनी, पृष्ठ ४८

प्रधानता है और उन्हीं को लेकर उसकी प्रबन्धात्मकता चलती है। उसमें एक ओर करुणा का निराकरण है और दूसरी ओर शौर्य के साथ उसका समन्वय किया गया है। हारी हुई जाति अथवा हारे हुये व्यक्ति की करुणा और सहिष्णुता पाप है, क्लीव जाति का कलंक है, लेकिन दूसरी ओर वही शौर्य का साध्य है वीरता का लक्ष्य है। निराकरण और समन्वय की इन स्थितियों को करुणा द्वारा वीर का पोषक नही माना जा सकता। हां यह अवश्य कहा जा सकता है कि करुणा के साम्राज्य की स्थापना के लिए दिनकर शौर्य को अनिवार्य मानते है। वह करुणा ग्लानि नही उत्पन्न करती बल्कि सम्पूर्ण विश्व को हृदय के सूत्र में बांधती है। विजयी की ग्लानि, शूर की करुणा ही संसार को युद्ध की विभीषिका से मुक्त कर सकती है—

सच्छान्ति जगेगी इसी स्वप्न के क्रम से,
होगा जग कभी विमुक्त इसी विध यम से।
परिताप दीप्त होगा विजयी के मन में,
उमड़ेंगे जब करुणा के मेघ नयन में।[1]

ज्ञान और भावना का समन्वय

छठे सर्ग में महाभारत के पात्रों और घटनाओं में अपने मन की उड़ान को न बांध सकने के कारण दिनकर, महाभारत के युग से बीसवी सदी में लौटकर स्वयं हमारे सामने आए हैं, और विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि मे आज के वैज्ञानिक युग की सीमाओं और शक्तियों का विवेचन किया है। आज की अनेक समस्याओं का मूल कारण है बुद्धि का अतिचार। कोई भी वस्तु अपने आप मे अच्छी और बुरी नहीं होती। उसका सदुपयोग और दुरुपयोग ही उसकी प्रकृति का निर्णय करते हैं। विज्ञान आज के युग की सबसे बड़ी समस्या है। मनुष्य अनुदिन संहार और नाश के तत्वों के स्वीकार को अपनी शक्ति के परीक्षण की कसौटी बना रहा है। फलस्वरूप वही विज्ञान जो लोक कल्याण और मानवता के लिए वरदान सिद्ध हो सकता था, मनुष्य के जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप बन रहा है। ज्ञान और भावना के समन्वय का अभाव आज की अनेक समस्याओं के मूल में है।

यह प्रगति निस्सीम ! नर का यह अपूर्व विकास ?
चरण-तल भूगोल ! मुट्ठी में निखिल आकाश !

---

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ८९

किन्तु, है बढ़ता गया मस्तिष्क कहीं निःशेष,
छूट कर पीछे गया है रह हृदय का देश;
नर मनाता नित्य नूतन बुद्धि का त्यौहार,
प्राण में करते दुःखी हो देवता चीत्कार।[1]

ज्ञान की भूख मनुष्य को अनिश्चित और उद्देश्यहीन मार्ग पर ले जा रही है। बुद्धि के पवमान में वह तिनके सा उड़ रहा है। आज का युग द्वापर की भांति लाचार नही है, बुद्धि की पतवार सम्हाले अज्ञान के नभ को चीरता हुआ मनुष्य ज्योति की नई भूमि में आ गया है, सागर, भूमि, विद्युत, भाप उसकी इच्छा पर कार्य करते हैं, पृथ्वी, आकाश और वरुणेश उसके हुक्म का पालन करते है परन्तु, ज्ञान, कर्म और भाव में सामंजस्य के अभाव के कारण वह अपने हाथ की तलवार से अपने ही ऊपर प्रहार करने की मूर्खता कर रहा है। विज्ञान के फूल उसके हाथ में वज्र बनकर अपना शुभ धर्म भूल गये है—

यह मनुज ज्ञानी, शृगालों कुक्करों से हीन—
हो, किया करता अनेकों क्रूर कर्म मलीन।
देह ही लड़ती नहीं, हैं जूझते मन-प्राण,
साथ होते ध्वंस हैं इसके कला-विज्ञान।
इस मनुज के हाथ से विज्ञान के भी फूल,
वज्र होकर भूलते शुभ धर्म अपना भूल।[2]

हृदय और मस्तिष्क ज्ञान और भावना की इस असंपृक्त और खण्डित स्थिति को मिटा कर, उनके समन्वय में ही कवि ने विश्व के कल्याण का स्वप्न देखा है, विज्ञान के शिवरूप को ही मनुष्य का श्रेय माना है—

श्रेय वह नर-बुद्धि का शिवरूप आविष्कार,
ढो सके जिससे प्रकृति सबके सुखों का भार।
मनुज के श्रम के अपव्यय की प्रथा रुक जाय,
सुख समृद्धि-विधान में नर के प्रकृति झुक जाय।[3]

इस प्रकार कुरुक्षेत्र में दिनकर की दृष्टि निर्भ्रान्त और स्पष्ट हो गई है। समष्टिमूलक और वैयक्तिक दोनों ही दृष्टिकोणों में कहीं अस्वस्थ और अवनयन मूलक तत्वों के निराकरण और कहीं विरोधी तत्वों के सामंजस्य के द्वारा

---

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ९३
२. वही, पृष्ठ ९३
३. वही, पृष्ठ ९५

वे स्थायी निष्कर्षों पर पहुंच गये हैं। जीवन के ये मूल्य कुरुक्षेत्र की पूर्वकालीन भावनाओं को दर्शन और विचार से संपुष्ट करके निर्धारित किए गए हैं। कुरुक्षेत्र पर जिन दो विचारकों का प्रभाव दिनकर स्वीकार करते है वे हैं बर्ट्रेण्ड रसेल तथा लोकमान्य तिलक। वर्तमान जीवन की समस्याओं के निरूपण में रसेल के विभिन्न ग्रन्थों से प्रभाव ग्रहण किया गया है तथा निवृत्ति-प्रवृत्ति और कर्मयोग के विश्लेषण में वे तिलक की कृति गीता-रहस्य से प्रभावित रहे है।

सामधेनी का प्रकाशन यद्यपि कुरुक्षेत्र के बाद हुआ परन्तु उसमे संकलित अधिकतर कविताएं 'कुरुक्षेत्र' के पहले लिखी गई थीं। उसमें दिनकर की १९४१ से १९४६ तक की लिखी हुई रचनाएं संकलित है। यह काल उनकी काव्य-चेतना का अन्धकार काल माना जा सकता है जब 'हुंकार' की आग समाप्त हो चुकी थी और राजनीतिक वातावरण दमन और शोषण के कारण क्षुब्ध और अवसन्न था। वैयक्तिक परिस्थितियों के कारण 'वर्तमान का बैताली' सरकार के स्वर मे गाने को बाध्य हो रहा था। सामधेनी के गीतों की समष्टि और व्यष्टि दोनों ही चेतनाएं इस कुठाग्रस्त पृष्ठभूमि मे व्यक्त हुई हैं। युद्ध की पृष्ठभूमि के प्रधान हो जाने से उनका ओज भी कुछ समय के लिए करुणा मे परिवर्तित हो गया है। प्रतिपाद्य की दृष्टि से सामधेनी की रचनाओं को मुख्य रूप मे तीन भागों मे विभाजित किया जा सकता है --

१. दार्शनिक तथा द्वन्द्वमूलक वैयक्तिक चेतना।
२. राष्ट्रीय-पार्श्वभूमि पर आधृत अवसादमूलक काव्य-चेतना।
३. युद्ध की पृष्ठभूमि में पल्लवित करुणाप्रधान काव्य-चेतना।

दार्शनिक तथा द्वन्द्वमूलक वैयक्तिक चेतना

इस वर्ग की प्रथम कविता है 'अचेतन मृत्ति, अचेतन शिला'। इस कविता मे उस प्रवृत्ति का स्थिरीकरण हुआ है जो 'द्वन्द्व गीत' में अव्यक्त सत्ता के प्रति आस्था और अनास्था के प्रश्न को लेकर उदित हुई थी। अब कवि के मन का द्वन्द्व मिट गया है। असीम और ससीम, सूक्ष्म और स्थूल, शरीर और प्राण मे ऐक्य-स्थापना के साथ एक अव्यक्त अपार्थिव सत्ता के अस्तित्व में उसका विश्वास अडिग हो गया है। मृत्तिका और शिला अपने आप में रुक्ष, श्रीहीन और अचेतन है, शिल्पी की छैनी और हथौड़ी ही उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करती है, उसी प्रकार संसार में जो कुछ भी प्राणवान, सुन्दर और आकर्षक है वह उस अदृश्य और अव्यक्त असीम के जादू भरे स्पर्श के कारण है। पार्थिव और भौतिक अस्तित्व की क्षणभंगुरता में जो सत्य और शिव है वह ब्रह्म है, इस

दृश्यमान जगत का सौन्दर्य और शिवत्व उसी की सांसों के स्पर्श का परिणाम है। अपनी पार्थिव विभूतियों का रूप संवारने के लिए, आत्मा की अदृश्य किरण को साकार करने के लिए कवि बड़ी आस्था और विश्वास से उस शिल्पी की प्रतीक्षा कर रहा है—

मृत्ति, प्रस्तर मेघों का पुंज,
लिए मैं देख रहा हूं राह,
कि शिल्पी आएगा इस ओर
पूर्ण करने कब मेरी चाह।
शिल्पी, जो मुझ में व्याप्त विलीन,
किरण वह कब होगी साकार ?[1]

इस वर्ग की दूसरी कविता द्वन्द्वमूलक है, जहां कवि 'अशेष' को अपनी सीमाओं के लिए उलाहना देता है। एक ओर उसकी कल्पनाएं, उदात्त आदर्श और अपने को आग में झोंक देने की अदम्य प्रेरणा है, दूसरी ओर उसकी भौतिक विषमताएं और परिसीमाएं हैं। ससीम असीम का ही अंश है। आग्नेय ज्योतिर्पिण्ड की एक चिनगारी 'दिनकर' भी हैं, परन्तु उन्हें अपनी ज्वाला को समेटकर रहना है, चिनगारी को बांध कर रखना है, क्योंकि उसके प्रसार से स्वयं जल जाने का डर है। मानसिक द्वन्द्व के इसी उद्वेग और उद्वेलन की प्रेरणा के फलस्वरूप इन अत्यन्त शक्तिपूर्ण पंक्तियों की रचना हुई है—

ओ अशेष ! निःशेष बीन का एक तार था मैं ही !
स्वर्भू की सम्मिलित गिरा का एक द्वार था मैं ही ![2]

प्रस्तुत गीत भी उनकी अनास्था पर आस्था की विजय का प्रमाण माना जा सकता है। 'चांद और कवि' शीर्षक से जो गीत 'नील कुसुम' में संकलित है वह पहले सामधेनी में प्रकाशित हो चुका था। यह गीत दिनकर के अर्जित आत्मविश्वास का द्योतक है। 'द्वन्द्व गीत' में व्यक्त जीवन के प्रति अविश्वास, नैराश्य, नश्वरता और क्षणभंगुरता की कुंठा अब समाप्त हो गई है और मानव के प्रति विश्वास और आस्था स्थायी रूप से स्थापित हो गई है। पहले जो दिनकर मानव-जीवन की चांदनी में अंधकार और उत्थान में पतन देखा करते थे अब उसकी क्षणभंगुरता में निहित शक्ति, तथा बुलबुलों में छिपी आग देखते हैं। स्वप्न और सत्य, कल्पना और यथार्थ के समन्वय में निहित उसकी

---

१. सामधेनी, पृष्ठ ४

२. वही, पृष्ठ ७

ताकत देखते हैं। उनकी रागिनी मनुष्य के प्रति चांद के उपहास का उत्तर देती है—

मैं न वह जो स्वप्न पर केवल सही करते,
आग में उसको गला लोहा बनाती हूं,
और उस पर नींव रखती हूं नए घर की,
इस तरह दीवार फौलादी उठाती हूं
मनु नहीं, मनुपुत्र है यह सामने, जिसकी
कल्पना की जीभ में भी धार होती है,
बाण ही होते विचारों के नहीं केवल,
स्वप्न के भी हाथ में तलवार होती है।[१]

'प्रतिकूल' कविता में बार-बार इस आस्था का संकेत दिया गया है। क्षुब्ध राजनीतिक वातावरण में क्रान्ति की आग लगाने की दैवी प्रेरणा का उल्लेख उन्होंने बार-बार किया है—

उसकी इच्छा थी, उठा गूंज गर्जन गभीर,
मैं धूमकेतु-सा उगा तिमिर का हृदय चीर।
मृत्तिका तिलक लेकर प्रभु का आदेश मान,
मैंने अम्बर को छोड़ धरा का किया गान।[२]

इस कविता में दिनकर ने अपनी तत्कालीन काव्य-चेतना का विश्लेषण भी परोक्ष रूप से किया है, जिसके अनुसार वे अम्बर और अतीत के कवि नहीं, पृथ्वी और वर्तमान के कवि है। उन्होंने देवत्व के गीत गाना छोड़कर मानवता के गीत गाये, समत्व के प्रत्यूहों को तोड़ने के लिए विष बुझे तीर छोड़े। वे तीर जिससे पृथ्वी जल उठती, दिशाएं जाग उठती लेकिन उनका गर्जन व्यर्थ गया। उनकी माधुरी नष्ट हो गई पर अत्याचारियों का प्रमाद न जल सका। परन्तु वहां पर भी उनका साहस नहीं छूटा, वे निराश नही हुए लेकिन राजनीतिक नेताओं की ढीली नीति से उनकी हिम्मत पस्त हो गई—

आखिर क्लीवों को देख धीरता गई छूट,
धरती पर मैंने छिड़क दिया विष कालकूट।[३]

सृष्टि के समस्त जड़ और चेतन उपकरणों में वे तप और तेज को ही

---

१. सामधेनी, पृष्ठ १५
२. वही, पृष्ठ ५६
३. वही

शक्ति का प्रतीक मानते है—मानव का तप सब से कठोर है क्योंकि वह सर्वोच्च प्राणी है लेकिन कभी-कभी तप को चाहने वाले व्यक्ति के लिए भी अन्धकार अनिवार्य बन जाता है। सामधेनी के दिनकर भी निष्क्रियता, जड़ता और कर्म-हीनता के अंधकार से घबड़ाकर क्रान्ति की बुझी हुई अग्नि को फिर से उद्दीप्त करना चाहते हैं, परन्तु परिस्थितियों से विवश है—

रे पथिक मुदित मन झेल, मिले जो अन्तराय
जलने दे मन का बोझ नहीं कोई उपाय।[1]

सामधेनी में संकलित दूसरे वर्ग की रचनाए राष्ट्रीय पार्श्वभूमि मे लिखी गई हैं और अधिकतर समसामयिक घटनाओं पर आधृत है। उनका विवेचन द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है, इसलिए उनको फिर से दुहराना उचित नहीं जान पड़ता। तृतीय वर्ग की प्रमुख रचना है 'कलिंग विजय' जिसका विवेचन 'कुरुक्षेत्र' की पृष्ठभूमि में इसी अध्याय के अन्तर्गत, पहले किया जा चुका है।

संक्षेप मे, सामधेनी दिनकर की काव्य-चेतना का वह सोपान है, जहा वह अन्धकार को फाड़कर आलोक की ओर जाने का प्रयास कर रहे है। वैयक्तिक और समष्टि-जन्य परिस्थितियां उनके प्रतिकूल हैं। उनके विचारो और परि-स्थितियों के बीच एक खाई है, जिसे पाटने के प्रयास में असफल होकर कभी वे ईश्वर से याचना करते हैं और कभी आग की भीख मागते हैं। उनके हाथो मे सरकारी नौकरी की लौह हथकड़ियां हैं पर उनके भाव और विचार मुक्त हैं, उनकी वाणी पर न कोई रोक है न नियन्त्रण। ब्रिटिश-शासन के युग मे जब भारतीय जनता की जबान पर वैधानिक ताला लगा हुआ था, जब पीड़ा की अभिव्यक्ति के लिए 'आह' करना भी गुनाह था दिनकर सरकारी दमनचक्र से कैसे बचे रहे, उनकी नौकरी कैसे बची रही, समझ में नहीं आता।

कुरुक्षेत्र-परवर्ती कृतियों में व्यक्त काव्य-चेतना

जैसा कि पहले कहा जा चुका है 'कुरुक्षेत्र' में दिनकर की समष्टि-चेतना और जीवन-दृष्टि मानो लक्ष्य-बिन्दु पर पहुंच गई है। 'कुरुक्षेत्र'-परवर्ती काव्य में उसी चेतना की अभिव्यक्ति थोड़े-बहुत संशोधनों और परिवर्धनों के साथ हुई है।

रचनाकाल की दृष्टि से दिनकर की अग्रिम रचना है 'बापू'। उनके कुछ आलोचकों की शिकायत यह है कि वे अवसर के अनुसार अपने काव्य का स्वर

१. सामधेनी, पृ० ५५

बदल लेते है, 'बापू' को इस कथन के प्रमाण-रूप में उद्धृत किया जाता है। लेकिन, यदि हम बापू पर लिखी हुई कविताओं का विश्लेषण करें तो यह पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाता है कि उनके प्रति दिनकर की आस्था बिना अपनी मान्यताओं को बदले हुए व्यक्त हुई है। बापू के प्रति उनकी आस्था वैसी ही है जैसे किसी सिद्ध पुरुष के अलौकिक चमत्कार से अनास्थावादी नास्तिक को भी उसकी शक्ति में विश्वास करने के लिए बाध्य हो जाना पड़ता है। दिनकर गाधी तथा उनके उदात्त लक्ष्य की महानता और उच्चता में विश्वास रखते हुए भी उनकी अहिंसा को साधन रूप में कभी स्वीकार नही कर पाए थे, परन्तु गाधी की नोआखाली यात्रा की सफलता से उनकी आत्मा की शीतल स्निग्ध किरण दिनकर को भी वेध गई। उनका ओज और आक्रोश भी द्रवित होकर करुणा और श्रद्धा बन गया। पार्थिव जीवन और मनुष्य की परिसीमाओं के कारण 'अंगार' की अनिवार्यता को स्वीकार करते हुए ही उन्होंने गाधी की आध्यात्मिक शक्ति की महत्ता को स्वीकार किया।

प्रथम खण्ड में बापू की बन्दना के पहले उन अंगार भरे व्यक्तियों का गुणगान किया गया है जो आग का सामना आग से करते है, विष का उत्तर विष से देते है, जिनकी आवाज़ से समय रुक जाता है, जिनके आदेश पर इतिहास झुक जाता है, जिनके ओज और शौर्य की कहानी युग-युगों तक चलती रहती है; पर गाधी की शक्ति उन सबसे परे अलौकिक आध्यात्मिक है—

> **पर, तू इन सबसे परे, देख**
> **तुमको अंगार लजाते हैं,**
> **मेरे उद्वेलित-ज्वलित गीत**
> **सामने नहीं हो पाते हैं।**[1]

गाधी के व्यक्तित्व की आध्यात्मिकता और अलौकिकता की अर्चना ही दिनकर का उद्देश्य रहा है। ज्वालाओं से परे, कूटस्थ पुरुष, अमृत-प्रवाही, गांधी का उन्होंने नमन किया है। 'कुरुक्षेत्र' के तर्क-वितर्क के बाद भीष्म जिस उदात्त लक्ष्य को आदर्श रूप में स्वीकार करते हैं, जिसकी रक्षा के लिए वे शौर्य की सार्थकता और युद्ध के अनघत्व की स्थापना करते हैं, वही आदर्श, वही आत्मा का किरण-अभियान दिनकर गांधी में साकार देखते हैं। जिन उपादानों को उन्होंने 'कुरुक्षेत्र' में युद्ध के लिए उत्तरदायी ठहराया था वही उपादान भारतवर्ष में धार्मिक और राजनीतिक स्वार्थों के आवरण में प्रबल हो रहे थे। हिसा की दुर्गन्धमयी ज्वाला और घनघोर धुएं से आकाश भरा हुआ था, साम्प्रदायिक

१. बापू, पृष्ठ ३

विष के प्रभाव से मनुष्य जहरीला सांप बन रहा था, द्वेष और अविश्वास के वातावरण में राक्षसी वृत्तियां खुल कर खेल रही थीं, गांधी की आत्मा की कोमल किरण इसी तमस को भेदने के लिए जूझ रही थी। गांधी का मार्ग करुणा और स्नेह का मार्ग था, उसके आलोक मे कवि का विश्वास अडिग है लेकिन 'कुरुक्षेत्र' मे उठाए हुए प्रश्न का समाधान यहा भी नही मिलता। ईसा, बुद्ध, अशोक, गाधी सबका हम वचन से सम्मान करते है, पर उनका अलौकिक और उदात्त आदर्श केवल एक दो व्यक्तियों के हृदय भिगोकर ही उड्डीन हो जाता है। मानव जीवन की यह शाश्वत समस्या जब तक समाप्त नही होती, तब तक केवल आध्यात्मिकता के सहारे किसी राष्ट्र की समस्या के समाधान की कल्पना नही की जा सकती, यही प्रश्न 'बापू' मे फिर से दिनकर ने उठाया है—

अब प्रश्न नहीं, यह एक किरण
किस तरह द्वन्द्व से छूटेगी,
है प्रश्न, व्यूह पर इसी तरह
बाकी किरणें कब टूटेगी।[1]

और जब तक इस प्रश्न का उत्तर नही मिलता, तब तक दिनकर पर हिंसा और अहिंसा सम्बन्धी नीति के परिवर्तन का आरोप नही लगाया जा सकता।

'बापू' की पृष्ठभूमि का विवेचन द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है। 'सांपों की बामी' पर घूमते हुए, दूध और मिट्टी से बने हुए पुतले की अद्भुत सफलता ने दिनकर की कलम को उसका गुणगान करने के लिए बाध्य किया। साम्प्रदायिकता की घृणा और आग मे श्रद्धा, विश्वास, क्षमा, ममता और करुणा की पूजी लेकर निःशस्त्र घूमने वाला गांधी पशुबल पर मनोबल की जीत का प्रतीक था। अन्धकार और घृणा पर सत्य और करुणा की विजय का प्रमाण था—

वह सुनो सत्य चिल्लाता है
ले मेरा नाम अंधेरे में,
करुणा पुकारती है मुझको
आबद्ध घृणा के घेरे में।[2]

'दिनकर' के 'अंगार' उस विराट के सामने लज्जित हो गए, और उन्होंने 'बापू' में विराट् के चरणों पर समर्पित वामन की अर्चना और पूजा की। पर

---

१. बापू, पृष्ठ १७
२. बापू, पृष्ठ २४

समष्टि के स्तर पर उसकी व्यावहारिक क्रियात्मकता के प्रति शंका दिनकर के मन में अब भी बनी रही। उस ज्योतिष्पिंड के आलोक से अभिभूत स्थिति में भी संशय की एक रेखा छिपी हुई है—

सच है कि समय के स्मृति-पट पर
रवि-सा होगा तू भासमान,
हम चमक चमक बुझ जायेंगे
क्षीणायु, क्षणिक उडु के समान
पर, कहीं राम सा साथ साथ
तेरे पीछे चल पड़ा देश,
बापू ! मैं तेरा समयुगीन
होकर हूंगा उपकृत विशेष।[1]

'बापू' मे संकलित शेष दो कवितायें 'मृत्यु गीत' है और दिनकर की काव्य-चेतना के विकास मे उनका महत्व प्रायः नही के बराबर है।

स्वतन्त्रता के पश्चात् दिनकर की समष्टि-चेतना के विविध मोड़

सन् १९४७ में भारत स्वतन्त्र हुआ, दिनकर पार्लियामेंट में आए और उसी दिन से वे राष्ट्र और जनता के कवि कम और राजनीति के कवि अधिक बन गए। भारत-विभाजन से उठी हुई समस्याये उनकी आंखों से प्रायः ओझल रही। राजनीति और धर्म की चक्की में पिसी हुई जनता का आक्रोश और दुख वे निरपेक्ष और तटस्थ दृष्टि से देखते रहे, शायद इसका कारण यह था कि जिस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वे अब तक गाते आ रहे थे वह पूरा हो चुका था और जन, धन, सम्मान तथा मानवता का बड़े से बड़ा मूल्य भी उस सिद्धि की तुलना में कम था। अब दिनकर जनता के कवि नही उसके प्रतिनिधि मात्र थे। भारत के भाग्य-विधायकों में से एक थे, और विधाता नियम बनाता है, नीति-निर्धारित करता है, भाग्य निर्माण करता है, जनता पर उसकी प्रतिक्रियाओं के प्रति वह बेखबर और बेपरवाह रहता है। दिनकर की काव्य-चेतना का समष्टि तत्व अब भारतीय राजनीति, राष्ट्रनीति और परराष्ट्रनीति का प्रतिनिधित्व करने लगा। 'इतिहास के आंसू' संकलन में 'मगध महिमा' के कुछ स्थलों को इस मोड़ की प्रथम अभिव्यक्ति माना जा सकता है; जहां पाकिस्तान की वैमनस्य-नीति और काश्मीर-समस्या का चित्रण भारत-यूनान, चन्द्रगुप्त और सेल्यूकस के माध्यम से हुआ है। चन्द्रगुप्त के निम्नोक्त शब्दों मे जवाहरलाल नेहरू और सरदार पटेल की दृढ़ घोषणाओं की ही आवृत्ति हुई है—

१. बापू, पृ० ३१

मगध नहीं चाहता किसी को अपना दास बनाना
छिन्न-भिन्न है देश, शान्ति भारत की बिखर गई है;
हम तो केवल चाह रहे हैं उसको एक बनाना।
मृदु-विवेक से, बुद्धि-विजय से, स्नेहमयी वाणी से,
अगर नहीं तो धनुष बाण से, पौरुष से, बल से भी।[1]

* * *

नहीं चाहते किसी देश को हम निज दास बनाना,
पर स्वदेश का एक मनुज भी दास न कहीं रहेगा,
हम चाहते सन्धि पर विग्रह कोई खड़ा करे तो,
उत्तर देगा उसे मगध का महा खड्ग बलशाली।[2]

'देह की लड़ाई देह से' का सिद्धान्त दिनकर यहां भी नहीं छोड़ सके है। स्वतन्त्रता के पहले तक एक महान शक्तिशाली साम्राज्यवादी शक्ति से हमें लोहा लेना था, उस लड़ाई में विजय के तत्काल उपरान्त ही पाकिस्तान का आक्रमण अप्रत्याशित रूप में सामने आया, और दिनकर को चाणक्य के मुँह से फिर कहलाना पड़ा—

आग के साथ आग बन मिलो,
और पानी से बन पानी,
गरल का उत्तर है प्रतिगरल,
यही कहते जग के ज्ञानी।[3]

परन्तु हिंसा का राक्षस उनका साध्य यहां भी नही बना। चाणक्य की प्रति-शोध-नीति को साधन रूप में स्वीकार करते हुए भी उनका लक्ष्य अशोक की करुणा ही रहा—

व्यर्थ प्रभुता का अजय मद, व्यर्थ तन की जीत
सार केवल मानवों से मानवों की प्रीति।
ज्योति का वह देश—करुणा की जहां है छांह,
अबल भी उठते जहां धर कर बली की बांह।[4]

राष्ट्रवाद स्वजनों की रक्षा करता है परन्तु मानवतावाद राष्ट्र, देश और काल की सीमाओं का अतिक्रमण करके समस्त पृथ्वी को अपना बनाता है। राष्ट्र-

१. इतिहास के आंसू, पृष्ठ १७—दिनकर
२. वही, पृष्ठ १८
३. वही, पृष्ठ १६
४. वही, पृष्ठ २६

वाद की सरिता तटों की सीमा में बहती है, परन्तु मानवतावाद अथाह जलधि है, और जलधि की गम्भीरता ही हमारा ध्येय है—

चन्द्रगुप्त चाणक्य समर्थक रक्षक रहे स्वजन के,
हीन बन्ध को तोड़ हो गए पर, अशोक त्रिभुवन के।
दो कूलों के बीच सिमट कर सरिताएं बहती हैं,
सागर कहते उसे, दीखता जिसका नहीं किनारा।
कल्पने यह संदेश हमारा।[1]

'इतिहास के आंसू' की समष्टि-चेतना में इस प्रकार एक राजनीतिक की सैद्धान्तिक व्याख्याएं प्रस्तुत की गई है, जिसकी पृष्ठभूमि में वे ही मान्यताएं हैं जिनकी स्थापना कुरुक्षेत्र में की गई थी।

'रश्मिरथी' की रचना मैथिलीशरण गुप्त की प्रबन्धकाव्य-परम्परा में कुछ योग देने के उद्देश्य से हुई थी। उसी के फलस्वरूप दिनकर आगे बढ़ने के बदले पीछे लौट गए हैं। उनका ध्यान प्रबन्ध-विन्यास, चरित्र-चित्रण और कथा-संवाद की विधा की ओर गया है। 'रश्मिरथी' की भूमिका की भाषा में कहा जाय तो वे जैसे ओट्स खाते-खाते ऊब गए हैं और स्वाद-परिवर्तन के लिए देशी पद्धति से जई उपजाने का आनन्द लेने को अपने समय से पीछे मुड़ गए हैं।

जहां तक उनकी काव्य-चेतना के इस नए रूप का सम्बन्ध है, वह अन्य कृतियों की काव्य-चेतना से अलग पड़ती है परन्तु यहां भी उसने समष्टि अथवा राष्ट्र का पल्ला नहीं छोड़ा है। 'रश्मिरथी' की रचना दलितों और उपेक्षितो के उद्धार के युग में हुई है। 'कर्ण' हजारों वर्षो से हमारे सामने उपेक्षित एवं कलंकित मानवता का मूक प्रतीक बन कर खड़ा रहा है। 'रश्मिरथी' में उसी कलंक की गहरी कालिमा को आलोक में परिवर्तित करने का प्रयास किया गया है। कुल और जाति के अहंकार को मिटा कर मानवीय मूल्यों और गुणों की स्थापना उनका ध्येय है। उच्च अथवा नीच-वंश माता-पिता के गुण-दोष व्यक्ति की योग्यता और शक्ति के प्रतीक नहीं हैं, उसके व्यक्तित्व-मूल्यांकन की सबसे बड़ी कसौटी है उसकी अपनी क्षमता और अपनी योग्यता। 'रश्मिरथी' में कर्ण के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा द्वारा इसी मानवीय मूल्य की प्रतिष्ठा हुई है। मैथिली-शरण गुप्त का युग नारी-उद्धार का युग था, जिसकी प्रेरणा से यशोधरा और उर्मिला जैसे अमर और शक्तिशाली पात्रों का अस्तित्व सम्भव हुआ, उन्होंने नारी को शोषित और दलित वर्ग की श्रेणी से निकाल कर उसे स्वतन्त्र सत्ता दी। नारी-शोषण का युग समाप्त हो गया ऐसा नहीं कहा जा सकता परन्तु

---

१. इतिहास के आंसू, पृष्ठ २८

उसे शोषित वर्ग में परिगणित करने की स्थिति अब नहीं रह गई। कर्ण के सिर पर दुहरा कलंक है, वह एक ओर अविवाहिता का पुत्र है, दूसरी ओर सूतपुत्र। आज का साहित्यकार दलितों के उद्धार और उनके व्यक्तित्व-प्रतिष्ठा का ध्येय प्रायः छोड़ चुका है और दिनकर की पीढ़ी के कवियों ने तो इस उद्देश्य मे अपनी कविता लिखी ही नहीं, परन्तु दिनकर के परम्परा-मोह ने ही उन्हे युग-चेतना के इस पक्ष के प्रति कर्तव्य-निर्वाह के लिए योग प्रदान किया, नही तो शायद काल का यह चारण अपने युग की एक प्रमुख सामाजिक समस्या को बिना छुए ही छोड़ देता।

इस नई पृष्ठभूमि में भी दिनकर की मूल काव्य-चेतना के दर्शन अनेक स्थलों पर हो जाते हैं। महाभारत के युद्ध की पृष्ठभूमि में कुरुक्षेत्र मे स्थापित मान्यताएं ही दुहराई गई है। कर्ण के इन शब्दों में कुरुक्षेत्र की स्थापनाओं की ही आवृत्ति है—

रण केवल इस लिए कि सत्ता बढ़े न पत्ता डोले,
भूपों के विपरीत न कोई कहीं कभी कुछ भी बोले।
ज्यों-ज्यों बढ़ती विजय, अहं नरपति का बढ़ता जाता है,
और जोर से वह समाज के सिर पर चढ़ता जाता है।[1]

'परशुराम की प्रतीक्षा' मे वर्तमान सकट के समय जिस शौर्य और धर्म के समन्वय का प्रतिनिधित्व 'परशुराम' के व्यक्तित्व के माध्यम से किया गया है, उसकी कल्पना दिनकर 'रश्मिरथी' में ठीक वैसे ही रूप मे पहले कर चुके थे—

मुख में वेद, पीठ पर तरकस, कर में कठिन कुठार विमल,
शाप और शर, दोनों ही थे, जिस महान ऋषि के सम्बल।[2]

नये भारत के भाग्य-पुरुष की प्रतिष्ठा 'रश्मिरथी' के इन्ही शब्दों को दुहरा कर की गई है—

है एक हाथ में परशु, एक में कुश है,
आ रहा नये भारत का भाग्य पुरुष है।[3]

'रश्मिरथी' में शौर्य और धर्म के समन्वय का सिद्धान्त भी 'कुरुक्षेत्र' की पूर्वभूमि पर ही स्वीकार किया गया है—

नित्य कहा करते हैं गुरुवर, खड्ग महा भयकारी है,
इसे उठाने का जग में प्रत्येक नहीं अधिकारी है।

---

१. रश्मिरथी, पृष्ठ १४
२. रश्मिरथी, पृ० १२
३. परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० १५

वही उठा सकता है इसको जो कठोर हो कोमल भी,
जिसमें हो धीरता वीरता और तपस्या का बल भी।
वीर वही है जो कि शत्रु पर जब भी खड्ग उठाता है
मानवता के महागुणों की सत्ता भूल न जाता है।[1]

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि विचारों और भावों के ऊहापोह, उत्थान-पतन और संशोधन-परिवर्धन के द्वारा दिनकर ने जिस सैद्धान्तिक जीवन-दृष्टि का निर्माण किया था, कर्ण के व्यक्तित्व में उन्हीं को उतार दिया। शौर्य और शील का समन्वय, कर्मवादी जीवन-दृष्टि, जाग्रत अहं, अग्निमय प्रतिशोध दिनकर के अपने आदर्श पुरुष की कल्पना है, तथा दानवीरता, मैत्री-निर्वाह और कर्तव्य-निष्ठा इत्यादि गुण उन्होंने परम्परा से ग्रहण किये हैं। 'रश्मि-रथी' के कथानक के शेष अंशों का विवेचन दिनकर के प्रबन्धकाव्य शीर्षक प्रसंग के अन्तर्गत किया जायेगा।

एक बार अपनी मौलिक चेतना से पीछे हट कर दिनकर फिर आगे बढ़ गये। उनके पास जैसे अब अपना और कुछ कहने को शेष नहीं रह गया था। कुरुक्षेत्र में उन्हें चरम-दृष्टि प्राप्त हो गई थी। स्वाद-परिवर्तन के लिए पहले वे उन स्वादों की ओर झुके जिनकी चटकारें वे बचपन में ले चुके थे। फिर लौट कर उन नये मूल्यों की ओर बढ़े जिनका आविष्कार और प्रवर्तन उनकी पीढ़ी के बाद के कवि कर रहे थे—'नये कवियों का पिछलगुआ' बनने की आकांक्षा से 'नील कुसुम' का आविर्भाव हुआ।

पुस्तक की भूमिका में उन्होंने 'नील कुसुम' के लिए आलोचना की नई कसौटी की मांग की है क्योंकि आलोचक नये कवि को कवि की पुरानी कसौटी पर कस कर उसके साथ न्याय नहीं कर सकता। जिस कसौटी पर 'रेणुका', 'रसवन्ती', 'हुंकार' और 'सामधेनी' की कवितायें कसी गई हैं, उस पर 'नील कुसुम' की कवि-ताओं को रखना ठीक नहीं होगा। अब प्रश्न यह है कि 'नील कुसुम' का निकष क्या हो ? एक ओर डा० नगेन्द्र और नन्ददुलारे वाजपेयी जैसे परम्परावादी आलोचकों की कसौटियां हैं। दूसरी ओर, अज्ञेय तथा अन्य कवियों द्वारा दिए गए स्पष्टीकरण। स्वयं दिनकर की प्रयोगवाद सम्बन्धी मान्यतायें इस प्रसंग में सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं।

उनके अनुसार प्रयोगवाद के भीतर आनन्दमय मदोन्माद के लिए अधिक गुंजाइश नहीं है। इसकी सफलता प्रेरणा के साथ बहने में नहीं, उसे विचारों के अधीन रख कर काम करने में है। रोमाण्टिक मनोदशा उड़ने की मनोदशा

१. रश्मिरथी, पृ० १६

होती है और कल्पना की यह उड़ान अब तक कविता की सबसे बड़ी शक्ति मानी जाती रही है। इसके विपरीत क्लासिक कवियों की वह मनोदशा होती है जिसमें कवि धीर, स्थिर और अपने वर्ण्य विषयों पर हावी बना रहता है। किन्तु, क्लासिक चिन्तन की दिशा में ही अब एक नई मुद्रा उत्पन्न हो रही है जो उड़ने की नहीं, जम कर मिट्टी तोड़ने की मुद्रा है, जो पर्वतों पर मूर्ति-खचन न करके सदेह उनके भीतर प्रवेश करना चाहती है। इस मुद्रा के नए कवि, मुख्यतः चिन्तक कवि होंगे, किन्तु कल्पना को वे छोड़ नहीं सकते, क्योंकि उनका सारा चिन्तन कल्पनामय होगा।...[1] वह, आदि से अन्त तक, शुद्ध साहित्यिक आन्दोलन है, कला का आन्दोलन है, उसका मुख्य ध्येय हमारी कला सम्बन्धी धारणाओं को परिवर्तित करना है।[2] उनकी रुचि अन्तर्राष्ट्रीय रुचि से प्रभावित है।

डा० नगेन्द्र के अनुसार प्रयोगवादी का आग्रह है कि वह अपने दृष्टिकोण को अधिक से अधिक वस्तुगत बनाए, वस्तु पर अपने मत का रंग न चढा कर वस्तु की आन्तरिक अर्थ-व्यंजना को अनूदित करे।[3]

एक गहन बौद्धिकता इन कविताओं पर सीसे के पर्त की तरह जमती जाती है, इनमें रागात्मक तत्वों को बौद्धिक माध्यम द्वारा व्यक्त किया गया है। इस कविता का मुख्य उपादान साधन बौद्धिक धारणायें है। शिल्प के क्षेत्र में उसकी विशेषतायें हैं—भाषा का सर्वथा वैयक्तिक प्रयोग—अप्रस्तुत योजना का विचित्र और असाधारण प्रयोग, छन्दों के परम्परागत रूपों का त्याग और नए प्रयोग, तुकों और लय का बहिष्कार। उनके अनुसार प्रयोगवादी कवियों ने मूल्यों का सतुलन खो दिया है।

अज्ञेय के अनुसार दावा केवल यह है कि ये सातों अन्वेषी हैं। काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हें समानता के सूत्र में बांधता है।...बल्कि उनके तो एकत्र होने का कारण ही यह है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी मंजिल पर पहुंचे हुए नहीं है, अभी राही है, राहों के अन्वेषी (तार सप्तक की भूमिका)।

इन्हीं अन्वेषियों के स्वागत में दिनकर ने 'नील-कुसुम' बिखेरा है। उनके अनुसार " 'नील कुसुम' के रचयिता के सहज बन्धु 'रेणुका' और 'हुंकार' के रचयिता नहीं; वरन् वे लोग हैं, जिन्हें सही नाम के अभाव में हम प्रयोगवादी कहने लगे

---

१. काव्य की भूमिका, पृ० ६६

२. वही, पृ०-६४-६५

३. डा० नगेन्द्र के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध, पृ० १०६

हैं। किन्तु, मैं प्रयोगवाद का अगुआ नहीं पिछलगुआ कवि हूँ।" इस स्पष्ट घोषणा के बावजूद 'नील कुसुम' की सब कविताओं का ध्यानपूर्वक पारायण कर लेने पर भी उसे प्रयोगवादी रचना मानने के लिए मन तैयार नहीं होता। कुछ छन्दहीन कविताओं, और कुछ नये प्रतीकों के प्रयोग से ही कोई रचना प्रयोगवादी नहीं बन सकती। दिनकर आस्था के युग के कवि हैं, जिस युग के युवकों के पास सर्वस्व न्योछावर करने के लिए देशभक्ति का उद्देश्य था, जो पराधीनता के युग में भी उदात्त लक्ष्य के ओज के बल पर जी रहे थे, दिनकर चाहे स्वयं अपने व्यक्तित्व से 'नील कुसुम' के कवि को 'हुंकार' और 'रेणुका' के कवि से अलग कर सके हों, परन्तु मेरे विचार से एक प्रौढ़ कवि के संस्कारों पर नवीनता का जादू इतनी आसानी से नहीं चल सकता। दिनकर के ही शब्दों में "हर युग नया जल लेकर आता है और हर युग जब जाने लगता है तो उसके लाये हुए जल से आगामी युग की प्यास नहीं बुझ पाती, इसलिए प्रत्येक युग को अपना कुआं आप खोदना पड़ता है, चाहे वह छिछला ही क्यों न हो।" दिनकर के काव्य के विषय में भी यही तथ्य विपरीत क्रम से लागू होता है। उन्होंने अपने युग में जो कुआं लगभग पच्चीस-तीस साल पहले खोदा था, उसका जल उनके कवि-व्यक्तित्व के कण-कण में समाया हुआ है, उनकी आत्मा उसमें डूबी हुई है। शरीर पर पड़े हुये जल को रगड़ कर सुखाया जा सकता है लेकिन आत्मा और हृदय का रस तो रगों में रक्त बन कर सम्पूर्ण व्यक्तित्व में संचारित हो जाता है। वैयक्तिक और समष्टिगत ऊहापोहों को झेलकर जिस स्वस्थ भूमि पर दिनकर खड़े हुये थे, उसके स्थान पर आज की अव्यवस्थित और विशृंखलित अराजकतावादी आधारभूमि को इच्छा होते हुये भी वे ग्रहण नहीं कर सकते, 'नील कुसुम' की कविताओं और भूमिका के वक्तव्य का विरोध इसी बात का साक्षी है। आज का मानव राजनीतिक-आर्थिक वैषम्यों, अविश्वास के वातावरण और आध्यात्मिक विद्रोह के बीच खड़ा है, आत्मा और ईश्वर दोनों के ही प्रति उसकी आस्था नहीं रह गई है। दिनकर का विश्वास-दृढ़ आशावादी व्यक्तित्व और 'नील कुसुम' की आस्था-भरी कविताओं का इस परिवेश में कहां स्थान है ? स्पष्ट उत्तर है—कहीं भी नहीं। उनकी विस्फोटक, आवेशपूर्ण रसार्द्रता तथा बहिर्मुख मुखरता भी अपने मन की निविड़ गहनता में उलझे हुए अन्तःमुखी प्रयोगवादी कवियों के साथ मेल नहीं खाती।

यदि यह मान लें कि 'नील कुसुम' की रचनाओं में बौद्धिक तत्वों के अनुपात के कारण दिनकर उसे प्रयोगवादी रचना सिद्ध करने का मोह नहीं त्याग

पाये हैं, तब भी बात नहीं बनती, क्योंकि 'नील कुसुम' की रचनाओं में भाव और विचार की संश्लिष्ट स्थिति कुरुक्षेत्र अथवा उर्वशी से अधिक भिन्न नहीं है। 'नील कुसुम' में न तो ठोस बौद्धिक तत्व का बोझिलपन है और न अतिवैयक्तिक भाव-तत्व। जिस प्रकार कुरुक्षेत्र और उर्वशी में विचार और अनुभूति के बीच रागात्मक संबंध है, वही 'नील कुसुम' में भी विद्यमान है। अधिक से अधिक इतना कहा जा सकता है कि इस कृति में राग-विचार संपुष्ट नहीं है बल्कि दोनों का संश्लिष्ट विधान अविच्छिन्न है। शैली की दृष्टि से भी उसमें प्रयोगवादी काव्य की कोई विशेषता नहीं दिखाई देती। कविताओं की शब्दावली दिनकर की चिरपरिचित शब्दावली है। एकाध स्थल पर चाय, कउए और भैंस जैसे माडर्न और भदेस शब्द अवश्य आ गये हैं, लेकिन दिनकर ने शब्दों की प्रचलित अर्थ-व्यंजना को ही सामान्यतः ग्रहण किया है, उनमें शब्दों की अर्थवत्ता पहले ही की तरह सारगर्भित और व्यापक है। लेकिन उनकी भाषा दुरूहता और अतिवैयक्तिकता के दोषों से बची हुई है। विराम-चिह्नों, अंकों, सीधे-उल्टे अक्षरों, अधूरे वाक्यों इत्यादि का प्रयोग उन्होंने बिल्कुल ही नहीं किया है। छन्दों पर किये गये प्रयोग भी नाममात्र के लिए ही नये हैं। तुक, लय और संगीत-विधान प्रायः उनकी पहली रचनाओं के समान ही हैं। प्रतीक-विधान प्रयोगवादी रचनाओं की भांति अस्पष्ट, दुरूह और अतिवैयक्तिक नहीं हैं। निरपेक्ष और वस्तुगत दृष्टि से इन सब पक्षों पर विचार करने के बाद 'नील कुसुम' के विवेचन के लिए प्रयोगवादी 'निकष' का प्रयोग दिनकर के कहने के बावजूद नहीं किया जा सकता, लेकिन, इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि 'रेणुका' और 'हुंकार' के निकष से भी यहां काम नहीं चल सकता। ये दोनों रचनाएं क्रांति और जागृति युग की रचनाएं थीं जब दिनकर देश-प्रेम का मूल्य आग, तूफान, क्रांति और ध्वंस से चुकाया करते थे, लेकिन 'नील-कुसुम' की कविताओं का प्रतिपाद्य विषय बदल गया है। एक ओर उनकी समष्टि-चेतना राष्ट्रवाद से अन्तर्राष्ट्रवाद, देश से विश्व की ओर झुकी है, राष्ट्र-देवता का विसर्जन करके उन्होंने मानवतावाद की उपासना आरम्भ की है, वहां दूसरी ओर उनकी बौद्धिक कविताओं का आयाम संकीर्ण हो गया है। 'कुरुक्षेत्र' के विशाल विश्वजनीन आधार-फलक का स्थान अब व्यक्तिचित्रों के छोटे चौखटों ने ले लिया है, लेकिन अधिकतर चित्रों का निर्माण सामाजिक परिपार्श्व में ही हुआ है। 'नील कुसुम' की कुछ कविताओं में प्रश्नाकुलता भी है। सामाजिक वैयक्तिकता और बौद्धिकता के समन्वय तथा प्रश्नाकुलता को हम नई कविता का प्रभाव मानना चाहें तो मान सकते हैं, लेकिन मेरे विचार

से 'नील कुसुम' का सामाजिक व्यक्ति आज का संदेहशील कुंठाग्रस्त सामाजिक व्यक्ति नहीं है और न उसकी बौद्धिकता अतिवादी बौद्धिकता है। उनके प्रश्न भी अधिकतर जिज्ञासा-प्रेरित हैं। बुद्धि के अतिचार, जीवन के असामंजस्य, अनास्था और बौद्धिक उद्विग्नता की तड़पन मे उठे हुए समाधानहीन प्रश्न वह नहीं उठाते।

'नील कुसुम' के प्रतिपाद्य को मुख्य रूप से चार भागों में विभाजित किया जा सकता है—

१. युग-प्रेरित शान्तिवादी और मानवतावादी रचनाएं
२. विचार-प्रधान सामाजिक और व्यक्तिवादी रचनाएं।
३. जिज्ञासा-प्रेरित दार्शनिक रचनाएं।
४. स्फुट, कल्पनाप्रधान, शृंगारिक रचनाएं।

युग-प्रेरित, शान्तिवादी और मानवतावादी रचनाएं

प्रथम वर्ग की प्रमुख रचनाएं है—'जनतंत्र का जन्म', 'भूदान', 'किसको नमन करूँ मैं', 'राष्ट्र-देवता का विसर्जन' और 'हिमालय का संदेश'। २६ जनवरी १९५० को भारत में गणतंत्र की स्थापना हुई। 'जनतंत्र का जन्म' की रचना उसी अवसर पर हुई। भाव-प्रेरित होते हुए भी यह रचना बुद्धिसंपुष्ट है। समय के रथ का घर्घर नाद घोषित करता है कि जनता आ रही है, फावड़े और हल, राजदण्ड बनने जा रहे हैं। धूल-धूसरिता सोने का शृंगार सजा रही है, विश्व के सबसे विराट जनतंत्र की स्थापना हुई है, 'विपथगा' और 'दिगम्बरी' की संत्रस्त, शोषित, रस्सों से कसी कोड़े खाती हुई जनता अब मुकुट सजा रही है, इस प्रकार के वर्णन में द्रवीभूत भाव की अभिव्यक्ति है। परन्तु जनता आखिर है क्या ? राजनीति के विद्यार्थी के दृष्टिकोण से इस प्रश्न पर विचार करते हुए उनके मन में प्रश्न उठता है क्या भारतीय जनता के दुर्बल हाथ इस दायित्व को सम्हाल सकेंगे। 'बैलों की जोड़ी' और 'दीपक' के चिह्नों पर अंगूठे का निशान लगा कर बोट देने वाली निरक्षर, दलित और शोषित जनता की परिसीमायें क्या उसे राजदण्ड सम्हालने की सामर्थ्य दे सकेंगी ? भारतीय जनता की इस दुर्बलता के कारण क्या 'जनतंत्र' के सिद्धान्तों की रक्षा हो सकेगी ? निम्नांकित पंक्तियों में इसी स्थिति की व्यंजना है—

मानों, जनता हो फूल जिसे एहसास नहीं,
जब चाहो तभी उतार सजा लो दोनों में,

अथवा कोई बुधमुंही जिसे बहलाने के
जन्तर-मन्तर सीमित हों चार खिलौनों में।[1]

इस प्रश्न का उत्तर कविता में नहीं दिया गया है और कवि की भावनायें कठोर सत्य की उपेक्षा कर जनता की सामूहिक शक्ति का गुण-गान करने में लग गई हैं। इस प्रशस्ति में उनका भाव-प्रवण व्यक्तित्व ही आगे आ गया है और प्रश्न उनके अवचेतन में छिप गया है। उस समय तो दिनकर ने कविता का स्वर बदल कर कहा--

हुंकारों से महलों की नींव उखड़ जाती,
साँसों के बल से [ताज हवा में उड़ता है,
जनता की रोके राह, समय में ताब कहां,
वह जिधर चाहती, काल उधर ही मुड़ता है।[2]

परन्तु आगे चल कर भारतीय प्रजातंत्र की इस दुर्बलता की जो परिणति हुई उसी के फलस्वरूप दिनकर के लिए 'अनार्की' जैसी कविता की रचना अनिवार्य हो गई, जिसमें वर्तमान अराजकता, अव्यवस्था और भ्रष्टाचार का चित्रण बड़े जोरदार शब्दों में किया गया है—

भारत में फैली है, आजादी बड़े जोर की।
सुनता न कोई फरियाद है।
देखिये जिसे ही वही जोर से आजाद है।

* * *

अजब हमारा यह तन्त्र है।
नकली दवाइयों का व्यापारी स्वतन्त्र है।
पुलिस करे जो कुछ, पाप है।
चोर का जो चचा है, पुलिस का भी बाप है।

* * *

गण, जन, किसी का न तंत्र है।
साफ बात यह है कि भारत स्वतंत्र है।
मित्रता सम्हाले तार-तार की
राज करती है यहाँ चैन से 'एनार्की'।[3]

'नील कुसुम' की 'भूदान' कविता, उनके अस्थायी रूप से बदले हुए मूल्यों

---

१. नील कुसुम, पृ० ५८—दिनकर
२ नील कुसुम, पृष्ठ ५९—दिनकर
३. परशुराम की प्रतीक्षा, पृष्ठ ६१, ६३

का प्रमाण है। अथवा यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि इसी प्रकार की रचनाओं के लिए दिनकर अब कहते हैं कि ऐसी रचनाएं लिखकर उन्होंने अक्षम्य अपराध किया है। विनोबा और जयप्रकाश आज आध्यात्मिकता और राजनीति के मिलाने की जो भूल कर रहे हैं, उससे भारतीय राष्ट्रीयता और राजनीति दिन पर दिन उलझती जा रही है। चीन के आक्रमण और पाकिस्तान की शत्रु-नीति का सामना करने के लिए विनोबा और जयप्रकाश जिन अव्यावहारिक और असंतुलित सिद्धान्तों और नीतियों का व्याख्यान करते रहते हैं, दिनकर उनके प्रति बहुत क्षुब्ध हैं। 'नील कुसुम' की रचना उस युग में हुई थी जब भारत एक ओर स्वाधीनता को अन्तिम लक्ष्य-प्राप्ति समझकर अपनी महान सिद्धि की खुशी में सांस्कृतिक और आध्यात्मिक पुनरुत्थान की बातें सोच रहा था। पूर्व युग के समान इस युग के युवकों के पास जुलूसों और हड़तालों में भाग लेकर अपनी शक्ति का उपयोग करने का उत्साह नहीं था, उदात्त लक्ष्य के अभाव में एक निरुद्देश्य अनुशासनहीनता का भाव सर्वत्र व्याप्त हो रहा था, त्याग-बलिदान, सेवा और समर्पण का स्थान युवक-समारोहों, नाटक, नृत्य, सारंगी और तबलों ने ले लिया था। दूसरी ओर परराष्ट्र नीति के क्षेत्र में शांतिवादिता और पंचशील की तूती बोल रही थी। पाकिस्तान की ओर से खतरा कम हो गया था और हिन्दी चीनी भाई-भाई के नारों से भारतीय जनता और उससे भी अधिक भारतीय नेता गद्गद हो गए थे। दिनकर पर भी कुछ दिनों के लिए कृत्रिम और अव्यावहारिक आध्यात्मिकता का जादू चल गया। 'नील कुसुम' और नए सुभाषित में उन्होंने विनोबा और जयप्रकाश का नमन आध्यात्मिक पुरुषों के रूप में किया। बाह्य आक्रमणों के अभाव और विदेशी राज्य की समाप्ति के कारण उनका ध्यान शरीरमूलक भौतिक साधनों से हटकर पूर्णतः साध्य पर टिक गया, 'रश्मिरथी के परशुराम' के हाथ में अब केवल 'वेद' रह गया, परशु को अनावश्यक समझकर नीचे डाल दिया गया। 'भूदान' कविता में उन्होंने विनोबा में एक नई ज्योति देखी। व्यक्ति रूप में ही उन्होंने उनकी अभ्यर्थना नहीं की प्रत्युत उनके द्वारा प्रतिपादित आध्यात्मिक क्रांति के सिद्धान्तों पर भी विश्वास करने लगे, भूमिहीन कृषकों की अपार सेना अपना स्वत्व स्वयं ही प्राप्त कर लेगी। विनोबा की आध्यात्मिक शक्ति समष्टि में प्रवेश कर वामन से विराट बन जाएगी, आध्यात्मिक क्रांति की सफलता के ये स्वप्न उन्होंने प्रायः उन्हीं सम्भावनाओं से साथ देखे हैं जिसके साथ वे हिंसात्मक क्रांति की कल्पना किया करते थे।

कृष्ण दूत बनकर आया है, सन्धि करो सम्राट।
मच जायेगा प्रलय, कहीं वामन हो पड़ा विराट।

स्वत्व छीन कर क्रान्ति छोड़ती कठिनाई से प्राण ।
बड़ी कृपा उसकी भारत में माँग रही वह दान ।[1]

'किसको नमन करूँ' कविता में भी कवि का दृष्टिकोण बदला हुआ है । यहां भी उन्होंने शरीर को छोड़कर भारत के मन का नमन किया है । जड़, भौगोलिक राष्ट्रीय सीमाओं का अतिक्रमण करके भारत की चेतना, आत्मा के सौरभ, स्नेह के स्रोत, समरसता के सिद्धान्त, शांति के घोष, धर्म के दीपक, और मानवता के ललाट-चन्दन को नमन किया है । उनकी दृष्टि यथार्थ धरातल को छोड़कर आकाश को पृथ्वी पर उतारने की कल्पना करने लगी है ।

'राष्ट्र देवता के विसर्जन' में राष्ट्रवाद के दुर्बल पक्ष तथा परिसीमाओं की रागात्मक अभिव्यक्ति हुई है । राष्ट्रवाद का जन्म शोषण की भूमि में होता है, घृणा और उन्माद की मादकता से वह पोषित होता है । राष्ट्र और देश की सीमाओं में आबद्ध दृष्टि मानव और पृथ्वी को भूल कर, संकुचित हो जाती है । राष्ट्र और देश के नाम पर एक ओर उदात्त भावनाओं का पोषण होता है, ओज और त्याग को बल मिलता है पर दूसरी ओर राष्ट्रीय गौरव और देश-प्रेम के नाम पर अहंकार और अभिमान भी ज्वाला बन कर दहक उठता है । शांति के पोषक और रक्षक राष्ट्रों को भी परिस्थितियों की आग में घिरकर तलवार और बन्दूक का सहारा लेना पड़ता है । आज सम्पूर्ण विश्व राष्ट्रवादजन्य भय और शंका की भावना से ग्रस्त होकर त्रस्त है । संत्रस्त विश्व के लिए छाया खोजते हुए दिनकर सार्वभौम प्रेम, करुणा और बन्धुत्व का आश्रय लेते हैं । पौराणिक उपाख्यानों और पात्रों को अपने विचारों का वाहक बनाकर उन्होंने उनकी नए रूप में प्रतिष्ठा की है । अहंकारजन्य ध्वंस और नाश को पार कर जब पुरुष अपनी रचनात्मक शक्तियों को पहिचानेगा, तभी ईर्ष्या, द्वेष, स्पर्धा और घृणा के भस्मावशेष पर प्रेम और करुणा का कमल खिल सकेगा—

विष्णु प्रेम का स्रोत, विष्णु करुणा की छाया,
जब भी यह संसार प्रलय से दब जाता है,
उठती ऊपर अमृत वाहिनी शक्ति पुरुष की,
नाभि कुण्ड से कमल पुष्प बाहर आता है ।
खण्ड प्रलय हो चुका, राष्ट्रदेवता सिधारो,
क्षीरोदधि को अब प्रदाह जग का धोने दो,

१. नील कुसुम, पृष्ठ ७९

महानाग फण तोड़ अमृत के पास झुकेगा,
विषधर पर आसीन विष्णु-नर को होने दो।[1]

'हिमालय का संदेश' में कुरुक्षेत्र के छठे सर्ग में उठाई गई समस्या का पुनराख्यान किया गया है। बुद्धि और ज्ञान के मार्ग पर चलता हुआ मनुष्य हृदय को पीछे छोड़ता जा रहा है, विज्ञान मृत्यु का सेवक है और बुद्धि तृष्णा की दासी। 'हिमालय का संदेश' ध्वनिप्रधान नाटक है, जिसके मुख्य पात्र हैं: एक कवि, युद्ध-देवता और हिमालय। कवि का मन शंकाग्रस्त और चिन्ताकुल है। विभिन्न स्वरों के माध्यम से उसके मन में उठती हुई आशा और निराशामूलक प्रतिक्रियाओं की व्यंजना हुई है, जिनमें हिंसा-अहिंसा, आदर्श और यथार्थ के संघर्ष तथा जीवन के वैषम्यों का चित्रण हुआ है। एक स्वर, मानवता का उद्धार, आग और उत्क्रांति में देखता है, दूसरा 'बाज पंख से बंधी कटीली तलवारों के खोलने' में। विचारों तथा भावनाओं की इसी आंधी में युद्ध देवता का अट्टहास और गर्जन सुनाई देता है। जिसके अनुसार राष्ट्रवाद युद्ध की जड़ है, जातीय अहंकार और संकीर्णता को मिथ्या महत्व देकर मानव ने पृथ्वी को खण्ड-खण्ड कर दिया है। जब तक इस खण्ड भावना का अस्तित्व है, युद्ध अनिवार्य है। निम्नलिखित पंक्तियों में यही व्यंजना है—

मेरा संकल्प, महावसुधा को एक नहीं होने दूंगा,
मैं विश्वदेवता का भू पर अभिषेक नहीं होने दूंगा।
रेखायें खींच महीतल के सौ खण्ड युक्ति से काटे हैं।
देशों में अलग-अलग झंडे मैंने न व्यर्थ ही बांटे हैं।
इन झण्डों के नीचे पृथ्वी भोगती रहे अंगच्छेदन।
मैं राष्ट्रवाद का सखा कौन तोड़ेगा मेरा सम्मोहन।[2]

युद्ध देवता की घोषणा के बाद हिमालय के संदेश में मानव की खण्डित एकता, विश्व-प्रेम, और निष्काम भोग के सिद्धान्तों की स्थापना कराई गई है।

विचारप्रधान, सामाजिक और व्यक्तिवादी रचनाएं

इस वर्ग की रचनाओं में व्यक्त बौद्धिक-चेतना के कई रूप है। 'नील कुसुम' 'व्याल-विजय', 'सेतु रचना', 'शबनम की जंजीर', 'आशा की वंशी', 'अर्ध-नारीश्वर,' 'संस्कार' इत्यादि रचनाओं में सामाजिक पृष्ठभूमि में पल्लवित और निर्मित व्यक्ति का आशावादी तथा आस्थावादी दृष्टिकोण व्यक्त है। समाज की

---

१. नील कुसुम, पृ० ८८—दिनकर
२. नील कुसुम, पृ० ९९—दिनकर

समग्रता में व्यक्ति की इकाई का बड़ा महत्व है। स्वस्थ, विश्वासपूर्ण, देह और आत्मा के बल से भूषित व्यक्ति दृढ़ और शक्तिशाली समाज की नीव के पत्थर बनते हैं, इसके विपरीत मानसिक और शारीरिक रूप मे रुग्ण, अस्वस्थ, कुंठित और विकृत चेतना के व्यक्तियों द्वारा निर्मित समाज कमज़ोर और निर्बल होता है। प्रथम वर्ग की रचनाएं व्यक्ति के भावात्मक और बौद्धिक परिष्कार के उद्देश्य से लिखी गई है। इनका रूप वैयक्तिक भी है और सामाजिक भी। संकलन की प्रथम कविता 'नील कुसुम' मे विश्वास का यही स्वर प्रधान है। जीवन के प्रति दो दृष्टिकोण होते है। एक, जो है उसे ही चरम सिद्धि समझ कर स्वीकार कर लेना, कुछ और की प्राप्ति की न इच्छा करना और न चेष्टा। दूसरा, कामनाओं की मांग, महत्वाकाक्षाओं और उदात्त लक्ष्य की पूर्ति के लिए संघर्ष करना, सपनों को सत्य करने, इच्छाओं की मूर्तियो को साकार करने के लिए संघर्ष करना। जिंदगी का रस वही लेते है जिनमे आशाओं की भीषिका झेलने की सामर्थ्य होती है, जीवन वही सार्थक है जो किमी लक्ष्य की पूर्ति के लिए अर्पित होता है—

तुम लाशें गिनते रहे खोजने वालों की,
लेकिन, उनकी असलियत नहीं पहचान सके ;
मुरदों में केवल यही जिन्दगी वाले थे
जो धूल उतारे बिना लौट कर आ न सके।[1]

'चाद और कवि' तथा 'व्याल-विजय' में भी मनुष्य की शक्ति की प्रतिष्ठा तथा उसके प्रति विश्वास की स्थापना हुई है। 'व्याल-विजय' मे कृष्ण की 'कालीयदमन लीला' को नयी प्रतीकात्मक अर्थवत्ता दी गई है। 'व्याल' जीवन के विष का प्रतीक है जो हर व्यक्ति को अपने राग और पर के द्वेष तथा ईर्ष्या के कारण झेलना पड़ता है। बांसुरी मानव की मनःशक्ति की प्रतीक है जिसके द्वारा मनुष्य इस विष को झेलने में समर्थ होता है। कहा जाता है कि दिनकर ने इस कविता की रचना व्यक्तिगत जीवन के कुछ विष भरे क्षणों को चुनौती देने के लिए की थी। निम्नलिखित पक्तियों में कवि के आत्मविश्वास और शक्ति की निर्भय और समर्थ घोषणा हुई है—

फूंक फूंक विष-लपट, उगल जितना हो जहर हृदय में,
यह बंसी निर्गरल, बजेगी सदा शान्ति की लय में

१. नील कुसुम, पृ० २—दिनकर

पहचाने किस तरह भला तू निज विष का मतवाला ?
मैं हूं सांपों की पीठों पर कुसुम लादने वाला।[1]

* * *

विषधारी ! मत डोल कि मेरा आसन बहुत कड़ा है,
कृष्ण आज लघुता में भी सांपों से बहुत बड़ा है।[2]

'जीवन' कविता में मानव की शक्ति और जीवन के सत्य की स्थापना की गई है। चट्टानों और पाषाणों की नन्ही सी दरार मे जैसे दूब उग कर जीवन के विजय की कहानी कहती है, उसी प्रकार मृत्यु, संघर्ष, विपत्ति सबका सामना करते हुए, जीवन अपना मार्ग बनाता है—

बाल भर अवकाश होना चाहिए,
कुछ खुला आकाश होना चाहिए,
बीज की फिर शक्ति रुकती है कहां ?
भाव की अभिव्यक्ति रुकती है कहां ?[3]

'सेतु-रचना' भी किसी कटु अनुभव की प्रतिक्रिया में लिखी गई जान पड़ती है। अपनी शक्ति और सामर्थ्य के प्रति पूर्णरूप से विश्वस्त और आश्वस्त होकर दिनकर ने ये पंक्तियां लिखी है—

भूंक रहे जो उन्हें नहीं उत्तर दो
तुम कुरूप हो, ऐसी बात नहीं है।
टूट रहे ये मुझे काट खाने को
तुम पर तो कोई आघात नहीं है।[4]

परन्तु संसार की कुटिल और स्वार्थी दृष्टि न उनके व्यक्ति को विचलित करती है और न कवि को। उन्हें मनुष्य के अक्षय व्यक्तित्व पर विश्वास है, मृत्यु से देह नष्ट हो सकती है, पर आत्मा का वह आलोक जो उनके गीतों में व्यक्त है, तूफ़ानों और आंधियों को पायल पहना कर जिसने उन्हें अमर बना दिया है, जो निराकार स्वप्नों की आभाओं को सांसों के धागों से बांध चुका है कैसे तोड़ा जा सकता है। बकवास करने वालों के प्रति उनका व्यवहार और दृष्टिकोण उनके आत्मविश्वास और दृढ़ता का द्योतक है—

---

१. नील कुसुम, पृ० १०
२. वही, पृ० ११
३. वही, पृ० ३८
४. वही, पृ० ४२

रचो सेतु, जो भाव मूकता में हो,
दिन ढलने लग गया, उन्हें द्रुत स्वर दो ;
निर्विकल्प हो रहो सेतु-रचना में,
भूंक रहे जो उन्हें नहीं उत्तर दो।[1]

संसार के प्रति इसी प्रकार का उपालम्भ और अपने प्रति विश्वास 'संस्कार' कविता में भी व्यक्त है—

जब डंकों के बदले न डंक हम दे सकते,
इनके अपने विश्वास मूक हो जाते हैं ;
काटता असल में प्रेत इन्हें अपने मन का
मेरी निर्विषता से नाहक घबराते हैं।[2]

उपर्युक्त प्रायः सभी रचनाएं जीवन के कटु और विषम अनुभवो की प्रेरणा मे लिखी गई हैं, परन्तु उनमें व्यंजित दृढ़ विश्वास, आस्था और शक्ति का स्वर, उन्हें प्रयोगवादी रचनाओं की कुंठित और क्षुब्ध आवाज़ से पृथक् कर देता है।

'नील कुसुम' की बौद्धिक चेतना के दूसरे रूप में व्यक्ति का निजत्व गौण और सामाजिक तत्व प्रधान हो गया है। गायक, नर्तकी, कवि की मृत्यु, कवि और समाज इस वर्ग की प्रमुख रचनाएं है। इन सभी कृतियों में कवि ने कलाकार के मर्म को समझने की कोशिश की है, गायक की कला के मूल में दिनकर ने वेदना देखी है, उसकी कला के आलोक के पीछे मानों किसी की वेदना और आंसू प्रेरणा रूप में छिपे हुए हैं। पंत जी की 'वियोगी होगा पहला कवि' का भाव अधिक मुखर, स्पष्ट और व्यंजक रूप में फूटा है—

तुम्हारी बाँसुरी की तान में, छिप कर रो रहा कोई
गुलाबी आंख अपनी आँसुओं से धो रहा कोई

* * *

कसकती वेदना ऐसे कि जैसे प्राण हिलते हों
किरण सी फूटती मानों तिमिर में फूल खिलते हों ,[3]

'नर्तकी' में कलाकार का सामाजिक व्यक्तित्व अधिक उभरा है। कला की साधना में लीन नर्तकी—समाज में उपहास का ही पात्र बनती है, वह उन्हीं के सामने नृत्य करती है जो उसे सुयश की भिखारिणी समझते हैं। नर्तकी की साधना का पीयूष-घट उनकी आंखों से छिपा रहता है, अगोचर की वाणी को

---

१. नील कुसुम, पृ० ४२
२. वही, पृ० ६३
३. वही, पृष्ठ २७

की पीड़ा का गान करता है, मानव की बेकली, वेदना, स्वेद और श्रम के गीत गाता है। 'मखमल भोगियों' की मखमली सेज पर चिनगारियों की वर्षा करने की कसम खाता है, उसके गीतों में चट्टानों को तोड़ कर अपनी राह बनाने की शक्ति है, उसके स्वर में पाप और अज्ञान के गहरे अन्धकार को भेद कर आग की ज्वाला फैला देने की सामर्थ्य है।

इसी सामाजिक बौद्धिक चेतना का एक और रूप उनकी 'शबनम की जंजीर', 'अर्धनारीश्वर', 'लोहे के पेड़ अमर होंगे', 'नग्नता', 'स्वप्न और सत्य', 'स्वर्ग के दीपक' और 'नई आवाज' इत्यादि कविताओं में मिलता है। प्रथम तीन कवितायें उनकी परम्परावादी विचारधारा की प्रतीक है। इन कविताओं में पाषाण और कुसुम, अपार्थिव और पार्थिव, मस्तिष्क और हृदय, भस्म और कुकुम के सामंजस्य की स्थापना है, जो दिनकर की परम्परागत विचारधारा का एक मुख्य अंग है। 'लोहे के पेड़ हरे होंगे' में भी भौतिकता पर आध्यात्मिकता, विज्ञान पर कला, मस्तिष्क पर हृदय की विजय की कामना व्यक्त की गई है। इस कविता में वर्तमान युग की सांस्कृतिक और आध्यात्मिक अराजकता और विशृंखलता का चित्रण भी किया गया है, वातावरण सिसकियों और चीत्कारों से भरा है, प्रज्ञा और आदर्शों के विभिन्न रूप विश्व को कुछ देने के बदले आपस में ही टकरा रहे है, आवर्त्तों के विषय-जाल मे फंसी बुद्धि निरुपाय होकर टकरा रही है। विज्ञान ध्वंस का कारण बन रहा है—मस्तिष्क की इस भूलभुलैया मे दिनकर रास्ता दिखाते है, उनके स्वर आशा से भरे हुए और विश्वास से दृढ़ है—

> **शीतलता की है राह हृदय, तू यह संवाद सुनाता चल।**
> **धरती के भाग हरे होंगे, भारती अमृत बरसायेगी,**
> **दिन की कराल दाहकता पर चांदनी सुशीतल छायेगी।**
> **जलदों से लदा गगन होगा, फूलों से भरा भुवन होगा।**
> **लोहे के पेड़ हरे होंगे, तू गान प्रेम का गाता चल,**
> **नम होगी यह मिट्टी जरूर आंसू के कण बरसाता चल।**[1]

'स्वप्न और सत्य', 'स्वर्ग के दीपक' और 'नई आवाज़' में सौन्दर्य पर सत्य की विजय तथा दोनों के सामंजस्य की स्थापना की गई है। यह विचारधारा भी दिनकर की पुरानी विचार-परम्परा का ही विकसित रूप है। 'तुम क्यों लिखते हो'? 'नग्नता', 'अमरता' जैसी कविताओं में छोटे-छोटे अनुभव खण्डों को अभिव्यक्ति मिली है। साहित्य का प्रयोजन क्या है? प्रथम कविता में दिनकर

---

१. नील कुसुम, पृष्ठ ९७-९८—दिनकर

ने इसी शास्त्रीय प्रश्न का काव्यात्मक उत्तर दिया है। काव्य रचना का उद्देश्य, शेष विश्व के साथ रागात्मक सम्बन्ध की स्थापना करना है, अथवा अपने असली रूप को शब्दों की पोशाक में छिपाना ? दिनकर का उत्तर है साहित्य रचना में अपने को छिपाने की प्रेरणा के मूल मे मिथ्या अहं और असत्य महत्व का भाव निहित रहता है। साहित्य कवि के व्यक्तित्व की दुर्बलताओं को छिपाने वाला मुखौटा नहीं है। उसका प्रयोजन है आत्माभिव्यक्ति, भावनाओं का स्वस्थ और यथार्थ संप्रेषण, कवि के अन्तर की गहराइयों की सच्ची अभिव्यक्ति—

धो डालो फूलों का पराग गालों पर से,
आनन पर से यह आनन अपर हटाओ तो
कितने पानी में हो इसको जग भी देखे,
तुम पल भर को केवल मनुष्य बन आओ तो
सच्चाई की पहचान कि पानी साफ़ रहे,
जो भी चाहे, ले परख जलाशय के तल को;
गहराई का वे भेद छिपाते हैं केवल,
जो जानबूझ गंदला करते अपने जल को।[1]

'नग्नता' कविता में अनुभव खण्ड का रूप कुछ और ही है। दृष्टि यहां भी विचारप्रधान और बौद्धिक है। सभ्यता के प्रारम्भ में नारी के शील-संकोच और लज्जा से प्रेरित होकर वल्कल का आविष्कार हुआ, परन्तु आज वस्त्र ही नग्नता प्रदर्शन के साधन बन रहे हैं—

एक नग्नता यह भी है जब तन तो नग्न नहीं है,
लेकिन, मन है विकल आवरण से बाहर आने को;
लज्जा वसनों में अनेक वातायन खोज रही है,
देह पहनती चीर नग्नता अपनी दिखाने को।[2]

'नील कुसुम' की उन रचनाओं को भी इसी वर्ग में रखा जा सकता है, जिसमें दिनकर अपनी पूर्व परम्परा से जरा हट गए हैं। पूर्वोक्त कविताओं की विशेषता है उनके बुद्धिप्रेरित प्रतिपाद्य का परम्परित प्रतिपादन। परन्तु 'नील-कुसुम' की कुछ ऐसी रचनाएं भी हैं जो प्रतिपाद्य और प्रतिपादन दोनों ही दृष्टियों से नई हैं। इस वर्ग की प्रमुख रचनाएं हैं—दर्पण, भावी पीढ़ी से, नई आवाज, सबसे बड़ी आवाज, कांटों का गीत, नींव का हाहाकार।

---

१. नील कुसुम, पृष्ठ ५१—दिनकर

२. वही, पृष्ठ ५३—दिनकर

'दर्पण' में आजन्म उद्विग्न मनुष्य की भौतिक और मानसिक व्याधियों के प्रतिबिम्ब के साथ आदर्श और यथार्थ की टक्कर, कल्पना की ऊंची उड़ानों और धरती की काली गहरी रेखाओं की छाया प्रतिबिम्बित है। एक ओर गिरती और ढहती हुई परम्पराएं है, दूसरी ओर बदलते हुए जीवन के नए मूल्यों की झांकी दिखाई गई है। इसी पार्श्वभूमि में दिनकर एक नए युग की कल्पना करते हैं—वह युग जिसकी सम्भावनाओं के प्रति उन्हे बड़ा विश्वास है जिसके प्रवर्तकों और स्तम्भों के प्रति उन्होंने 'नील कुसुम' की पंखुड़ियां बिखेरी है—

झांकी उस नई परिधि की जो
है दीख रही कुछ थोड़ी-सी
क्षितिजों के पास पड़ी पतली,
चमचम सोने की डोरी सी।
छिलके उठते जा रहे, नया
अंकुर मुख दिखलाने को है;
यह जीर्ण तनोवा सिमट रहा,
आकाश नया आने को है।[1]

'भावी पीढ़ी से' कविता नई पीढ़ी की परम्परा-भंजन की प्रवृत्ति को लक्ष्य करके लिखी गई है। 'इलियट' परम्परा को तोड़कर चले, यह बात नवयुवकों को बहुत पसन्द आई। किन्तु, वे यह देखना भूल गए कि परम्परा की जितनी टूटी कड़ियां इलियट में आकर जुड़ी उतनी पहले और कभी नहीं जुड़ी थी। दिनकर के अनुसार 'प्राचीनता और नवीनता के सतही भेद गलत है।' इलियट ने भी कहा है कि नवीनता आकाश से नही टपकती और न कभी प्राचीनता का सर्वथा नाश होता है। इतिहास सर्वथा ध्वस्त युगों की गाथा नही, प्रत्युत ऐसा मानचित्र है जिसमें भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनो एक साथ जीवित दिखाई देते हैं। हड्डी के भीतर अपने युग का अस्तित्व और पीठिका में परम्परा का ध्यान, यह साहित्य लिखने की सही मुद्रा है। परन्तु, इलियट में परम्परा-भंजन का जो नाद है, उसे तो हमारे नवयुवकों ने सुना, उनके भीतर परम्परा को जोड़ने वाले जो विचार हैं, उन्हें ही ये कवि पकड़ नहीं पाते। वे बार-बार हमें यही बताये जा रहे हैं कि प्राचीनता उन्हें तनिक भी स्वीकार्य नहीं है। इसी प्रवृत्ति का थोथापन सिद्ध करने के लिए यह कविता लिखी गई है। साहित्य का वर्तमान बराबर अतीत को अपने साथ लिए रहता है, पूर्व पीढ़ी की प्रवृत्तियां वर्तमान

---

१. नील कुसुम, पृष्ठ ७—दिनकर

पीढ़ी मे, और वर्तमान पीढ़ी का उत्साह तथा ओज पुरानी पीढ़ी को प्रभावित करता रहता है।

मनुष्य की विचार-प्रणाली के शाश्वत सातत्य की स्थापना निम्नोक्त पंक्तियों में की गई है—

जिज्ञासा का धुंवा उठा जो मनु के सिर से,
सब के माथे से वह उठता ही आया है,
घटी-बढ़ी पर नहीं तनिक नीलिमा गगन की,
और न बरसा समाधान कोई अम्बर से।

कविता की परिणति परम्परावादी विचार-दर्शन की स्थापना के साथ होती है—

श्रम है केवल सार, काम करना अच्छा है,
चिन्ता है दुःख भार, सोचना पागलपन है।[1]

टेकनीक और प्रतिपाद्य दोनों की दृष्टि से 'कांटों के गीत' इस वर्ग की महत्व-पूर्ण रचना है। इस कविता में वर्तमान युग की विकृतियों की पोल खोली गई है। आर्थिक, आध्यात्मिक और सामाजिक जीवन-दृष्टि का थोथापन नई शैली में खोलकर रखा गया है। लक्ष्मी का नया जार कुबेर पद पाने की भागदौड़ में लगा है, उसे गीत नहीं कांटे चाहिए, सुविधाओं की खोज में मनुष्य अपने सुख और सामंजस्य को खो बैठा है। सोने की गगरी पर पहरा देते हुए इस विषैले सांप पर उच्च शिखर की पुकार का प्रभाव नही पड़ सकता, उसकी भोग-जड़ आत्मा उदात्त भावों के सुख को भूल बैठी है, परन्तु दिनकर का स्वर यहां भी आशावादी है, उन्हें विश्वास है कि फूलों के ये प्रेमी कांटों का सामना नहीं कर सकते, फिर फूल भी कैसे ? कागज़ के—जिनका सौरभ अन्तर में नहीं बसता, ऊपर से छिड़का जाता है—जैसे मध्यकालीन संस्कृति की लाद-फांद समाप्त हो गई है, जामे, कलंगियां और मुकुट हवा में उड़ गए हैं—वैसे ही आज की सभ्यता के ये विकृत लक्षण भी अस्थायी हैं, मिट जाने वाले हैं—यहां भी दिनकर ने गांधी और विनोबा के आदर्शों के अनुसरण में ही विश्व का कल्याण देखा है। मार्क्स के समकक्ष गांधी को खड़ा करके उनके नाम के दुरुपयोग द्वारा अपनी स्वार्थपूर्ति और संचय-वृत्ति को साधने वालों से उनका कहना है—

कहो, मार्क्स से डरे हुओं का
गांधी चौकीदार नहीं है;

---

१. नील कुसुम, पृष्ठ १८—दिनकर

सर्वोदय का दूत किसी
संचय का पहरेवार नहीं है।[1]

'नींव का हाहाकार' में भारतीय प्रजातन्त्र और राजनीतिक व्यवस्था के मूल में छिपी हुई दुर्बलताओं और विषमताओं की करुणा की आक्रोशपूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। प्रजातन्त्र के ऊंचे और भव्य प्रासाद की नींव में दुर्बलों और पीड़ितों की कराह सुनाई पड़ रही है—

प्रासाद को स्थायी बनाने के लिए आवश्यक है कि नींव के पत्थरों को हटा कर इन जीवित मुर्दों को मुक्त किया जाय। यदि इस तथ्य की उपेक्षा की गई तो यह वज्र की दीवार टूटकर गिर जाएगी, दुर्बलों की आहें आग की ज्वाला बन कर सारी व्यवस्था को मिटा देंगी—
क्योंकि—

वज्र की दीवार जब भी टूटती है,
नींव की यह वेदना विकराल बनकर छूटती है।
दौड़ता है दर्द की तलवार बन कर
पत्थरों के पेट से नरसिंह ले अवतार
कांपती है वज्र की दीवार।[2]

जिज्ञासा-प्रेरित दार्शनिक रचनाएं

'नील कुसुम' की कुछ रचनाएं दार्शनिक पीठिका में लिखी गई हैं जिनमें मुख्य है 'नीरव प्रकाश', 'संकेत', 'अशब्द', 'नासदीय', 'इच्छाहरण', 'सब से बड़ी आवाज', 'ये गान बहुत रोए' तथा 'गृह-रचना'। 'नीरव प्रकाश' में नैसर्गिक अनुभूतियों और अलौकिक भावों की अनिर्वचनीयता का प्रतिपादन किया गया है। शब्दों की संकेतात्मकता उनकी अर्थवत्ता को बढ़ाती है, परन्तु अछूते भावों की गहराई का आनन्द गूंगे के गुड़ के आनन्द की तरह होता है, जहां पहुंच कर वाणी मूक हो जाती है। 'सबसे बड़ी आवाज' में मौन के बल की अभिव्यक्ति की गई है। मुखरता और वाचालता सतही भावों की प्रतिक्रिया के अनुभव हैं, परन्तु मौन, गम्भीरता का घोष है, जिस गहराई में काल की निस्सीमता सिमट आती है। व्यक्त करके, सिर धुन करके व्यक्ति केवल अपनी शक्ति का क्षय करता है, मूक होकर वह उसी शक्ति से शक्तिशाली बन जाता है—सबसे बड़ी आवाज मूक है, प्रच्छन्न है। 'संकेत' 'अशब्द' और 'ये गान बहुत रोये'

---

१. नील कुसुम, पृष्ठ ६७
२. वही, पृष्ठ ७०

कविताओं में छायावाद की रहस्य-चेतना का विकसित रूप मिलता है, परन्तु यह चेतना केवल काल्पनिक और रागात्मक नहीं है, यहां दिनकर, एक तत्वदर्शी दार्शनिक की भांति अपनी जिज्ञासु बुद्धि के प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत कर रहे है जिनमें विचार, भाव और कला संपृक्त है। कुरुक्षेत्र के समष्टि-दर्शन की भांति ही चिन्तन के इन क्षणों में भी दिनकर ने पृथ्वी का आधार नहीं छोड़ा है। दर्शन को जीवन से उच्चतर अथवा पृथक् न मान कर उसे उसी की रगों में पिरो कर प्रस्तुत किया है। 'नासदीय' और 'गृह-रचना' इस क्षेत्र में नये प्रयोग माने जा सकते है जहां पौराणिक, दार्शनिक मान्यताओं और पात्रों की नई बौद्धिक चेतना की पृष्ठभूमि में नई प्रतिष्ठा की गई है। 'नासदीय' सूक्त का सारार्थ है 'न है न नहीं है, है भी और नहीं भी है।' अस्तित्व और अन-स्तित्व की इसी उलझी हुई गुत्थी के दोनों पक्षों पर विचार करते हुये दिनकर इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं—

ठहरो अगम प्रश्न के स्रोतो ! मन में कुछ गुनने दो।
अपना समाधान अपनी ही धारा में सुनने दो।[1]

पौराणिक प्रसिद्धि है कि लोमश ऋषि ने स्थायी रूप से गृह नहीं बनाया। गृह-रचना को संकीर्ण जीवन-दृष्टि का प्रतीक मान कर दिनकर ने उस पर अपने विचारों का महल खड़ा किया है। गृह की सीमाओं में बंध कर व्यक्ति की दृष्टि संकुचित हो जाती है, घर बनाने का अर्थ है बृहत् विश्व और महाकाश से अपने को विच्छिन्न कर लेना, खुले आकाश और मुक्ति के सुखद और स्वस्थ प्रभाव से वंचित होकर सुरक्षा की अति की भावना सांसों में अवरोध उत्पन्न करती है। प्राणों पर लक्ष्मण रेखा लगा देती है—झंझाओं को झेल कर तथा दोपहर की किरणों के तेज से प्राप्त होने वाली जीवनीशक्ति से व्यक्ति वंचित हो जाता है, दिनकर का कर्मठ व्यक्तित्व सुख और सुविधाओं की शीतलता में पलने वाले व्यक्तियों के ठंडे लहू, प्रेरणाहीन प्राणशक्ति, तथा मरी हुई चांदनी ओढ़ कर सोने वालों को केवल दया और करुणा की दृष्टि से देखता है परन्तु यहां भी उनका समन्वयवादी व्यक्तित्व सामंजस्य खोज लेता है—

मिल सकती ताजगी अगर वातायन बड़े-बड़े हों,
मगर, खिड़कियां सन्धिपत्र के ही आखिर पन्ने हैं।
ये पन्ने खुलते जब रातों में मिठास होती है,
हो जाते ये बन्द अभी तूफान बड़ा आता है।[2]

---

१. नील कुसुम, पृष्ठ ४७—दिनकर
२. नील कुसुम, पृ० ५६—दिनकर

यद्यपि, इन दार्शनिक रचनाओं का आकाश छोटा हो गया है, परन्तु उनकी गहराई बढ़ गई है। आयाम की संकीर्णता ने दिनकर की विचार-कल्पना को सूक्ष्मता और विस्तार में जाने का अवसर दिया है।

स्फुट, कल्पनाप्रधान, शृंगारिक रचनाएं

'नील कुसुम' के चतुर्थ वर्ग की रचनाओं को छायावाद की सौन्दर्य-कल्पना और रसवन्ती की शृंगार-भावना का अवशेष माना जा सकता है। आनन्दातिरेक कविता में एक रूमानी मदोन्माद है। 'नील कुसुम' की अन्य कविताओं का बुद्धि तत्व तथा विचार यहां आकर तिनके की तरह लुप्त हो गया है—

नींद है वह जागरण जब फूल खिलते हों;
चेतना के सिन्धु में निश्चेत प्राणों को;
उर्मियों में फूटते से गान मिलते हों।

* * *

मीठा बहुत उल्लास यह, मादक बहुत अविवेक यह,
निस्सीम नभ, सागर अगम, आनन्द का अतिरेक यह।[1]

'चन्द्राह्वान' और 'पावस का गीत' में प्रकृति को आलम्बन रूप में ग्रहण किया गया है। ये गीत दिनकर की काव्य-चेतना के मोड़ के नहीं, केवल कुछ देर के लिए रुचि-परिवर्तन के प्रयास के द्योतक है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि दिनकर ने 'नील कुसुम' में, प्रयोगवादी कवियों से दृष्टि-ग्रहण की है, परन्तु यह अर्जित दृष्टि उनके अपने संस्कारों की गहराई में लिपट कर नये कवियों की रचनाओं से अधिक स्वस्थ, संतुलित और प्रौढ़ बन गई है।

'नये सुभाषित' में लगभग सौ विषयों पर कोई दो सौ कण्डिकायें संगृहीत हैं। जिन्हें और किसी नाम के अभाव में दिनकर ने 'सुभाषित' नाम दिया है। ये अवकाश के क्षणों की रचनाएं हैं। अनेक सुभाषितों पर विदेशी साहित्य का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव मिलता है। विषय की विविधता का अनुमान तो उनकी संख्या से ही लगाया जा सकता है। एक ओर प्रेम, सौन्दर्य, यौवन और विवाह सम्बन्धी फुलझड़ियां हैं तो दूसरी ओर पत्रकार, अभिनेता, आलोचक और कवियों की रगड़ाई हुई है, कुछ सुभाषितों में धर्म, नीति, दर्शन, राजनीति और संस्कृति की गम्भीर और मार्मिक झलकियां हैं, तो कुछ में आंख-कान, आलस्य-मूर्ख और क्वारों का मुक्त और हास्यपूर्ण विश्लेषण है। अध्ययन, विज्ञान, साहस, तथ्य, और सत्य, भूल, अनुभव, विकास, नाटक इत्यादि विषयों

---

१. नील कुसुम, पृ० ४०

से सम्बद्ध कण्डिकायें दिनकर की वाक्विदग्धता की परिचायक हैं। विनोद-गोष्ठी में जैसे संसार भर के व्यक्ति और घटनायें चर्चा का विषय बन जाती हैं, उसी प्रकार दिनकर की इस विनोद-गोष्ठी में मार्क्स, फ्रायड, गांधी, जवाहर, जयप्रकाश, विनोबा सबको समेट लिया गया है। दिनकर की काव्य-चेतना के विकास में इन रचनाओं का वही योग-दान है जो मंजिल की ओर बढ़ते हुये राही के लिये, यात्रा के पड़ावों का होता है। ऊबड़-खाबड़, पथरीली राहों के श्रम को हास्य, विनोद, प्रमोद और विश्राम द्वारा दूर कर वह आगे का रास्ता पार करने की शक्ति अर्जित करता है। इन सुभाषितों को भी दिनकर के साहित्यिक संघर्ष के मार्ग का पड़ाव माना जा सकता है।

कुछ सुभाषितों में समष्टि-चेतना की गम्भीरता जैसे बरबस आ गई है। हँसी-विनोद में जिस प्रकार मन की तहें खुल जाती हैं और एकाएक वातावरण गम्भीर हो उठता है वैसे ही 'भारत' और 'गांधी' शीर्षक सुभाषितों में भारत में बढ़ते हुए आन्तरिक भ्रष्टाचार, कृत्रिम आध्यात्मिकता, पाश्चात्य और भारतीय संस्कृतियों के संगम से उद्भूत जीवन के उलझे हुये मूल्य, राजनीतिक दलबन्दियों और गुटबन्दियों के हथकण्डे, भारत की विदेशनीति का मिथ्या महत्वांकन इत्यादि इन सुभाषितों का विषय बन गया है। इनमें व्यंग्य के छीटों के साथ आक्रोश और चिन्तन की गम्भीरता भी है।

दिनकर की समष्टि-चेतना की अन्तिम और चरम अभिव्यक्ति हुई है 'परशुराम की प्रतीक्षा' में। चीन के आक्रमण के प्रति दिनकर की प्रतिक्रियाओं ने यह सिद्ध कर दिया है कि समय की मांग ढीली पड़ने पर चाहे वे रसवन्ती में रमें, 'उर्वशी' की साधना करें, 'नील कुसुम' के प्रयोग करें अथवा सुभाषितकार बन कर हँसी और व्यंग्य की फुहारें उड़ायें, पर मूलतः वे युग के चारण हैं, समय की पुकार उनके रक्त में आग भर देती है, उनका गम्भीर घोष आक्रोश के गर्जन में परिवर्तित हो जाता है। 'परशुराम की प्रतीक्षा' चीनी आक्रमणकाल में लिखी गई सबलतम कविता है। उसकी प्रेरणा आक्रोशमूलक है इसमें कोई सन्देह नहीं है, पर जब किसी देश की जनता का आक्रोश सामूहिक और संगठित रूप से व्यक्त होता है तभी क्रान्तियों का जन्म होता है। 'परशुराम की प्रतीक्षा' चीन के आक्रमण की तात्कालिक प्रतिक्रिया मात्र नहीं है। उसमें भारतवर्ष की राजनीति और जीवन-दर्शन के अनुदिन गिरते हुए स्तर के कारणों का अध्ययन, मनन और विवेचन करके दिनकर ने अपनी पुरानी मान्यताओं का पुनरावर्तन किया है। 'परशुराम की प्रतीक्षा' का विचार-दर्शन हुंकार और कुरुक्षेत्र का सम्मिलित और संतुलित विचार-दर्शन ही है। 'हुंकार की आग' ब्रिटिश साम्राज्य-

वाद को जला डालने के उद्देश्य से बरसाई गई थी, और 'कुरुक्षेत्र' में विश्व-युद्ध की पृष्ठभूमि के कारण उस आग को बुद्धि के शीतल जल के छींटों से संतुलित किया गया था। 'कुरुक्षेत्र' में उन्होंने जिन स्थितियों का चिन्तन किया था, एक आक्रान्त देश के विशिष्ट नागरिक होने के नाते आज वे उसी के भुक्त-भोगी हैं। यह आक्रोश, उनका व्यक्तिगत आक्रोश नहीं है, दिनकर इस कविता में जनमानस का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। इस प्रसंग में, श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' के सार्थक और सटीक व्याख्यान को उद्धत करने का लोभ-संवरण नहीं हो रहा है। 'परशुराम के छन्दों का भाव है जन जन का, पर प्रभाव है कवि का, तो भाव को प्रभाव देकर दिनकर जनमानस के कवि का इतिहास पद पा गए हैं। अब से ठीक ५१ वर्ष पूर्व जन-जन की भावना को छंद-बद्ध किया था कवि मैथिलीशरण गुप्त ने 'भारत भारती' में, और इतिहास पद पाया था।··· आंखें खोलता, अंगड़ाई लेता जन-मन भारत भारती है तो आंखें तरेरता, मुट्ठी बांधता क्रुद्ध जन-मन परशुराम की प्रतीक्षा है।'[1]

'परशुराम की प्रतीक्षा' में दिनकर की युद्ध सम्बन्धी नई और पुरानी कवि-तायें संकलित हैं। पुरानी कविताओं की चर्चा सामधेनी की काव्य-चेतना के अन्तर्गत की जा चुकी है।

चीन के आक्रमण पर, युद्ध सम्बन्धी उनकी नई कविता 'जौहर' सबसे पहले दृष्टि में आई। ऐसा लगा जैसे सोता हुआ शेर जाग कर अभी केवल अंगडाइयां ले रहा है। इस कविता मे चीनी आक्रमण के प्रति जनता के आक्रोश और उत्तेजना तथा भारतीय सेना की प्रारम्भिक पराजयों से उत्पन्न अवसाद का चित्रण हुआ है। 'जनता जगी हुई है', 'आज कसौटी पर गांधी की आग है' 'अहिंसावादी का युद्ध गीत' और 'आपद्धर्म' में दिनकर का विचारक और दार्शनिक ही प्रबुद्ध हुआ है। उनका दर्शन आकाश की ऊंचाई को छूता हुआ भी पृथ्वी का आधार नहीं छोड़ता। जिस आधार के बिना दर्शन का अनुसरण करके त्रिशंकु की स्थिति ही हाथ आती है। 'आज कसौटी पर गांधी की आग है' नामक कविता में राष्ट्र-अग्रणी की पशु न बनने की आज्ञा को चुनौती दी गई है और आपद्धर्म की ओर उनका ध्यान आकर्पित किया गया है। वास्तव में 'कलिंग विजय' के अशोक, 'कुरुक्षेत्र' के युधिष्ठिर और आज के जवाहर एक ही विचार-परम्परा के तीन प्रतिनिधि हैं। अन्तर केवल इतना है कि पहले दो, युद्धजन्य ध्वंस के उत्तरदायित्व के कारण ग्लानियुक्त हैं। तीसरा उनसे मिली हुई अहिंसा

१. जागो अब परशुराम, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, साप्ताहिक हिंदुस्तान, १४ जुलाई, १९६३

और क्षमा के संस्कारों से मुक्त होने में असमर्थ है। जवाहर के व्यक्तित्व में छिपे हुए अशोक, युधिष्ठिर और गांधी के संस्कारों की दिनकर सराहना करते हैं—

अब भी पशु मत बनो कहा है वीर जवाहरलाल ने।
अन्धकार की दबी रोशनी की धीमी ललकार,
कठिन घड़ी में भी भारत के मन की धीर पुकार।
सुनती हो नागिनी! समझती हो इस स्वर को?
देखा है क्या कहीं और भू पर उस नर को—
जिसे न चढ़ता जहर न तो उन्माद कभी आता है
समर भूमि में भी जो पशु होने से घबराता है?

परन्तु यह संस्कार, यह विवेक, यह ज्ञान और द्वन्द्व आज की समस्या का समाधान नहीं है। आज के उमड़ते हुए ज्वार का उत्तर है प्रतिशोध। आज जनता को हमारी पुण्यभूमि को रौंदने वाले का मस्तक चाहिए। युद्ध के समय प्रतिकार ही पुण्य है इसीलिए दिनकर ने निर्भीक और निर्द्वन्द्व होकर राष्ट्र-अग्रणी की मानव बने रहने की आज्ञा को चुनौती दी है। मन और कर्म का असामंजस्य जब तक बना रहेगा, जब तक शौर्य हमारी सांस्कृतिक चेतना का एक अंग बन कर हमारी रग-रग में समा नही जाता इस द्विधापूर्ण स्थिति मे पशु की जीत होगी, मनुष्य हार जाएगा इसीलिए दिनकर सबके सामने खुला समाधान रखते हुए राष्ट्र के सूत्रधार को जनमानस की भीष्म प्रतिज्ञा और ज्वलित अंगारमयी भावनाओं से अवगत कराते हैं—

खड्ग सींचा जाता है
नहीं युद्ध में गंगा के जल की फुहार से।
दबा पुण्य का वेग अखंड़िया गीली मत होने दे
कस कर पकड़ कृपाण मुट्ठियां ढीली मत होने दे
ऋषियों को भी सिद्धि तभी तप से मिलती है
पहरे पर जब स्वयं धनुर्धर राम खड़े होते हैं।

युद्ध में द्विधा सब से बड़ा पाप

परिस्थितियों की विवशता की दुहाई देकर, अवसाद-ग्रस्त होकर, आंसू बहा कर लड़ना युद्ध का समाधान नहीं है। केवल गर्जन, तर्जन, रोष और आवेश-प्रदर्शन से भी उस उद्देश्य की प्राप्ति नहीं की जा सकती जो हमें चाहिए। बल्कि सच्चा शूर-धर्म है आत्म गौरव के प्रति जागरूकता, निर्भीकता और द्विधामुक्त चिन्तन। हर विजय के पीछे मन का दृढ़ संकल्प प्रधान होता है। जहां युद्ध,

शुद्ध संकल्प, आशा, साहस और विचार द्वारा प्रेरित होता है, वहीं विजय होती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि दिनकर को यह सब बातें समय की मांग के कारण ही कहनी पड़ी हैं। जिस अग्नि के लिए उन्होंने जनता का आह्वान किया था उसके अनुकूल वातावरण उन्हें नहीं मिला। 'गांधी के शान्ति सदन में आग लगाने वाले' भयानक विषधर का फण कुचल देने के लिए एक ओर जनता में उबाल है दूसरी ओर राष्ट्रनायकों और सूत्रधारों के वक्तव्यों में वय और संस्कारजन्य शान्ति और समझौते की आवाज़ बढ़ती ही जा रही है। यहीं दिनकर उद्विग्न हो उठे है। कर्म-अकर्म, धर्म-अधर्म की द्विधा से कुंठित हो मानवीय मूल्यों की दुहाई दे दे कर युद्ध-नीति का निर्धारण करने वालों के प्रति उनका सन्देश है—

युद्ध में जीत कभी भी उसे नहीं मिलती है
प्रज्ञा जिसकी विकल, द्विधा-कुंठित कृपाण की धार है।

* * *

विजयकेतु गाड़ते वीर जिस गगन जयी चोटी पर
पहले वह मन की उमंग के बीच मढ़ी जाती है
विद्युत बन छूटती समर में जो कृपाण लोहे की
मुट्ठी में पीछे, विचार में प्रथम गढ़ी जाती है।

आवेश यदि विवेक और कर्म-संपुष्ट न हो तो निरर्थक है, इसीलिए जनता को सम्बोधित करके वे कहते हैं—

किन्तु, बुलाने को जिसको तू गरज रहा है,
उसे पास लाने में केवल गर्जन नहीं समर्थ है।
रोष घोष स्वर नहीं, मौन शूरता मनुज का धन है
और शूरता मात्र नहीं अंगार,
शूरता नहीं मात्र रण में प्रकोप से धुंधुआती तलवार,
शूरता स्वस्थ जाति का चिर अनिद्र जाग्रत स्वभाव,
शूरत्व त्याग, शूरता बुद्धि की प्रखर आग।

पापी कौन ? 'मनुज से उसका न्याय चुराने वाला'

उपर्युक्त पंक्ति 'कुरुक्षेत्र' के भीष्म ने युधिष्ठिर की ग्लानि का समाधान करने के लिए कही थी। वर्तमान महाभारत में कर्म और शान्ति के नाम पर उठती हुई द्विविधाओं का निराकरण करने के लिए कवि ने फिर भीष्मनाद किया है—

पापी कोई और, चित्त क्यों म्लान करें हम ?
भारत में जो निधि मनुष्यता की संचित है

क्यों पशुत्व भय से उसका बलिदान करें हम ?
किसे लीलने को आई यह लाल लपट है ?
गांधी पर यदि नहीं और किस पर संकट है ?

* * *

गांधी की रक्षा करने को गांधी से भागो।

'परशुराम की प्रतीक्षा' से पहले लिखे गए इन गीतों में कुरुक्षेत्र का भीष्म ही मस्तिष्क के स्तर पर बोल रहा था लेकिन कोलम्बो प्रस्ताव की स्वीकृति के बाद से तो जैसे दिनकर पर हिंसा और प्रतिशोध का जनून चढ़ गया, और वे फिर 'रेणुका' और 'हुंकार' के युग में पहुंच कर आग बरसाने लगे, 'सामधेनी' का पाठ कर युद्धाग्नि मे आहुति डालने लगे। उनका विचार है गांधी और गौतम की रक्षा करने के लिए 'परशुराम' को अवतार लेना होगा, जिसे चीन से पराजय का कलंक 'लोहित' कुंड में धोना पड़ेगा।

आज का समाधान अध्यात्म दर्शन नहीं

निवृत्तिमूलक अथवा कोमल मधुर भावनाओं का पोषण करने वाले दर्शन से आज हमारे राष्ट्र की समस्या नही सुलझ सकती। आध्यात्मिकता-प्रधान राष्ट्र का तेज नष्ट हो जाता है—

उपशम को ही जो जाति धर्म कहती है
शमदम विराग को श्रेष्ठ कर्म कहती है
दो उन्हें राम तो मात्र नाम ले लेंगी,
विक्रमी शरासन से न काम वे लेंगी।
नवनीत बना देती झट अवतारी को
मोहन मुरलीधर पांचजन्य धारी को।

समय की मांग को न पहिचान कर जीवन के उदात्त गुणों और मानवीय मूल्यों का झण्डा उठाकर जनता का उत्साह ठंडा करने वालों के प्रति दिनकर कहीं-कहीं बहुत ही कटु हो गए हैं—

गीता में जो त्रिपिटक निकाय पढ़ते हैं
तलवार गला कर जो तकली गढ़ते हैं
सारी वसुन्धरा में गुरुपद पाने को
प्यासी धरती के लिए अमृत लाने को,
जो संत लोग सीधे पाताल चले हैं
अच्छे हैं अब (पहले भी बहुत भले हैं)

देश की पराजय का कारण उनकी दृष्टि में यही आध्यात्मिकताजन्य पलायनवादी जीवन-दर्शन है। जनता के प्रति उनका सन्देश है—

जो पुण्य-पुण्य बक रहे उन्हें बकने दो,
जैसे सदियां थक चुकीं उन्हें थकने दो।
पर देख चुके हम तो सब पुण्य कमा कर
सौभाग्य, मान, गौरव अभिमान गंवा कर।
वे पिएं शीत तुम आतप घाम पियो रे।
वे जपें राम तुम बनकर राम जियो रे।

दिनकर ने भारत के उज्ज्वल भविष्य की कल्पना उसके पूर्ण सैन्यीकरण में ही की है; उनके लिए राष्ट्र के सम्मान तथा संस्कृति की रक्षा का यही एक मार्ग है। एक हाथ में परशु और दूसरे में वेद लेकर ही भारतीयता की रक्षा की जा सकती है। उद्दाम ध्वंसक शक्ति के द्वारा ही भारत पर ललचाई नज़र डालने वालों को उचित शिक्षा दी जा सकती है इसीलिए उन्होंने शंकर, गौतम और अशोक का इन शब्दों में आह्वान किया है—

पर्वतपति को आमूल डोलना होगा,
शंकर को ध्वंसक नयन खोलना होगा।
गौतम को जयजयकार बोलना होगा।

आज कुरुक्षेत्र का भीष्म फिर 'हुंकार' कर कृशानु-उद्दीपक 'सामधेनी' का उच्चार कर रहा है—

एक वस्तु है ग्राह्य युद्ध में,
और सभी कुछ देय है;
पुण्य हो कि हो पाप,
जीत केवल दोनों का ध्येय है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि दिनकर की समष्टि-मूलक काव्य-चेतना अभाव से भाव, निवृत्ति से प्रवृत्ति, दिवास्वप्नों से चिन्तन और कल्पना से कर्म की ओर अग्रसर हुई है। उसका मूल रूप भाव-प्रेरित रूमानी है। बुद्धि-विवेक द्वारा विरोधी सत्ताओं के साथ सामंजस्य की कल्पना वे नहीं करते, कर ही नहीं सकते। उनके पास अव्यवस्था और अन्याय के उन्मूलन और उच्छेदन के अतिरिक्त और कोई समाधान नही है। उनका मार्ग समझौते का नहीं विद्रोह और क्रान्ति का मार्ग है। उनकी दृष्टि विप्लव की दृष्टि है। राष्ट्रीय संघर्ष के दिनों में महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन से उनका सदैव मतभेद रहा, केवल चुपचाप मार खाना उनकी समझ में कभी नहीं आया और न उनका यह

विश्वास बना कि केवल भीख मांगने से स्वतन्त्रता मिल सकती है अथवा उसकी रक्षा की जा सकती है।

दिनकर की क्रान्ति का रूप निरुद्देश्य-ध्वंसमूलक नहीं है। उनके लिए अराजकतावादी अथवा अव्यवस्थावादी इत्यादि शब्दों का प्रयोग भ्रामक है। शरत्चन्द्र ने सुभाष के व्यक्तित्व में 'सव्यसाची' का स्वप्न पूरा देखना चाहा था, सव्यसाची—जिसका मार्ग भंवर, तूफान और बवण्डर का मार्ग था—जिसकी मंजिल अनिर्दिष्ट और अनिश्चित थी, जब क्षितिज के पीछे का आलोक, दमन और शोषण की घनघोर तमिस्रा में छिपा हुआ था। दिनकर ने बवंडर, तूफान और तमिस्रा के बाद स्वतन्त्रता-सूर्य का उदय भी देखा, जिसकी किरणों के आलोक में वह देश से विश्व की ओर बढ़े, हिमालय की उत्तुग प्राचीरों और महासागरों की उत्ताल लहरों का अतिक्रमण कर सम्पूर्ण पृथ्वी को अपनी चेतना में समेटना चाहा, पर क्षितिज पर उदित, बालारुण में अकस्मात् ही ग्रहण लग गया और दिनकर को फिर हिमालय के इस पार लौट आना पड़ा। अन्धकार में सव्यसाची के लिए मार्ग बनाने वाली थी उसके हृदय में जलती हुई मशाल और जेब में छिपी हुई बारूद। 'सूर्य-ग्रहण' के कलंकपूर्ण काले धब्बों को मिटाने के लिए दिनकर ने भारत के भाग्य-पुरुष 'परशुराम' के एक हाथ में वेद और दूसरे में परशु दिया है। वेद धर्म, संस्कृति और दर्शन की रक्षा के लिये, और परशु, पापी, अधर्मी, अत्याचारी और लोलुप शत्रुओं की गर्दन उड़ाने के लिए। यह भाग्य-पुरुष कोई विशिष्ट व्यक्ति नहीं, है 'स्वयं हम और तुम' है। उत्तेजित और क्रुद्ध भारत है—विशुद्ध भारत। 'काल के चारण' दिनकर उसी की अभ्यर्थना कर रहे हैं—

> रह जायेगा नहीं ज्ञान सिखला कर,
> दूरस्थ गगन में इन्द्रधनुष दिखला कर,
> वह लक्ष्य-बिन्धु तक तुमको ले जायेगा,
> उंगलियां थाम मंजिल तक पहुंचायेगा।[1]
> वृक हो कि व्याल जो भी विरुद्ध आयेगा,
> भारत से जीवित लौट नहीं पायेगा।
> संसार धर्म की नई आग देखेगा,
> मानव का करतब पुनः नाग देखेगा।[2]

ग्रहण के धब्बे दिन पर दिन काले पड़ते जा रहे हैं, कलंक के दाग गहरे हो रहे हैं, उन्हें मिटाने के लिए 'परशुराम की प्रतीक्षा' है।

१. परशुराम की प्रतीक्षा, पृष्ठ १७—दिनकर
२. वही, पृष्ठ ११

चौथा अध्याय

दिनकर की काव्य-चेतना का विकास--२

शृंगार-चेतना और नारी-भावना

दिनकर मुख्यतः ओज और पौरुष के कवि है। पिछले अध्याय में जिन कृतियों के आधार पर उनकी काव्य-चेतना के विकास का निरूपण किया गया है उनमे उनकी समष्टि-चेतना प्रधान और वैयक्तिक चेतना गौण तथा परोक्ष रही है। उसके अन्तर्गत विवेचित रचनाओं में उनके राग का रूप वेदना अथवा उत्साह मिश्रित तथा समष्टि के प्रति उन्नयनित है। दिनकर के राग का दूसरा रूप एकान्त वैयक्तिक है जिसके कुछ सूत्र रेणुका की रचनाओं में मिलते हैं परन्तु जिनका सम्यक् रूप विकास रसवन्ती में और चरम परिणति उर्वशी में होती है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि दिनकर की काव्य-प्रेरणा में वैयक्तिक और समष्टिगत अनेक विरोधी और अविरोधी तत्व साथ-साथ विद्यमान रहे हैं। क्रान्तिकारी और राष्ट्रीय कवि के पद पर प्रतिष्ठित हो जाने के बाद रसवन्ती की रसमयी भावनाओं को सार्वजनिक रूप से जनता के समक्ष रखने में दिनकर का संकोच और भय स्वाभाविक था, क्योंकि समष्टि से व्यष्टि की ओर लौटना प्रायः उसी रूप में ह्रास का चिह्न माना जाता है जैसे कि अध्यात्म-साधना से विरत और च्युत होकर कोई व्यक्ति कंचन और कामिनी की ओर लौट आए। पथभ्रष्ट साहित्यकार की स्थिति योगभ्रष्ट साधक की स्थिति से अधिक भिन्न नहीं होती। रसवन्ती को प्रकाश में लाते समय दिनकर के मन में यही संकोच था। समष्टि-चेतना के काव्य में उनकी भावनाओं का उन्नयन हुआ था, रसवन्ती में उनका उद्रेक व्यक्त है। अनेक आलोचकों ने रसवन्ती के दिनकर को पलायनवादी मानकर उन पर यथार्थ और संघर्ष से कायरतापूर्वक मुँह मोड़ लेने का दोषारोपण किया है, लेकिन जैसा कि पहले कई बार कहा जा चुका है, दिनकर की काव्य-चेतना में व्यक्ति और समष्टि, सुन्दर और सत्य, ओज और प्रेम, प्रवृत्ति और निवृत्ति साथ-साथ चले हैं। द्वन्द्व गीत का धुवा, हुंकार की आग और रसवन्ती का रस उनके हृदय में एक साथ विद्यमान रहे हैं। दिनकर ने अपनी काव्य-चेतना के इस वैयक्तिक रूप को बिना किसी हिचक और लज्जा

के स्वीकार किया है—"संस्कारों से मैं कला के सामाजिक पक्ष का प्रेमी अवश्य बन गया था, किन्तु मन मेरा भी चाहता था कि गर्जन-तर्जन से दूर रहूं और केवल ऐसी ही कविताएं लिखूं जिनमें कोमलता और कल्पना का उभार हो। यही कारण था कि जिन दिनों हुंकार की कविताएं लिखी जा रही थीं, उन्हीं दिनों में 'रसवन्ती' और 'द्वन्द्वगीत' की भी रचना कर रहा था और अजब संयोग की बात कि सन् १६३६ में ही ये तीनों पुस्तकें एक वर्ष के भीतर-भीतर प्रकाशित हो गई और सुयश तो मुझे हुंकार से ही मिला, किन्तु आत्मा मेरी अब भी रसवन्ती में बसती है।"[1]

रसवन्ती में 'गिरि-हृदय के व्याकुल निर्झरों' को गति मिली है। बड़े यत्न से छिपाए हुए भाव मुकुलों को हृदय से नीचे उतारते हुए दिनकर के मन में कातरता है। 'गीत-शिशु' नामक कविता में यह भाव-स्निग्ध कातरता बड़ी आर्द्रता के साथ व्यक्त हुई है। कल्पना के ये शिशु संसार की रीति-नीति नहीं जानते, पृथ्वी की रागद्वेषमयी अकरुणा से उनकी रक्षा किस प्रकार हो सकेगी, दिनकर का मन इसी आर्द्र शंका से युक्त है। उडु से द्युति, बाल-लहर से गति और मलय से सौरभ लेकर उनका रूप संवारा गया है, सांसारिकता के बोध से अनभिज्ञ वे केवल धूल से खेलना जानते हैं, रेणु और रत्न का भेद उन्हें नहीं मालूम परन्तु सरस्वती की आराधना में पुष्प चढ़ाने के लिए, कवि-पिता ने साहस करके उन्हे पृथ्वी पर उतार दिया है। नेत्रों में विस्मय तथा शील और मन में अभिलाषा लिए वे पृथ्वी पर उतर पड़े है। उनके प्रति मोहग्रस्त दिनकर के हृदय की एक आवाज है जिसमें उनका आर्द्र-कठोर हृदय बोल रहा है—

छूकर भाल वरद कर से, मुख चूम विदा दो इनको ;
आशिष दो ये तरल गीत-शिशु विचरें अजर-अजय से।[2]

'रसवन्ती' कविता में यह शब्द दिनकर की काव्य-प्रेरणा के प्रतीक रूप मे प्रयुक्त हुआ है जिसमें कोमल, आर्द्र तथा ओज-प्रखर तत्वों के आरोह-अवरोह और उत्थान-पतन का विवेचन किया गया है। कभी उन्होंने कोकिल से माधवी कुंजों का मधु राग सीखा और कभी बाड़व की दाहक अग्नि अज्ञात ही उनके कण्ठ में आकर बैठ गई; कभी प्रकृति के सुकुमार उपकरण उनके हीरे से कठोर दिल को चीर गए और कभी अतीत के खण्डहर में बैठ कर वे विकल मानवता के कल्याण का मार्ग ढूंढ़ते रहे। दलित देशों का हाहाकार और विज्ञान की आग में जलता हुआ मानव भी उनकी कविता का विषय बना, इस प्रकार व्यष्टि और

१. चक्रवाल—भूमिका, पृष्ठ ३३
२. रसवन्ती, पृष्ठ ४—दिनकर

समष्टि, बिन्दु और सिन्धु दोनों को ही समेट कर उनकी रसवन्ती आगे बढ़ी। कभी ऐसे भी क्षण आए जब सिन्धु की विशालता विलीन हो गई और बिन्दु की कोमल स्निग्ध गहराइयों में ही उसने अवगाहन किया। वैयक्तिक सुख-दुःख, मधुमास का पराग, यौवनकाल की उष्णता, प्रेम की शीतलता, और रूप की चकाचौंध में कुछ दिनों के लिए उनकी रसवन्ती लजीली, शर्मीली कोमलांगी तन्वंगी ही रह गई, 'रसवन्ती' में उनकी कला-चेतना का यही मधुर कोमल रूप प्रधान रूप से व्यक्त हुआ है।

'रसवन्ती' में संकलित रचनाओं के प्रतिपाद्य के तीन मुख्य रूप माने जा सकते हैं—

१. शृङ्गार-चेतना।
२. नारी-भावना।
३. आत्माभिव्यक्ति प्रेरित रागमूलक और विचारमूलक चेतना।

शृंगार-चेतना

'रेणुका' में व्यक्त विभिन्न सूत्रों का विवेचन करते हुए दिनकर की शृङ्गार-चेतना के प्रारम्भिक रूप का परिचय पहले दिया जा चुका है परन्तु उसका सम्यक् और स्पष्ट रूप रसवन्ती में आकर ही प्रस्फुटित हुआ है। दिनकर की समष्टि-चेतना के काव्य के दो सोपानों की भांति ही उनकी शृङ्गार-चेतना के भी दो रूप माने जा सकते हैं (१) परम्परागत रागमूलक शृङ्गार-चेतना (२) दर्शन तथा मनोविज्ञान पर आधृत विचार-मूलक शृङ्गार-चेतना।

प्रथम वर्ग की शृङ्गार-भावना का विश्लेषण करते हुए पहला प्रश्न मस्तिष्क में यह आता है कि उसकी मूल प्रेरणा उनके काल की उस वैयक्तिक काव्य-परम्परा को माना जाय जिसके प्रतिनिधि कवि बच्चन हैं, अथवा रसवन्ती का शृङ्गार उससे भिन्न है? और उसका स्पष्ट उत्तर यह है कि रसवन्ती की रचनाओं को समसामयिक वैयक्तिक काव्यधारा के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। वैयक्तिक कविता की अपनी अलग विशेषतायें हैं। "इस कविता का विषय आज के समाज की व्यक्तिगत समस्यायें हैं जो मूलतः काम और अर्थ के चारों ओर केन्द्रित हैं। काम के दो रूप हैं: एक रसिकता और दूसरा प्रेम। सामान्य तल पर काम रसिकता है और वैयक्तिक तल पर प्रेम।"[1] रसवन्ती के शृंगार को न रसिकता माना जा सकता है और न उसमें प्रेम का वैयक्तिक दृष्टिकोण प्रधान है। इस शृंगार को तो छायावाद के अतीन्द्रिय शृंगार और

१. आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां, पृष्ठ ६७—डा० नगेन्द्र

वैयक्तिक कविता की रूमानी स्वच्छन्दता के बीच की एक कड़ी ही माना जा सकता है। रसवन्ती के शृंगार में उपभोग और विस्मय दोनों ही है तथा उसकी अभिव्यक्ति मे मनोमयता और मांसलता दोनों के ही तत्व मिलते है। रहस्यमयी चेतना और शरीर की भूख दोनों के बीच की स्थिति रसवन्ती के शृंगार की है। न नैतिक आतंक से सहम कर नारी के प्रति उनका आकर्षण कौतूहल मे परिणत हुआ है और न वैयक्तिक कविता की भाति उनके स्वरों में कुण्ठा-जन्य विषाद है। प्रेम के लौकिक रूप की स्वीकृति जिस सामान्य स्तर पर की गई है वह केवल रसिकता न होते हुए भी पूर्णतः वैयक्तिक नहीं है। व्यक्ति-विशेष के प्रति राग की अभिव्यक्ति रसवन्ती मे बहुत कम है। इन गीतों की रचना असन्तोष, विद्रोह अथवा अनास्था के फलस्वरूप नही उनकी समष्टि-चेतना के विद्रोह, आक्रोश के तनावों को शिथिल करने के उद्देश्य से हुई है। जिस प्रकार बच्चन, नरेन्द्र और अंचल इत्यादि कवियों ने नैतिक मर्यादाओ और जीर्ण आदर्शों को खुले शब्दों में चुनौती दी और प्रवृत्तिमूलक सहज सत्य की प्रतिष्ठा की वैसा प्रयास रसवन्ती की रचनाओं में नही मिलता। सामाजिक नीति-पाश को तोड़ कर स्वच्छन्दता की ओर बढ़ने और उसकी खुली घोषणा करने का साहस दिनकर में नही मिलता—रसवन्ती का शृंगार तो पर्वत के हृदय में बहती हुई उस स्निग्ध जलधारा के समान है, जो उसके उपलमय व्यक्तित्व और वातावरण को आर्द्र रख कर उसको सरस बनाये रखती है।

रसवन्ती की मुख्य शृंगारिक रचनायें हैं—गीत-अगीत, प्रीति, दाह की कोयल, अगरु धूम, रास की मुरली, पावस गीत, सावन मे, प्रतीक्षा और शेष गान—इन सभी कविताओं में उनकी कोमल भावनाओं को अभिव्यक्ति मिली है। गीत-अगीत कविता भाव और अभिव्यक्ति दोनों ही दृष्टि से सफल रचना है। व्यक्त-प्रेम और अव्यक्त-प्रेम दोनों का अपना-अपना आकर्षण है। निर्झरिणी विरह के गीत गाती हुई, उपलों से अपने मन की व्यथा कहती आगे बढ़ती जाती है शायद उसके हृदय का भार हल्का हो जाये, परन्तु तट पर खड़ा हुआ गुलाब अपनी प्रणय-कहानी को मन में ही समेटे मूक सोचता है—काश मैं भी अपने पतझर के सपनों की व्यथा जग को सुना पाता—दोनों में कौन सुन्दर है—तटिनी की अभिव्यक्ति अथवा पाटल का मौन। बसन्ती किरणों के स्पर्श से मुग्ध शुक की चहक सुन्दर है अथवा वन में गूजते हुए अपने शुक के कलरव पर पंख फुलाती हुई मंत्रमुग्ध शुकी का उल्लास—सांझ के समय आल्हा गाते हुए प्रेमी का संगीत सुन्दर है अथवा उसके स्वर से आकर्षित नीम की छाया में खड़ी चोरी-चोरी उसकी प्रेमिका के अन्तर की आकांक्षा ?—

'हुई न क्यों मै कड़ी गीत की
विधना', यों मन में गुनती है
वह गाता, पर किसी वेग में
फूल रहा इसका अन्तर है।
गीत, अगीत, कौन सुन्दर है।[1]

'प्रीति' कविता मे गम्भीर, अव्यक्त, मधुर मंगल अन्तर्दाह की अभिव्यक्ति हुई है। प्रेम का स्तर सामान्य होते हुए भी उसमें केवल रसिकता नहीं है, ऐन्द्रिय होते हुए भी वह स्थूल नहीं है, छायावाद की अतीन्द्रिय और वैयक्तिक कविता की निर्बन्ध प्रेम-भावना के बीच में कहीं इसको स्थान दिया जा सकता है। प्रीति सांझ के अरुण घन के समान, कनक-गोधूलि मना कर बिखर जाने वाली वस्तु नहीं है, वह नील गम्भीर, गगन के समान है धरणी के साथ जिसका शाश्वत मूक प्रेम अक्षय और अपार है। प्रीति पूर्ण चन्द्र नहीं है जिसकी विभा अनुदिन क्षीण पड़ती जाती है, वह तो द्वितीया के चन्द्र की कला के समान है जिसकी शीत स्निग्ध रश्मिया दिन पर दिन बढ़ती ही जाती है—प्रेम असीम है जन्म-जन्मान्तरों की सीमा पार कर अव्यक्त प्रेम ही सत्य है—विरहिणी की पीड़ा सुलगती हुई आग के समान है—सम्पूर्ण कविता में व्यक्त शृंगार आरम्भ से लेकर अन्त तक एक कोमल मधुर सात्विक भाव से युक्त है—द्विवेदीयुगीन नैतिक प्रतिबन्धों के प्रति विद्रोह और विरोध का इसमें स्पर्श भी नहीं है, कोमल भावनाओं के अस्तित्व की घोषणा करने का साहस भी कवि को बड़ी मुश्किल से हुआ है—यह प्रेम—हृदय का अधिक, शरीर का कम है—उसमें भावनाओं की आर्द्रता और स्निग्धता अधिक है, ऐन्द्रियता बहुत कम।

'दाह की कोयल' कविता मे वियोग के उद्दीपन का एक नया रूप मिलता है। जीवन के विषम कठोर संघर्षो के रेगिस्तान मे कभी-कभी अनायास ही अतीत की कोमल मधुर स्मृतियों की कुहुक से भावनायें उद्दीप्त हो जाती है। स्मृति संचारियों द्वारा उद्दीप्त भावनाओं की आर्द्र स्निग्धता का, सार्थक उपमान संकलन द्वारा जो चित्रण किया गया है, उसमें भावनाओं की सात्विकता के साथ ही सात्विक अनुभावों का भी चित्रण हुआ है। दाह के आकाश में पंख खोल कर स्मृति की कोयल बोल उठी है और कवि का रोम-रोम मधुर स्मृतियों और पुलकों से भर उठा है—

मुंद गई पलकें, खुले जब कान,
सज गया हरियालियों का ध्यान;

---

१. रसवन्ती, पृष्ठ ६—दिनकर

मुंद गई पलकें कि जागी पीर,
पीर, बिछुड़ी चीज़ की तस्वीर।[1]

अतीत की ये स्मृतियां वर्तमान के तपते हुए मरु-पन्थ में छाया प्रदान करती है। बालुओं के दाह में इस गुमरते दर्द की अनुभूति सुधा की धार, सुकुमार चांदनी, और जुही के फूल के समान है। कवि के पास केवल आग है वर्तमान के वैषम्यों की लू में उसे यही मन्दाकिनी की धार, और हरी सुकुमार आशा उसे शीतलता प्रदान करती है।

अगरु धूम कविता में भी प्रेम भावनात्मक स्तर पर है। भावनाओं के अतिरेक का मधुर सुरभित अन्धकार इन पंक्तियों में साकार है—

मैं अमित युगों से हेर रहा,
देखी न कभी यह विमल कान्ति,
ऐसी स्व-पूर्ण भू बंधी तरी
ऐसी अमेय निर्मोघ शान्ति।
नभ सदृश चतुर्दिक तुम्हें घेर
छा रहे प्रेम प्रभु निराकार।
मैं समझ न पाई गूढ़ भेद,
छा गया अगरु का अन्धकार।[2]

प्रेमी और प्रेमिका के बीच की वह स्थिति जहां स्थूल और साकार मिट जाता है, भावनाओं का पागलपन ही शेष रह जाता है, इस कविता में वर्णित है, परन्तु यहां भी उनके शृंगार में पुष्प, अक्षत, अर्चना-दीप, धूम्र-जाल, सुमन-हार ही है आकुल आकांक्षायें और उष्ण अनुभूतियां नहीं हैं। यह प्रेम शृंगार की अपेक्षा भक्ति के अधिक निकट है। यह पूजा-अर्चना का विधान सजीव अनुभूतियों के स्पर्श के कारण उपहासप्रद होने से बच जाता है। प्रेमी द्वारा समर्पित हृदय के मधुर प्यार को, प्रेमिका मन में, पुतली में सजा कर रखती है; प्रेमी की अर्चना न स्वीकार करने का उसके मन में दुख और पश्चाताप है—अन्त में प्रवृत्तियों की विजय होती है परन्तु जिन प्रवृत्तियों की स्थूलता और उष्णता की अभिव्यक्ति के साहस के अभाव में छायावादी कवियों ने सांकेतिकता और प्रतीकात्मकता का सहारा लिया था, दिनकर ने पूजा, उपासना और आराधना का सहारा लिया है जिससे चित्रण में अस्वाभाविकता आ गयी है। पार्थिव अनुभूतियों का यह अपार्थिव रूप अविश्वसनीय और अस्वाभाविक हो उठा है। विरह

१. रसवन्ती, पृष्ठ २२
२. वही, पृष्ठ ३२

और मिलन की जगह साधना और सिद्धि, प्रेमी और प्रेमिका के लिए देवी और साधक शब्दों के प्रयोग से प्रेम-सहज पार्थिव प्रवृत्तियों ने अपार्थिव आलम्बन के प्रति उन्नयनित कामनाओं का रूप धारण कर लिया है जो सर्वथा स्वाभाविक नहीं जान पड़ता। इसी प्रकार प्रेम के अन्तिम सोपान में कामनाओं की अभि-व्यक्ति के स्थान पर कर्तव्यनिष्ठा और समर्पित त्याग भावना इत्यादि में पूर्ण नारीत्व के विश्लेषण से भी कविता में अनावश्यक ही आदर्शों का आरोप हो गया है, उनका आलम्बन न छायावादी कविता का 'अव्यक्त सत्ता' रह गया है और न वैयक्तिक कविता का आश्रय विद्रोही युवक। निम्नलिखित पंक्तियां प्रेमिका के भावनापूर्ण विवश आत्मसमर्पण की व्यंजक नहीं जान पड़ती, प्रत्युत ऐसा मालूम पड़ता है जैसे कोई नवपरिणीता जीवन भर कर्तव्य निभाने का व्रत ले रही हो—

मां की ममता, तरुणी का व्रत,
भगिनी का लेकर मधुर प्यार,
आरती त्रिवर्तिक सजा करूंगी
भिन्न अगरु का अन्धकार।[1]

इस कविता में व्यक्त संयम, नियम और आदर्शों के साथ पूर्ण लय की स्थिति की कल्पना, उस युवक की कल्पना है जिसमें अपने समसामयिक अन्य कवियों की भांति सामाजिक बंधनों और नैतिक आदर्शों को तोड़ने की प्रेरणा और इच्छा नहीं है—जो कोमल भावनाओं को सामाजिक परिवेश और आदर्शों के घेरे में ही देख सकता है। एक वाक्य में कहा जाए तो रसवन्ती में उन्मुक्त प्रेम की साहसपूर्ण, निर्भय और आत्मविश्वासपूर्ण अभिव्यक्ति नहीं है।

'रास की मुरली' में कृष्ण-लीला के रास-प्रसंग को माध्यम बना कर शृंगार की विभिन्न मानसिक स्थितियों का चित्रण किया गया है। इस कविता में भी कवि की दृष्टि में शृंगार का सामान्य स्तर है। रास की मुरली, काम की अदम्य प्रेरणा और आकर्षण की प्रतीक है। शृंगारपरक उद्दीपक वातावरण और प्रकृति-चित्रण के साथ कविता का आरम्भ होता है। कोकिल की तान और चांदनी की मादकता शृंगार के परम्परागत उद्दीपन हैं, परन्तु यहां उनका प्रयोग केवल परम्परा-निर्वाह के लिए नहीं हुआ है—ये सभी उपकरण भावों के साथ सन्निविष्ट होकर प्रयुक्त हुए हैं। वकुल-वन में गूंजती हुई कोकिल की तान, और

---

१. रसवंती, पृष्ठ ३६—दिनकर

चांदनी में उमड़ती हुई मद की मधुर उफान का संकेत वातावरण को मिलन के प्रतीक 'रास' के उपयुक्त बनाता है। प्रकृति पर शृंगारिक कार्य-कलापों के आरोपण द्वारा वातावरण को और भी उष्ण और तप्त बना दिया गया है—

गिरा चाहता भूमि पर इन्दु
शिथिल वसना रजनी के संग ;
सिहरते पग सकता न सम्हाल
कुसुम कलियों पर स्वयं अनंग।[1]

कविता के विभिन्न खण्डों में विभिन्न काम-स्थितियों का चित्रण हुआ है। प्रथम खण्ड में काम के आकर्षण से अभिभूत विभोरता का चित्र है—

ठगी सी रुकी नयन के पास
लिये अंजन उंगली सुकुमार,
अचानक लगे नाचने मर्म
रास की मुरली उठी पुकार।[2]

द्वितीय खण्ड में प्रतीक्षा की अधीरता और उद्विग्नता है परन्तु उपालम्भ और दैन्य का स्वर प्रधान होने के कारण उसमें अभीष्ट प्रभावोत्पादकता नहीं आने पाई है। तीसरा खण्ड प्रभाव की दृष्टि से सार्थक है। तरंगित यौवन के ज्वार की तीव्रता, अस्तव्यस्तता, आकुलता और व्याकुलता, सुन्दरता के साथ व्यक्त हुई हैं—मानसिक ग्रन्थियों के बन्ध ढीले करके कामनायें खुल कर व्यक्त होना चाहती हैं, मुरली के स्वर का प्रभाव उसे पागल बना देता है। साज-शृंगार के उपकरणों में वह अस्तव्यस्त हो उठती है। चतुर्थ खण्ड में कवि फिर पूर्व परिचित धरातल पर आ कर प्रेम-भावनाओं के सात्विक और सत्य रूप का विश्लेषण करने लगता है। पूर्ण समर्पण का नाम प्रेम है—मिलन-पर्व नग्न उल्लासों और भावों का त्यौहार है,···कुंकुम, अंजन और अधरों के रंग आज निष्फल हैं; आज तो हृदय में संचित अनुराग, नयनों में सज्जित मादकता में सराबोर होकर ही सुहाग सफल किया जा सकता है, बाँहों की मृदुल मृणालों का हार तथा भावनाओं की मल्लिका के फूल बिखेर कर ही प्रेम-देवता की उपासना की जा सकती है। अन्तिम खण्ड में फिर पूर्ण समर्पण और तादात्म्य की स्थिति का भावात्मक चित्रण हुआ है—महालय के मंगलकाल में लज्जा का व्यवधान नहीं चल सकता, यदि द्विधा और संशय में ही मोहन का मादक रस समाप्त हो गया तो आकुल प्राणों की आकांक्षा अतृप्त रह जायेगी, यौवन का मधुमास

---
१. रसवंती, पृष्ठ ३७—दिनकर
२. रसवंती, पृष्ठ ३७—दिनकर

असफल हो जायेगा। राग का आकर्षण शाश्वत है, सनातन है, असीम और ससीम. पुरुष और नारी, आत्मा और परमात्मा—के सम्बन्ध इसी राग के विविध रूप हैं—चरम मिलन के क्षणों मे दोनों पक्षों का पार्थक्य मिट जाता है—बांसुरी और कंकण एक हो जाते हैं—काम के इसी सनातन अविच्छिन्न प्रवाह में अचेतन विश्व लीन और लिप्त होकर बहा चला जा रहा है—

सनातन महानन्द में आज
बांसुरी-कंकन एकाकार,
बहा जा रहा अचेतन विश्व,
रास की मुरली रही पुकार।[1]

सनातन पुरुष और सनातन नारी का जो समस्या-मूलक रूप 'उर्वशी' के प्रतिपाद्य के रूप में ग्रहण किया गया है—'रास की मुरली' में व्यक्त इन भावनाओं को उसका भावनात्मक और प्रारम्भिक रूप माना जा सकता है।

गीत शीर्षक कविता में कुछ वैयक्तिक तत्व अवश्य आ गया है, परन्तु उसमें प्रेम की स्वीकृति नहीं निषेध की व्यंजना हुई—

लहरें अपनापन खो न सकीं,
पायल का शिंजन ढो न सकीं,
युग चरण घेर कर रो न सकीं,
जीवन की अयि रूपसी प्रथम!
तू पहली सुरा पिला न सकी।[2]

'अन्तर्वासिनी' कविता में भी प्राणों के सर में अर्धस्फुटित भावनाओं के कमल की प्रेरक रूप कल्पना से कवि प्रश्न पूछता है—

भीगने नहीं देती पद की
अरुणिमा सुनील लहर में ही?
तुम कौन प्राण के सर में?[3]

यहां भी उसकी शृङ्गार-चेतना रूपानुभूति के आगे नहीं बढ़ी है। 'अगरु के अन्धकार' के समान ही उनके मन पर छाई हुई सुनहरी, इन्द्रधनुषी कनकाभ-कल्पनाओं का रूप भी वायवी और मानसिक धरातल पर ही है परन्तु शृङ्गार की अनुभूतियों में उष्णता के हल्के स्पर्श से यह चित्रण बड़ा स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक हो गया है—

---

१. रसवन्ती, पृष्ठ ४१
२. वही, पृष्ठ ६१
३. वही, पृष्ठ ६२

जब से चितवन ने फेरा
मन पर सोने का पानी,
मधु वेग ध्वनित नस-नस में,
सपने रंग रही जवानी ।[1]

'पावस गीत' और 'सावन में' कविताओं की शृङ्गार-चेतना में परम्परागत तत्वों का समावेश हुआ है, परन्तु केवल उसके यान्त्रिक निर्वाह पर ही उनकी दृष्टि टिककर नहीं रह गई है। वर्षा ऋतु को परम्परा से विप्रलम्भ शृङ्गार के उद्दीपन रूप में स्वीकार किया जाता रहा है। पावस गीत में यद्यपि प्रकृति को आलम्बन रूप में ग्रहण किया गया है, परन्तु कहीं-कहीं कवि ने अपने हृदय की भावनाओं के संस्पर्श से उसे उद्दीपन रूप दे दिया है—

फूट रहे बुलबुले या कि मेरे दिल के छाले सजनी ?

* * *

बुझती नहीं जलन अन्तर की, बरसे दृग बरसे जलधार ;
मैंने भी क्या हाय, हृदय में अंगारे पाले सजनी ! [2]

'सावन में' कविता में आंसू, विरह, और वेदना की बाढ़ आ गई है। उन्होंने भी करीब-करीब प्रसाद की तरह ही छिल-छिल कर छाले फोड़े हैं और साथ ही उनमें शृङ्गार की खुली अभिव्यक्ति का भी साहस आ गया है—

हां, सच है, छाया सुरूर तो मोह और ममता कैसी ?
मरना हो तो पिये प्रेम-रस, जिये अगर बाउर हौले ।[3]

'भ्रमरी' कविता में भी आह, उच्छ्वास, उलाहने और शिकवे प्रधान हो गये है—

किसे कहूं ? धर धीर सुनेगा
दीवाने की कौन व्यथा ?
मेरी कड़ियां कसी हुईं,
बाकी सबके बन्धन ढीले ।[4]

प्रतीक्षा और शेषगान में उनकी शृङ्गार-चेतना का रूप स्वस्थ और प्रकृत हो गया है। एक ओर उनके भावों की स्निग्धता ने कृत्रिम आध्यात्मिकता का

---

१. रसवन्ती, पृष्ठ ६३
२. वही, पृष्ठ ६४
३. वही, पृ० ६४
४. वही, पृ० ६६

बाना उतार दिया है, और दूसरी ओर उनके आंसू उच्छ्‌वास और आहें संयत हो गई हैं।

इस प्रकार 'रसवन्ती' की शृङ्गार-भावना में मन की कोमल मधुर वृत्तियों को ही अधिक मूल्य दिया गया है। शारीरिकता की स्वीकृति उसमें बहुत कम है। इसीलिए उसमें तीव्रता और उत्कटता न होकर माधुर्य और सात्विकता है, परन्तु छायावादी शृङ्गार-चेतना के समान उसमें न कल्पना के रूमानी स्पर्श हैं और न परिष्कृत लावण्य। सुकुमारता, सरसता और कोमलता उसके प्रधान गुण हैं परन्तु रस और कान्ति की दृष्टि से उसका अधिक महत्व नही है।

रसवन्ती में व्यक्त नारी-भावना

'रेणुका' की राजा-रानी कविता में दिनकर ने नारी को पुरुष की भावनात्मक प्रेरणा के रूप में ही देखा था, तथा उसके जीवन की सार्थकता माना था। खुले शब्दों में कहा जाय तो उनका दृष्टिकोण पूर्ण रूप से परम्परावादी था, और 'यशोधरा' तथा 'उर्मिला' के आंसुओं को ही उन्होंने भी नारी के मूल्यांकन की कसौटी रूप में स्वीकार किया था। रसवन्ती में भी नारी के प्रति उनकी दृष्टि और प्रतिक्रियायें अधिकतर परम्परावादी ही रही हैं। नारी शीर्षक से उसमें दो रचनायें संगृहीत हैं। प्रथम कविता में उनकी कल्पनायें छायावादी अतीन्द्रियता के निकट हैं जहां उसके व्यक्तित्व में नैसर्गिक सौन्दर्य और अलौकिक व्यक्तित्व का आरोपण किया गया है। नारी को उन्होंने विधि की अम्लान कल्पना, ज्योति की कली, और एक दिव्य विभा के रूप में देखा है। कोमलता, दिव्यता और कान्ति जिसकी मुख्य विशेषताये है। ज्ञानी, कर्मी, कलाकार सभी को वह प्रेरणा देती है। उसके सौन्दर्य के प्रभाव से निर्जीव स्वप्न बोलने लगते हैं, उसकी चितवन की नैसर्गिकता और अलौकिक प्रभाव से हिंस्र मानव के हाथ से धनुप और बाण शिथिल होकर गिर जाते हैं, सिंह और गयन्द के समान शक्तिशाली मनुष्य भी नारी के रूप-तंतु में बिंध कर विवश और असहाय हो जाते हैं। कर्मी उसकी प्रेरणा से शिव-धनुष तोड़ते है, मत्स्यभेदन करते है, प्रेमी उसके लिए पहाड़ खोद डालते हैं, कवि उसकी अर्चना के लिए चांद को जमीन पर उतार लाता है। उसके संकेत पर शूर 'कनक मृग' के पीछे दौड़ पड़ते हैं—और उसकी एक मुस्कान पर ऋषियों की समस्त सिद्धियां लुट जाती हैं। कविता के उत्तरार्ध में कवि की दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक लौकिक और ऐन्द्रिय हो गई है। नारी-सौन्दर्य को रेखाओं में बांधने के लिए दिनकर ने बहुत बार उसे सद्यःस्नाता के रूप में देखा है शायद विद्यापति से प्राप्त संस्कार इस प्रकार की रचनाओं में स्वतः प्रकट हो जाते हैं—

कहीं यमुना से कर तुम स्नान,
पुलिन पर खड़ी हुई कच खोल,
सिक्त कुन्तल से झरते देवि!
पिये हमने सीकर अनमोल।[1]

पुरुष शैशव में उसके हृदय के रसपीयूष से अपनी क्षुधा और यौवन में उसका मधु मकरन्द पान कर अपनी प्यास बुझाता है, पर उसके प्राणों की तृष्णा सदैव अतृप्त ही रहती है, जन्मजन्मान्तर से पुरुष उसके कोमल स्निग्ध रूप पर भूला रहा है परन्तु उसकी माया का मूल रहस्य समझने में असमर्थ रहा है। नारी वह अगुण और अमेय कल्पना है जिसे छू सकने में पुरुष असमर्थ है, अन्तर की वह गूढ़ भावना है जो युग-युग से अकथ और अजेय रही है।

'पुरुष प्रिया' कविता में नारी के अपरूप आदर्श और प्रेरक रूप को अभिव्यक्ति मिली है। यहां भी उसमें सुन्दर की प्रतिष्ठा ही कवि का उद्देश्य रहा है। पुरुष ओज और पौरुष है जो तरुण भानु के समान पृथ्वी पर उतरता है जिसके शीश पर बह्नि-किरीट और हाथों में आलोक का धनुष है, जिसके बाणों से चिनगारियां फूटती हैं। उसकी शक्ति से अम्बर निःशब्द और धरणी अवाक् रह जाती है, पृथ्वी, सागर और आकाश उसके इंगित पर नाचते हैं। पुरुष का अहंकार किसी के सामने झुकना नहीं जानता। परन्तु, नारी-सौन्दर्य और उसके प्रणय की कोमल भावना की चांदनी के सामने अहंकार का अनल लज्जित हो जाता है, शिरीष कुसुम के तन्तुओं से भी अधिक कोमल भावनायें अहंकार के शैल को झुका देती हैं, नारी के रूप की किरण पुरुष को अपने ऊसर का ज्ञान कराती हैं, और उसका आकर्षण उसके जीवन के अभावों और परिसीमाओं का पूरक बन जाता है। इसी प्रकार नारी की भावनायें भी पुरुष पर अर्पित होकर सार्थक होती हैं।

नर और नारी के सनातन सम्बन्धों का सूत्र भी इसी 'पुरुष-प्रिया' कविता में प्रथम बार ग्रहण किया गया है। वायवी, मानसिक और अतीन्द्रिय धरातल पर ही स्थित रहने वाली शृंगार-भावना में समस्याओं के लिए अवकाश नहीं रहता परन्तु जब मन की कल्पना उतर कर भूमि पर खड़ी हो जाती है, पुरुष के नयन में बलि का स्थान विस्मय-जन्य कौतूहल ले लेता है, कौतुक, कामना में परिवर्तित होता है और सम्पूर्ण सृष्टि तथा प्रकृति ही उसे अनुरागरंजित जान पड़ने लगती है। शिखरों पर उतरती हुई ऊषा, अतल मौन सागर पर झुकती हुई संध्या में भी उसे अपनी प्रणयानुभूति की प्रथम अभिव्यक्ति की अनुगूंज

१. रसवन्ती, पृष्ठ २९

सुनाई पड़ती है। काम की अज्ञात प्रेरणा से हृदय द्रवित होकर आंसू बन जाता है, वायवी स्तर पर प्राणों का यह अकलंक सम्बोधन और कोई समझ ले, पर पुरुष की आकांक्षायें और अहं किसी सौमित्र रेखा और प्रतिबन्ध को नहीं मान सकता। पुरुष, जिसका स्वभाव ही है नवीनता की खोज करना, अलभ्य की लाभ-प्राप्ति, और रहस्यों को अनावृत करना, अपरूप और वायवी सीमाओं की घुटन में नहीं रह सकता। मार्ग में आये हुए पर्वतों को पार कर अपार व्याधाओं के सागर का संतरण करके बियाबान जंगलों को पार करके भी वह अपनी राह बनाने को आगे बढ़ता है। नारी के प्रति जिज्ञासा कामना में परिवर्तित होकर उसे विजय-प्राप्ति के भाव की ओर अग्रसर करती है, ऐन्द्रिय लोलुपता उसे जिस ओर ले जाती है उस मार्ग पर भी उसे शान्ति और सुख नहीं मिलता, फूल के सौरभ को न पाने पर उसकी पंखुड़ियों को ही तोड़-मरोड़ देने से क्या सुख मिल सकता है? केवल रूप-भोग ही मन के चिरन्तन दाह का समाधान नहीं बन सकता, चांदनी को पीकर अथवा चांद का रस निचोड़ कर उसकी ज्वलित कामनाओं की अग्नि बढ़ती ही जाती है कम नहीं होती। प्रेम के वायवी और ऐन्द्रिय उलझनों के मोह-जाल में पुरुष सारी आयु गंवा देता है, परन्तु नारी विषयक केवल एक सत्य उसके हाथ आता है जिससे वह बच नहीं सकता—'तुम सा न कहीं सुन्दर कोई।' युग-युग से पुरुष व्यग्र और चंचल होकर इस 'सस्मित, मौन अचल' नारी के इर्द-गिर्द तीव्र गति से घूम रहा है, परन्तु युग-युग से एक शाश्वत सत्य चला आ रहा है—पुरुष नारी के माधुर्य और सौन्दर्य से अपने को मुक्त नहीं कर सकता, और नारी की भी उसके बिना कहीं गति नहीं है। श्रान्त पुरुष का सहारा है नारी का प्रेम, और नारी की सहज कोमल-मधुर वृत्तियों का एकमात्र आश्रय है पुरुष की शक्ति की छांह।

रसवन्ती की 'नारी' नामक दूसरी कविता में दिनकर की नारी-भावना सामाजिक परिपार्श्व में व्यक्त हुई है। उसमें नारी के तीन पक्षों का उद्घाटन हुआ है—

(१) आधुनिका (२) रक्षणीया (३) माता

आधुनिका के प्रति दिनकर के पास केवल भर्त्सना है। परिवार के सुव्यवस्थित और सुदृढ़ वातावरण से वंचित गार्हस्थ की एकरसता और उत्तरदायित्व से ऊबी हुई और भयभीत आत्मकेन्द्रित, अहंवादिनी आधुनिका आज सचमुच ही अपने और समाज दोनों के लिए एक समस्या बन गई है। मिथ्या सुख की खोज में उसे कहां-कहां नहीं भटकना पड़ता, महत्वाकांक्षाओं से प्रेरित वह कहां-कहां टकरा कर फिर टूट जाती है। पत्नीत्व और मातृत्व की गरिमा

से वंचित त्याग और समर्पण के सुख से अनभिज्ञ, पुरुष के साथ स्पर्धा और प्रतियोगिता की चेष्टा में वह किसी की भी सहानुभूति की पात्र नहीं रह गई है। दिनकर की दृष्टि में भी आधुनिका के प्रति घृणा और भर्त्सना ही है और कुछ नही, परन्तु उसमें यथार्थ का अभाव है ऐसा नही कहा जा सकता। आज की नारी सब प्रकार के दायित्वों से अलग अपने आपको ही सबसे महत्वपूर्ण मान बैठी है। अपनी रूप-सज्जा के प्रति जागरूकता उसका प्रधान कर्तव्य-कर्म बन गया है। रूप के उपयोग के द्वारा महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति उसका सहज कार्य बन गया है, दिनकर ने इस कविता के प्रथम अंश में उसकी आत्म-संकीर्ण दृष्टि, उसके विकृत जीवन-दर्शन और हल्केपन की हँसी उड़ाई है। आधुनिका की उपलब्धियों की ओर उनका ध्यान नहीं गया है। कवि के हाथ में आकर कोई भी वस्तु सामान्य बन जाती है, दिनकर के हाथ में आधुनिका किसी व्यंग्य चित्र का आलम्बन मात्र बन कर रह गई है, उसके भौतिक संघर्ष, उसके सामाजिक परिपार्श्व और उसके हृदय के ऊहापोहों पर कवि ने ध्यान देने की आवश्यकता नहीं समझी है, वह तो आधुनिका के दोषों को पूर्वाग्रहों के चश्मे से ही देख सका है—

निरावरण, उद्दाम किरण सी खिलती और मचलती,
आज दीखती नहीं समाती हुई आप अपने में।
अपना चित्र विविध रंगों में आप सृजन करती हो,
और जांचती हो फिर उसको स्वयं पुरुष के दृग से।[1]

उनकी दृष्टि में आधुनिका केवल लालसा की एक लहर है जो पुरुष के मन को रंग देती है, वातावरण में मादक सौरभ भर देती है, परन्तु यह मादक सौरभ, यह राग-रंग की प्रवृत्ति उसे नारी-सुलभ सहजताओं से वंचित किये दे रही है, पंख-रंगी तितली को उस प्रमद वन में स्थान नहीं मिल सकता जहां तितलियां पंख नही रंगती, जिनके पंख में अकृत्रिम सहज सौन्दर्य रहता है, जहां 'गुलाब' का सौरभ उसके अन्तर में निहित रहता है। उसे बाह्य कृत्रिम प्रसाधनों को सुरभित करने की आवश्यकता नही होती, जहां रूप और यौवन प्रेम-सम्बन्धों के आधार नही होते बल्कि जहां मन का बन्धन जीवन भर एक दूसरे से बंधे रहने की प्रेरणा देता है।

वे, आधुनिका से निर्भ्रान्ति और स्पष्ट प्रश्न पूछते है : "अपने रूप और यौवन से कितने व्यक्तियों का मन बांधोगी ? तुम्हारे प्रेम की चोट जितनी हल्की है, उससे बिंधने वालों की पीड़ा उससे भी हल्की है। किसी पुरुष के हृदय पर

१. रसवन्ती, पृ० ४६—दिनकर

गहरी रेखायें खीचने में तुम असमर्थ रहोगी, इस प्रकार के हल्के-फुल्के प्रेम-व्यापार जल की रेखाओं के समान आते और चले जाते है, यह रोमांच केवल शरीर को प्रभावित कर सकता है हृदय को नही । पुरुष वह गम्भीरता चाहता है, जिससे तुम पूर्णतः अपरिचित हो । इस प्रकार के कार्य-कलापों से तुम्हारी मर्यादा और गौरव का नाश हो रहा है और तुम नारीत्व के सहज गुणों से वंचित होती जा रही हो ।"

इसी कविता के दूसरे खण्ड में भारतीय नारी के उस रक्षणीया और अबला रूप का चित्रण हुआ है, जिसके कारण उसे परिगणित और दलित जातियों के अन्तर्गत रखने की बात की जाती रही है । जो युग के प्रकाश से ही नहीं दिन की खुली धूप से भी वंचित है, जिसका मनोबल क्षीण है, जिसको अपनी शक्ति का रंचमात्र भी विश्वास नही है, जो लोलुपता भरी दृष्टियों के बाण से अपने को भयभीत हरिणी की तरह बचाती है, उसके पास केवल एक वस्तु शेष है और वह है उसका शील । वही उसका सर्वस्व है तथा उसी की रक्षा करना उसका ध्येय है । आधुनिका को दिनकर ने नारीत्व के गुणों की याद दिलाई थी, उसके खण्डित होते हुए शील की ओर उसका ध्यान आकर्षित किया था, परन्तु ग्रामीणा में उन्होंने उसी शक्ति को जगाने की कामना की है जिससे वह अपनी रक्षा आप कर सके, जिस शक्ति के सामने उस पर लगे लोलुप-नेत्र अपने आप झुक जाएं—

जो करता है, अपना पौरुष, इज्जत उसे उढ़ा दूं ।
या कि जगा दूं उसके भीतर की उस लाल शिखा को
आंखों में जिसके बलने से दिशा कांप जाएगी ।
घोर ग्लानि से झुक जाएंगे नयन घूरने वाले,
झुक जाएंगी कलुष-ज्ञान से दबी ह्रीण ग्रीवाएं ।[1]

तीसरे चित्र में सद्यःमाता का चित्रण प्रस्तुत करते-करते कवि का मन मातृत्व की गरिमा में रंग गया है : मां बन कर नारी समष्टि का भार वहन करने वाली महत्वपूर्ण इकाई बन जाती है । उसकी सरलता और चपलता दायित्व-ज्ञान में बदल जाती है, वाणी में संयम, पदों में धीरता, और आखों में संकोच और शील-गौरव भर जाता है । मातृत्व-प्राप्ति के साथ ही नारी अपने जीवन को सार्थक समझने लगती है । क्रीड़ा, कौतुक और प्रणय से ऊपर भी कोई गम्भीर तत्व है यह रहस्य उसके सामने खुल जाता है । जीवन के जिस

१. रसवन्ती, पृष्ठ ४९—दिनकर

संगीत के माधुर्य में वह अब तक झूमती रही थी उसका अद्भुत अर्थ उसे मातृत्व के बाद स्पष्ट होता है। कल्पनाओं और भावनाओं के संसार के निकल कर वह यथार्थ की भूमि पर चरण टिकाती है, और समष्टि के प्रति अपने दायित्व को पहली बार समझती है। दिनकर की नारी-भावना में पत्नीत्व की अपेक्षा मातृत्व की गरिमा को अधिक महत्वपूर्ण स्थान मिला है। भारतीय मान्यता में नारी पति और पुत्र के माध्यम से ही समष्टि को अपना योग देती है। दिनकर ने रसवन्ती तक नारी के पत्नी रूप को अधिक मान्यता नही दी है परन्तु नारी का मातृत्व ही उसके जीवन की सार्थकता है यह घोषणा बार-बार की है। पत्नीत्व के त्याग और समर्पण की गरिमा तो आगे चल कर उर्वशी में औशीनरी और सुकन्या के चरित्र के माध्यम से व्यक्त हुई है। दिनकर यद्यपि मैथिली-शरण गुप्त की दूसरी पीढ़ी के कवि है परन्तु उनकी इन मान्यताओं मे अधिकतर गुप्त जी की मान्यताओं की ही आवृत्ति हुई है। उनके अनुसार, नारी जग के संघर्षों का सामना स्वयं नहीं करती प्रत्युत अपना सदेश बेटों के मुख से कहा करती है, पुरुष जीवन के संगर में अपने तेज और बल से विजय प्राप्त करता है, परन्तु मां के हृदय की आग उसके बेटे की तलवार में चमकती है—

> **नारी की पूर्णता पुत्र को स्वानुरूप करने में,**
> **करते है साकार पुत्र ही माता के सपने को**
> **बिना पुत्र नारी का सम्यक् रूप नहीं खुल पाता,**
> **जीवन में रमणी प्रवेश करती है माता बन कर।**[1]

यहां भी दिनकर आधुनिकाओं पर दंश करने से नहीं चूके है—

> **काश ! समझतीं जन्म निरोधातुर कृत्रिम बन्ध्याएं**
> **पुत्र कामना इच्छा है अपने को ही पाने की।**[2]

निष्कर्ष यह है कि 'रसवन्ती' की नारी-भावना में अधिकतर अंश परम्परा का है। दिनकर ने नारी की मानसिक शक्ति को ही अधिक महत्ता दी है और मातृत्व और पत्नीत्व में ही उसकी सार्थकता मानी है। आधुनिक परिवेश में रख कर उसे उन्होंने प्रायः नहीं देखा और जहां देखा है वहां उनकी दृष्टि में घृणा और भर्त्सना ही प्रधान है। नारी-भावना के ये ही सूत्र उर्वशी में चल कर पल्लवित हुए है जहा औशीनरी और सुकन्या के माध्यम से नारी और पत्नीत्व की गरिमा की स्थापना हुई है और 'उर्वशी' तथा अप्सराओं में आज की बौद्धिक नारी की भावनात्मक समस्याओं का उद्घाटन किया गया है।

---

१. रसवन्ती, पृष्ठ ५१—दिनकर
२. वही, पृष्ठ वही　　　,,

इन मूल चेतनाओं से अलग 'रसवन्ती' की अन्य रचनाओं के निम्न वर्ग किए जा सकते हैं—

(१) राग-प्रेरित रचनाएं ।
(२) विचार-प्रेरित रचनाए ।

प्रथम वर्ग की मुख्य रचनाएं है, 'बालिका से वधू', 'कत्तिन का गीत', 'कवि कालिदास' और 'अगेय की ओर' । प्रथम रचना मे नवविवाहिता की विदा-प्रसग के मधुर, कोमल और आर्द्र चित्र प्रस्तुत किए गए है । नववधू के शृङ्गार, भावी उमंगो और बिछोह की वेदना की उठती-गिरती लहरों की प्रतिक्रियाओं और विदा के बाद की अभावमूलक कल्पनाओ का चित्रण तो मार्मिक रूप से हुआ ही है—बालिका की चपलता, चचलता और सहजता के स्थान पर वधू के गाम्भीर्य और दायित्वपूर्ण कर्तव्यो की स्थापना भी की गई है—

जगे हृदय को शीतल करने वाली मीठी पीर,
निज को डुबो सके निज में मन हो इतना गम्भीर ।[1]

'कत्तिन' का गीत कोमल भावनाओं का राष्ट्रीय गीत है, जिसकी प्रेरणा मे गाधी का वह स्वदेशी आन्दोलन है जिसने लंकाशायर और मैनचेस्टर से चलते हुए व्यापार को चुनौती देकर उनका दीवाला निकाल दिया था। गीत में लोक-गीतों की सी सहजता, माधुर्य और सामूहिक प्रेरणा विद्यमान है ।

'कवि' नामक कविता में कवि के व्यक्तित्व में अलौकिक गुणों का आरोपण करके उसमें सौन्दर्य, सत्य और शिव की प्रतिष्ठा की गई है । 'कालिदास' कविता में उनके कवि व्यक्तित्व और काव्य कृतियों की काव्यात्मक व्याख्या और आख्यान है । 'मरण', 'समय', 'आश्वासन', 'विजन', 'रहस्य' इत्यादि कविताये विचार-प्रेरित हैं, इन सभी रचनाओ में दिनकर की सौन्दर्य-चेतना का विचार-संपुष्ट रूप मिलता है, जिसमें आशा और विश्वास का स्वर प्रधान है। परन्तु उनकी काव्य-चेतना के दोनों ही मूल उत्सों में इनका कोई विशिष्ट और उल्लेखनीय योगदान नहीं माना जा सकता ।

उर्वशी में व्यक्त शृंगार-चेतना और नारी-भावना

दिनकर की काव्य-चेतना की पृष्ठभूमि और परिपार्श्व मे उर्वशी का विश्लेषण किस प्रकार किया जाय, यह प्रश्न मस्तिष्क में प्रधान हो उठता है । इस कृति पर निकली हुई अगणित समीक्षायें मेरे सामने है। एक ओर डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० राजबली पाण्डेय, डा० नगेन्द्र और नरेन्द्र शर्मा से लेकर विद्यार्थी

---

१. रसवन्ती, पृष्ठ ६—दिनकर

आलोचकों तक की लिखी हुई प्रशंसात्मक आलोचनायें हैं और दूसरी ओर मुद्राराक्षस तथा डा० भगवतशरण उपाध्याय का खण्डनात्मक और ध्वंसात्मक दृष्टिकोण भी है। विभिन्न मतों के खण्डन-मण्डन से काम बनता नही, इसलिए स्वतन्त्र रूप से अपनी गलत या सही प्रतिक्रियाओं के आधार पर ही उर्वशी मे व्यक्त दिनकर की काव्य-चेतना का विश्लेषण और निरूपण किया जा रहा है। सबसे पहला प्रश्न यह है कि उर्वशी की रचना किस उद्देश्य से हुई है। उसका मूल प्रतिपाद्य क्या है? स्पष्ट उत्तर है कि उसकी रचना का उद्देश्य कुछ वैसा नही है जैसा द्विवेदी-युगीन प्रबन्ध काव्यों का था। न तो कवि उर्वशी और पुरुरवा की मार्मिक और आकर्षक कथा में मौलिक उद्भावनाओ का स्पर्श देकर उसे नये रूप में प्रस्तुत करना चाहता है, न पौराणिक पात्रों के माध्यम से युग-धर्म की स्थापना करना चाहता है और न वह किसी उपेक्षित, अनादृत अथवा विस्मृत पात्र का उद्धार करना चाहता है। 'रश्मिरथी' के दिनकर का जो उद्देश्य था, वही उद्देश्य उर्वशी के दिनकर का नहीं है। यहां तो उनके सामने एक समस्या है—काम अथवा प्रेम की समस्या। और दर्शन तथा मनोविज्ञान के द्वारा इस समस्या का उद्घाटन उर्वशी के कवि का उद्देश्य रहा है।

जिस प्रकार उनकी प्रारम्भकालीन कृतियों की समष्टिपरक उग्र चेतना कुरुक्षेत्र में आकर दर्शन और मनोविज्ञान से संपुष्ट होकर संतुलित हुई थी उर्वशी की सृजन-प्रेरणा और प्रक्रिया मुझे करीब-करीब वैसी ही जान पड़ती है। दिनकर 'वर्तमान के वैतालो' हैं। प्रेरणा उन्हें वर्तमान से मिलती है परन्तु इतिहास और परम्परा के मोह के कारण वह अतीत का अंचल छोड़ने में असमर्थ रहते है। मेरे विचार से तो 'कुरुक्षेत्र' और 'उर्वशी' एक ही प्रतिपाद्य के अलग-अलग ऐंगिल से लिए हुए दो चित्र है। दोनों ही चित्रों का आधारफलक सार्वभौम और विश्वजनीन है और दोनों ही की अभिव्यक्ति के माध्यम पौराणिक-ऐतिहासिक और भारतीय हैं ठीक वैसे ही जैसे प्रेम और घृणा सार्वजनीन और सार्वभौम है परन्तु व्यक्ति और परिवेश की भिन्नता से उनकी अभिव्यक्ति में भिन्नता आ जाती है। कुरुक्षेत्र में दिनकर की नई काव्य-प्रेरणा पुराने माध्यम से इसलिए रूपायित हुई थी कि द्वितीय महायुद्ध के प्रति दिनकर की प्रतिक्रियाएं उतनी प्रतिष्ठा नही प्राप्त कर सकती थीं जितनी कि भीष्म जैसे महासेनानी के मुँह से कहलाई गई उक्तियों को मिली। भारतीय इतिहास में शौर्य की महिमा का गान करने तथा व्यक्ति-धर्म और समष्टि-धर्म का आख्यान-प्रत्याख्यान करने योग्य आप्त पुरुषों का अभाव नहीं था, दिनकर ने युद्ध की गहन समस्या का विवेचन-विश्लेषण

करने के लिए भीष्म जैसे महामहिम व्यक्ति को चुना यह उनकी दूरदर्शिता थी, परन्तु भारतीय साहित्य और इतिहास में प्रेम के क्षेत्र में धर्माधर्म के संकट की स्थितियां प्रायः नहीं मिलतीं। भारत की प्राचीन सामाजिक व्यवस्था में एक-पत्नीव्रत राम कितने हैं? और अगर हैं भी तो उनका आदर्श दृढ़ है, उस निष्ठा और विश्वास में द्वन्द्व और संघर्ष नहीं है, उनका प्रेम देवता का प्रेम है जो कर्तव्य-प्रेरित है और जो निष्ठा और विश्वास के कारण ही सीता की अग्नि-परीक्षा के लिए तैयार हो जाता है।

स्पष्ट है कि पुरुरवा का द्वन्द्व एकनिष्ठ राम का द्वन्द्व नहीं हो सकता। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में प्रचलित बहुपत्नी प्रथा, रक्षिताओं की स्वीकृति तथा स्त्री के व्यक्तित्व की स्वतन्त्र इकाई में केवल भावनात्मक मूल्यों की स्थापना भोग के लिए खुला क्षेत्र छोड़कर, सांसारिक व्यक्तियों के लिए भी द्वन्द्व के लिए कोई अवकाश नहीं प्रस्तुत करती। सामाजिक निषेध अथवा आदर्श-च्युति दोनों में से एक भी अवरोध वहां उपस्थित नही है। ऐसी स्थिति मे पुरुरवा के हृदय में उठे हुए प्रश्न प्राचीन इतिहास के व्यक्तियों के भी प्रश्न नहीं हो सकते। नारी को लेकर धर्माधर्म के प्रश्न का आध्यात्मिक पहलू भी यहां स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि पुरुरवा का द्वन्द्व एक सांसारिक व्यक्ति का द्वन्द्व है जो आदर्शों की मर्यादा का उल्लंघन करके सहज प्रवृत्तियों से अनुप्रेरित उद्वेलन द्वारा आलोड़ित होता है। काम के त्याग, ग्रहण अथवा संतुलन का प्रश्न शाश्वत है ठीक उसी अर्थ में जैसे युद्ध की समस्या मनुष्य की सनातन समस्या है, परन्तु उर्वशी की रचना आधुनिक जीवन में व्यापक रूप से छाई हुई काममूलक समस्याओं की प्रेरणा से हुई है यह भी उतना ही बड़ा सत्य है, जितना यह कि 'कुरुक्षेत्र' की रचना द्वितीय महायुद्ध की प्रेरणा से हुई थी।

पुरुरवा का द्वन्द्व किसी आदर्शवादी गृहस्थ, निर्बन्ध भोगवादी अथवा अध्यात्म की ओर झुकते हुए व्यक्ति का द्वन्द्व नही है, वह तो उस युग के व्यक्ति का द्वन्द्व है जिसके सामने मर्यादा की रक्षा और प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति के प्रलोभन में सतत रूप से संघर्ष चलता रहता है। 'पुरुरवा आज के युग का भारतीय पुरुष है, जो संस्कारवश चिन्मय आस्वाद को न तो सर्वथा अस्वीकार कर मृण्मय आस्वाद के अमिश्र रस का भोग कर सकता है और न अपने पूर्वजों की भांति मृण्मय अनुभूति का सहज परित्याग कर चिन्मय अनुभूति में लीन हो सकता है'। आज के व्यक्ति की भौतिक दृष्टि और कामासक्ति चाहे उसे प्रगाढ़ सुख दे सकती हो पर शान्ति नहीं दे सकती। वर्तमान युग के इसी व्यक्ति के अन्त-र्द्वन्द्व का चित्रण और निरूपण उर्वशी में हुआ है। इस दृष्टि से उर्वशी को हिन्दी

कविता का एक नया मोड़ माना जा सकता है। कामजन्य समस्याओं से प्रेरित साहित्य-सर्जना हिन्दी के लिए नई वस्तु नहीं है। काम की प्रेरणा की अनेक स्वस्थ और विकृत उल्टी-सीधी अभिव्यक्तियां हिन्दी के कथा-साहित्य में दीर्घ-काल से होती आ रही हैं। फ्रायड, युंग और ऐडलर के सिद्धान्तों को साहित्यिक अभिव्यक्ति देने के लिए एक ओर हिन्दी के मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों और कहानियों में मानसिक रोगों से पीड़ित, कुंठित, विकृत और रुग्ण व्यक्तियों का चित्रण ही प्रधान हो गया, तो दूसरी ओर काम-समस्याओं पर केन्द्रित जैनेन्द्र और अज्ञेय के उपन्यास हिन्दी के स्तम्भ-दीप बन गए। इन समस्याओं को सामाजिक परिवेश और काल्पनिक पात्रों के माध्यम से चित्रित करना सम्भव भी था और उचित भी। परन्तु प्रबन्ध काव्य की मान्य गरिमा और भव्यता की रक्षा करते हुए प्रस्तुत समस्या का आख्यान और विश्लेषण करने के लिए पौराणिक आख्यान और पात्रों का माध्यम स्वीकार करना ही ठीक था। हिन्दी के मुक्तक और गीति काव्य में द्विवेदी-युग के बाद से अनेक उतार-चढ़ाव आए परन्तु प्रबन्ध-परम्परा प्रायः द्विवेदीयुगीन कलेवर में ही चलती रही—आज तक हिन्दी का कोई भी प्रबन्ध काव्य सामने नहीं आया जिसे साकेत, प्रियप्रवास और कामायनी का विकास मानना तो दूर उनका गौरवपूर्ण अवशेष भी माना जा सके।

दिनकर ने प्रबन्ध काव्यों की परम्परा में पहला प्रयोग 'कुरुक्षेत्र' में किया जिसमें समस्या प्रधान थी, पुराण और पौराणिक पात्र निमित्त मात्र। उर्वशी में भी समस्या ही प्रधान है। कुरुक्षेत्र के षष्ठ सर्ग में कवि ने अतीत का पल्ला छोड़ कर वर्तमान की बात स्वयं कही है, उर्वशी के तीसरे अंक में पुरुरवा और उर्वशी कथा के पात्र कम दिनकर की विचारधारा के प्रतिनिधि और प्रतीक अधिक हो गये है। प्रबन्ध काव्य की वैचारिक गरिमा और भव्यता सुदूर अतीत की घटनाओं और पात्रों के माध्यम से अधिक उपयुक्तता से व्यक्त हो सकती है। नित्यप्रति सम्पर्क में आने वाले जाने-पहचाने व्यक्तियों और जानी-मानी घटनाओं से अभीष्ट गरिमा की उपलब्धि नहीं की जा सकती। सामान्यतः शाश्वत और विशेषतः समसामयिक इस समस्या के प्रतिपादन के लिए उर्वशी और पुरुरवा का प्रतीक उचित ही बन पड़ा है।

उर्वशी के प्रथम अंक को सूच्य अंक माना जा सकता है, जिसमें अप्सराओं द्वारा घटनाओं का वर्णन तो कराया ही जाता है, उर्वशी की मूल समस्या की स्थापना भी उन्हीं के द्वारा कराई जाती है। मेनका, सहजन्या और रम्भा के कथोपकथन में शृङ्गार के ऐन्द्रिय, अतीन्द्रिय, मांसल और रूमानी पक्षों का

विवेचन किया गया है। इस विश्लेषण में दिनकर की रसवन्ती की नारी कविता में व्यक्त नारी-भावना को ही पौराणिक परिपार्श्व में रख कर उसे नई प्रतीकात्मकता दी गई है। सूत्रधार नाटक के पात्रों और पृष्ठभूमि का परिचय देने के साथ ही साथ समस्या की स्थापना भी करता है। इस अंक में अमर लोक के अरूप और पृथ्वी के ऐन्द्रिय प्रेम का विवेचन करते हुए, प्रेम के दैहिक और मानसिक दोनों ही पक्षों की एकांगिता की स्थापना की जाती है। दैवी प्रेम में एक ओर अतितृप्ति-जन्य जड़ता है, तो दूसरी ओर अतीन्द्रियता, पार्थिव प्रेम में केवल तृष्णा, उद्रेक, और उद्वेग है। पार्थिव मनुष्य स्थूल को भेद कर स्पर्शमुक्त प्रेम को ही सत्य समझता है, और देवता कभी-कभी अरूप की तृप्तिजन्य कुंठा और जड़ता से ऊब कर रूप को बांहों में भरने के लिए अकुलाते है—समस्या यहीं से आरम्भ होती है। रम्भा, मेनका और सहजन्या उसे आगे बढ़ाती है। उन्हीं की उक्तियों के द्वारा नारी-जीवन और व्यक्तित्व के अनेक पक्षों का उद्घाटन होता है। 'उर्वशी' की कथा के वर्णन में पूर्वराग-जन्य विरह की मानसिक स्थितियों तथा कामदशाओं का वर्णन हुआ है जो अधिकतर परम्परा पर आधृत हैं, परन्तु अनुभावों और सूक्ष्म संचारी भावों की अभिव्यक्ति मे अलंकार्य और अलंकार के पूर्ण तादात्म्य के कारण विरह की तन्मयता, क्लान्ति, श्रान्ति और उद्विग्नता आदि का मार्मिक चित्रण हुआ है। एक प्राकृत मानव के लिए स्वर्ग-परी उर्वशी का पागलपन मानवी और दैवी प्रेम के विचार-सूत्र को आगे बढ़ने का अवसर देता है। यही से 'उर्वशी' की शृङ्गार-भावना दो भागों में बंट जाती है। एक ओर अप्सरा-प्रेम चलता है तथा दूसरी ओर मानवी-प्रेम। इन दोनों ही प्रकार के शृङ्गार में दिनकर की पहली ही मान्यताओं की आवृत्ति हुई है। आश्चर्यजनक संयोग यह है कि जिन तत्वों को आधुनिका नारी की विकृतियां मानकर दिनकर ने उसकी भर्त्सना की थी, अप्सराओं के व्यक्तित्व-निर्माण में उन्हीं का प्रयोग किया गया है, जिन विशेषताओं के लिए दिनकर ने उनको धिक्कारा था वही विशेषतायें अप्सराओं की परिचयोक्तियों में मिलती हैं—जैसे 'नारी' कविता की पंक्तियां है—

जनाकीर्ण संसार बीच कितनों का मन बांधोगी ?
निरुद्वेश्य बेधोगी चलते राह हृदय किस-किस का ?[1]

प्रकारान्तर से वही बात रम्भा कहती है—

---

१. रसवन्ती, पृ० ४७

सृष्टि हमारी नहीं संकुचित किसी एक आनन में,
किसी एक के लिये सुरभि, हम नहीं संजोती मन में।

* * *

प्रेम मानवी की निधि है अपनी तो वह क्रीड़ा है;
प्रेम हमारा स्वाद, मानवी की आकुल पीड़ा है।[1]

रसवन्ती की आधुनिका का चित्र है—

अपना चित्र विविध रंगों में आप सृजन करती हो
और जांचती हो फिर स्वयं पुरुष के दृग से
दर्पण में, रंगों में, नर की भ्रमित लुब्ध आंखों में
देख रहीं सबमें अपने को क्रम से बिठा बिठा कर।[2]

उर्वशी की अप्सरा का चित्रण है—

हम तो हैं अप्सरा पवन में मुक्त विहरने वाली,
गीत-नाद, सौरभ सुवास से सबको भरने वाली।
अपना है आवास न जाने, कितनों की चाहों मे,
कैसे हम बंध रहें किसी भी नर की दो बाहों में।[3]

अप्सरा-दृष्टि की प्रतिनिधि रम्भा मातृत्व के प्रति जो घृणा का भाव व्यक्त करती है, उसके संकेत भी हमें इसी कविता में मिल जाते हैं। इस पीढ़ी के पहले की भारतीय आधुनिका ने पत्नीत्व और मातृत्व के बोझ से बच कर अनियन्त्रित और स्वतन्त्र जीवन बिताने का बीड़ा उठा लिया था, अपना व्यक्तित्व, अपना सुख और अपना सौन्दर्य ही उसके लिए प्रधान हो उठा था, मातृत्व की गरिमा और पत्नीत्व की मर्यादा उसे अपने हाथों में पड़ी हुई हथकड़ियां जान पड़ने लगी थीं। दिनकर ने इसी ओर इंगित करते हुए कहा था—

काश! समझतीं जन्म निरोधातुर कृत्रिम बन्ध्यायें,
पुत्र-कामना इच्छा है अपने को ही पाने की।[4]

मातृत्व के प्रति इसी अनादर और घृणा का व्यक्तीकरण रम्भा करती है। उसकी दृष्टि में मातृत्व की पवित्रता की अपेक्षा यौवन के स्वप्न, प्राणों के इन्द्रधनुष और फूलों के देश में उन्मुक्त घूमने का मूल्य अधिक है। वात्सल्य की

---

१. उर्वशी, पृ० १५
२. रसवन्ती, पृ० ४६
३. उर्वशी, पृष्ठ १६
४. रसवन्ती, पृ० ५१

स्निग्धता और सार्थकता की अपेक्षा प्राणों का वेग उसके लिए अधिक महत्वपूर्ण है, मातृत्व उसकी दृष्टि में एक विरूपता है—

किरणमयी यह परी करेगी यह विरूपता धारण ?
वह भी और नहीं कुछ, केवल एक प्रेम के कारण ?

*** * ***

गर्भ भार उर्वशी मानवी के समान ढोयेगी ?
यह शोभा यह गठन देह की, यह प्रकान्ति खोयेगी ?[1]

तथा—

पुत्रवती होंगी, शिशु को गोदी में हलरायेंगी
मदिर तान को छोड़ सांझ से ही लोरी गायेंगी ।
पहनेंगी कंचुकी क्षीर से क्षण-क्षण गीली-गीली,
नेह लगाएंगी मनुष्य से, देह करेंगी ढीली ।[2]

'उर्वशी' में आए हुए इसी प्रकार के अनेक कथनों से ऐसा जान पड़ता है कि वर्तमान युग की उलझनपूर्ण वैयक्तिक समस्याएं और तद्सम्बन्धी उनकी अपनी मान्यताएं दिनकर के अवचेतन में विद्यमान हैं और उर्वशी की प्रेरणा में उनका काफी महत्वपूर्ण योग रहा है । मातृत्व की गरिमा सम्बन्धी मेनका की उक्तियों में भी उसी कविता के तीसरे भाग में व्यक्त मान्यताओं की आवृत्ति हुई है । नारी पुत्र के माध्यम से समष्टि में प्रवेश करके ससीम से असीम बन जाती है । निर्बन्ध परी क्रीड़ा कौतुक और प्रणय से परे जीवन की उदात्त गम्भीर भूमि पर चरण रख कर महाविश्व को जीवित रखने के दायित्व का अनुभव करने लगती है । उर्वशी में भी प्रकारान्तर से इन्हीं भावनाओं की आवृत्ति की गई है—

गलती है हिम शिला, सत्य है, गठन देह की खोकर,
पर हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर ।
युवा जननि को देख शान्ति कैसी मन में जगती है
रूपमती भी सखी ! मुझे तो त्रिया वही लगती है
जो गोदी में लिए क्षीरमुख शिशु को सुला रही हो
अथवा खड़ी प्रसन्न पुत्र का पलना झुला रही हो ।[3]

इस प्रकार उर्वशी के प्रथम अंक में विभिन्न पात्रों के द्वारा वर्णित घटनाओं तथा उनकी विचारधाराओं में उसके प्रतिपाद्य के दो प्रमुख सूत्रों की स्थापना

---

१. उर्वशी, पृष्ठ १९
२. उर्वशी, पृष्ठ १९
३. वही, पृष्ठ १९

होती है। एक ओर अतीन्द्रियता-जन्य जड़ता से ऊबी हुई चेतना पार्थिव शृङ्गार की आग को झेलने के लिए तैयार होती है और दूसरी ओर 'मानवी' के मातृत्व की पवित्र गरिमा की स्थापना होती है जिसका पलड़ा आगे चल कर उर्वशी की प्रणय-भावना से भारी हो जाता है और जिसके द्वारा कवि परोक्ष रूप से मातृत्व को नारी जीवन की चरम सार्थकता के रूप में घोषित करता है।

प्रथम तथा द्वितीय अंकों में उर्वशी और पुरुरवा मंच पर नहीं आते। अप्सराएं ही उनकी कहानी का वर्णन करती हैं। और ये दोनों ही अभी तक केवल कहानी के पात्र मात्र हैं उनका प्रतीकात्मक महत्व प्रायः कुछ भी नहीं है। पुरुरवा और उर्वशी के पूर्वानुराग की समाप्ति जिन पंक्तियों से होती है उन्हीं से यह संकेत मिल जाता है कि आगे उसकी परिणति क्या होने वाली है—

यही समुद्वेलन नर का शोभा है रूपमती की।
सुन्दर थी उर्वशी, आज वह और अधिक सुन्दर है।
राका की जय तभी, लहर उठता जब रत्नाकर है।[1]

द्वितीय अंक की कथा में भारतीय पत्नीत्व की आंसू भरी मर्यादा और गीली गरिमा की कहानी कही गई है। रेणुका की 'राजा रानी' की कल्पना यहां साकार हो गई है। औशीनरी 'वर्षा की रानी' अपने दृगों के पानी से 'धरा' को सींच कर पति के जीवन में वसन्त के कुसुम खिलाती है। औशीनरी के चरित्र में प्रायः सभी कुछ वही है जिसकी कल्पना मैथिलीशरण गुप्त ने यशोधरा और उर्मिला के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा के लिए की थी। परन्तु यहां एक बहुत बड़ा अन्तर यह है कि गुप्त जी द्वारा निर्मित वे नारियां खण्डिता नहीं थीं; उनके पति कर्तव्य-मार्ग पर जाकर उनके जीवन में भी आदर्श की प्रेरणा छोड़ गए थे, जब कि औशीनरी का पति उसके गम्भीर प्रेम, निष्ठा और त्याग की अवहेलना करके केवल प्रवृत्तिगत दुर्बलताओं के कारण अप्सरा के प्रेम में फँस गया है। अपने रूप और यौवन का जाल फेंक कर पुरुष के मन का आखेट करने वाली उस 'अप्सरा' के प्रति उसके मन में आक्रोश और क्रोध है पर वह विवश और असहाय का क्रोध है जो केवल उपालम्भ बन कर व्यक्त होता है। निपुणिका और मदनिका द्वारा वर्णित उर्वशी के प्रति पुरुरवा की पागल आसक्ति का वर्णन वह हृदय को संयमित और नियन्त्रित करके सुनती है। पत्नी और परकीया के प्रेम के भेदाभेद की तुलना ही इस अंक में प्रधान रही है। एक ओर नारी का वह प्रमदा रूप है जिसके सामने अजेय केसरी तन-मन की समस्त सुधि-बुधि भूल कर, उसके चरणों में पड़ा रहता है। पुरुष के उद्वेलित और आतुर मन का

१. उर्वशी, पृष्ठ १५

आवेग निर्बन्ध ज्वार की तरह उमड़ता है और नारी की अर्ध-जाग्रत भावनाओं को छोड़ कर शान्त हो जाता है और फिर प्रेम की आकांक्षिणी नारी जन्म भर आंसुओं की माला पिरोती बैठी रहती है। ये ही आंसू औशीनरी के जीवन का इतिहास कहते हैं। इस अंक में भी प्रेम के विविध रूपों का विश्लेषण चेतन और अचेतन स्तर पर किया गया है। पुरुष की उद्दाम काम-प्रवृत्ति के कुछ चित्र देखिए—

जलती हुई छांह में आती याद छांह की, जल की,
या निकुंज में राह देखती प्रमदा के अंचल की।
और नरों में भी, जो जितना ही विक्रमी प्रबल है,
उतना ही उद्दाम, वेगमय उसका दीप्त अनल है।[1]

* * *

जितना ही जो जलधि रत्न पूरित, विक्रान्त अगम है,
उसकी बाड़वाग्नि उतनी ही अविश्रान्त, दुर्दम है।
बन्धन को मानते वही, जो नद नाले सोते हैं,
किन्तु महानद तो, स्वभाव से ही, प्रचंड होते हैं।[2]

और इस प्रचण्डता का तूफान झेलने वाली होती है वह पत्नी, जिसकी निष्ठा उसे पति की दुर्बलताओं से समझौता करने को बाध्य करती है, जिसको छोड़ कर वह अपने लिए दूसरा मार्ग नहीं बना पाती। विधि का विधान उसके मार्ग का बाधक नहीं होता, उसकी अपनी निष्ठा ही पति के मार्ग से भिन्न मार्ग की कल्पना उसके मस्तिष्क में नहीं आने देती। परन्तु इस निष्ठा के मूल में कुंठा-जन्य उद्विग्नता नहीं उन्नयन-जन्य शान्ति और शक्ति है, वह शक्ति जिसके सहारे भारतीय नारी देवी का पद पाती जा रही है।

उर्वशी के प्रथम दो अंकों की शृङ्गार-चेतना भारतीय परिवेश और आदर्शों के बीच पल्लवित हुई है। पत्नीत्व की परिभाषा और मातृत्व के गौरव की स्थापना पूर्णतः भारतीय है। उर्वशी और पुरुरवा अवश्य सनातन नर और नारी माने जा सकते हैं, क्योंकि उनमें वह आदर्श-जन्य पार्थक्य नहीं है जो विभिन्न देशों और विश्व के भू-भागों की सांस्कृतिक, नैतिक तथा अन्य मूल्यों की विभिन्नता के कारण अनिवार्य हो जाता है। उनका प्रेम तो प्रवृत्तिजन्य है और प्रवृत्तियों का रूप विश्वजनीन, सार्वकालिक और सार्वभौम होता है।

---

१. उर्वशी, पृष्ठ ३८
२. वही, पृष्ठ ३८

तीसरे अंक में भारतीय पृष्ठभूमि प्रायः पूर्ण रूप से हट जाती है। ऐसा लगता है कि पहले दो अंकों का अभिनय मंच के अग्र भाग पर भारतीय पृष्ठ-भूमि के परदे के आगे हो रहा था, स्वर्ग भी नीचे पृथ्वी के किसी अन्य भाग में नहीं, भारत की भूमि पर ही उतरा था, औशीनरी के आंसू भी भारतीय पत्नी की कहानी कहते थे, पर तृतीय अंक में जैसे यवनिका फट जाती है और नाटक का अभिनय विश्व की विशाल पृष्ठभूमि में होने लगता है जहां सांस्कृतिक, भौगोलिक, सामयिक अथवा नैतिक रेखायें विश्व को राष्ट्रों और देशों में विभाजित नहीं करतीं, पुरुरवा और उर्वशी विश्व-नर और विश्व-नारी के प्रतीक बन जाते हैं। कुरुक्षेत्र के विश्वजनीन आधार-फलक पर लिए हुए चित्र में फ़ोकस सामूहिक पक्ष पर था, उसमें प्रकाश और अन्धकार के अनेक उतार-चढ़ाव थे, परन्तु उर्वशी का यह चित्र तो उस छायाचित्र के समान है जिसमें व्यक्ति की घनी और गहरी छाया का उभार ही प्रधान रहता है, और अमूर्त प्रतीकात्मकता के द्वारा ही हम उसका प्रभाव ग्रहण करते हैं। पुरुरवा और उर्वशी यहां नायक-नायिका कम प्रतीक अधिक हो जाते हैं।

इन पात्रों की प्रतीकात्मकता के विषय में कवि ने भूमिका में जो कुछ कहा है उसका उल्लेख करना यहां अनिवार्य सा जान पड़ता है। "उर्वशी शब्द का कोषगत अर्थ होगा उत्कट अभिलाषा, अपरिमित वासना, इच्छा अथवा कामना। और पुरुरवा शब्द का अर्थ है वह व्यक्ति जो नाना प्रकार का रव करे, नाना ध्वनियों से आक्रान्त हो। उर्वशी चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक तथा श्रोत्र की कामनाओं का प्रतीक है, पुरुरवा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द से मिलने वाले सुखों से उद्वेलित मनुष्य"।[1] जहां तक पुरुरवा की प्रतीकात्मकता है मुझे उसके विषय में कुछ नहीं कहना है। पुरुरवा का द्वन्द्व पार्थिव मनुष्य का द्वन्द्व है जिसका स्वभाव ही है संघर्ष-ग्रस्त रहना। वह सुख की कामना भी करता है और उससे आगे निकलने का प्रयास भी करता है। परन्तु उर्वशी की प्रतीकात्मकता मुझे कवि की उक्तियों द्वारा ही खण्डित होती जान पड़ती है। उपर्युक्त उद्धरण मे उर्वशी को विभिन्न इन्द्रियों की कामनाओं तथा सनातन नारी का प्रतीक माना गया है। परन्तु थोड़ी दूर आगे चलकर ही कवि कहता है "उर्वशी द्वन्द्वों से सर्वथा मुक्त है। देवियों में द्वन्द्व नहीं होता, वे त्रिकाल अनुद्विग्न निर्मल और निष्पाप होती हैं। द्वन्द्वों की कुछ थोड़ी अनुभूति उसे तब होती है जब वह माता अथवा पूर्ण मानवी बन जाती है, जब मिट्टी का रस उसे पूर्ण रूप से अभि-

१. उर्वशी भूमिका, पृष्ठ ख—दिनकर

षिक्त कर देता है।"[1] इस प्रकार उर्वशी के तीन रूप हमारे सामने आते हैं (१) कामनाओं और सनातन नारी की प्रतीक उर्वशी (२) देवी उर्वशी (३) मानवी उर्वशी। प्रथम रूप में कवि ने उसे नारी का प्रतीक माना है—नारी जो केवल कामनाओं की जड़ वाहक नहीं है, जिसमें आदर्श और कामनाओं का संघर्ष, पुरुष के द्वन्द्व से कहीं अधिक होता है—पुरुरवा को जैसे राम की एकनिष्ठता का प्रतीक नहीं माना जा सकता—उर्वशी को भी सीता नहीं माना जा सकता। उसमें दैवी गुण कहां है? प्रथम अंक में विभिन्न अप्सराओं के द्वारा ही जिस अप्सरा-धर्म का वर्णन-विवेचन कराया गया है—क्या उर्वशी उनसे अलग है? 'देवी' शब्द का रूढ़ अर्थ भी उसके ऊपर चरितार्थ नहीं होता, देवी की जो अनुद्विग्न निर्मल और निष्पाप कल्पना दिनकर की है—उर्वशी में वह कहां है। उर्वशी को दिनकर यदि आरम्भ से ही मानवी बना सकते तो शायद यह प्रतीक अधिक सफल होता। उसकी भावनाओं का ज्वार उसे अनुद्विग्न देवी के पद से वंचित कर देता है और द्वन्द्व से रहित होकर वह सनातन नारी की प्रतीक होते हुए भी नारी नहीं रह जाती। वह तो पुरुष की आकांक्षाओं को उभारने वाली प्रवृत्तियों की केन्द्र मात्र बन कर रह जाती है। दिनकर के अनुसार "नारी के भीतर एक जो नारी है जिसका सन्धान पुरुष तब पाता है जब दैहिक चेतना से परे प्रेम की दुर्गम समाधि में पहुंचता है।" वह द्वन्द्व से परे नहीं है, जड़ नहीं है। अच्छा होता यदि दिनकर वह द्वन्द्व भी देख सके होते, तब शायद उर्वशी अपने प्रणयिनी रूप में केवल भोग्या बन कर ही न रह जाती, उसमें एक व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा भी हो सकती। और यदि सच कहा जाय तो इन दोनों पात्रों की प्रतीकात्मकता प्रायः तीसरे अंक तक ही केन्द्रित और सीमित होकर रह गई है।

उर्वशी के तीसरे अंक को उसी अर्थ मे उसका प्राण तत्व माना जा सकता है जिस अर्थ में कि कुरुक्षेत्र के षष्ठ सर्ग को उसका सार माना जाता है। इसी अंक में उर्वशी के मुख्य प्रतिपाद्य का विवेचन-विश्लेषण हुआ है। रतिभाव अथवा काम तत्व मानव-जीवन की सबसे प्रबल वृत्ति है। उसी के "सूक्ष्म-प्रबल, कोमल-कठोर, तरल-प्रगाढ़, मोहक-पीड़क, उद्वेगकर और सुखकर, दाहक और शीतल, मृण्मय और चिन्मय अनेक रूपों का उर्वशी में अत्यन्त मनोरम चित्रण है और सबसे अधिक आकर्षक है प्रेम की उस चिर अतृप्ति का चित्रण,

---

१. उर्वशी, भूमिका, पृष्ठ ग

जो भोग से त्याग और त्याग से भोग अथवा रूप से अरूप और अरूप से रूप की ओर भटकती हुई मिलन तथा विरह में समान रूप से व्याप्त रहती है।"[१]

तृतीय अंक का आरम्भ गन्धमादन पर्वत के रूमानी वातावरण में होता है और आरम्भ में ही उर्वशी सहज मानवी के रूप में आती है। रतिभाव के विकास की प्रारम्भिक स्थितियां मनोवैज्ञानिक स्पर्श से आरम्भ होती हैं। पुरुष नारी की सहजता, कोमलता और सौन्दर्य की ओर आकर्षित होता है, परन्तु नारी के लिए पुरुष का सबसे प्रबल आकर्षण होता है उसका पौरुष, शौर्य, आत्मविश्वास और अहं। उर्वशी भी मानवी सहज भावनाओं से प्रेरित पुरुरवा से कहती है—

पर, इस आने में किंचित् भी स्वाद कहां उस सुख का,
जो सुख मिलता उन मनस्विनी वाम लोचनाओं को
जिन्हें प्रेम से उद्वेलित विक्रमी पुरुष बलशाली
रण से लाते जीत या कि बल सहित हरण करते हैं।

* * *

वही धन्य जो मानमयी प्रणयी के बाहु वलय में
खिंची नहीं, विक्रम तरंग पर चढ़ी हुई आती है।
हरण किया क्यों नहीं, मांग लाने में यदि अपयश था?[२]

जैसा कि नरेन्द्र जी ने इंगित किया है "तीसरे अंक में प्रेम कम हो गया है प्रेम की व्याख्या अधिक हो गई है। प्रेम में पल कर प्रेमी एकाकार नहीं होते। वह आत्मज्ञापन करते लगते हैं। यह कर्म नहीं क्रिया है, क्रिया नहीं प्रतिक्रिया है"।[३] पुरुरवा के मन में आरम्भ से ही द्वन्द्व है और कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय वह प्रायः इन्हीं मूल्यों द्वारा करता है जिनका निर्धारण भीष्म ने कुरुक्षेत्र में युधिष्ठिर के मन की अपराधजन्य हीन भावना को मिटाने के लिए किया था। वैयक्तिक और शृङ्गारिक अनुभूतियों के स्तर पर भी उनके चिन्तन की पृष्ठभूमि में अनासक्ति और निष्काम काम की भावना है, इच्छा और क्रिया के असामंजस्य से उत्पन्न द्विधा का निराकरण यहां भी गीता की पृष्ठभूमि में किया गया है। अनासक्ति, काम से इतर इच्छाओं तक ही सीमित नहीं है उसका किंचित् स्पर्श प्रणय को भी पवित्र करता है। उर्वशी की कुछ पंक्तियों में तो

---

१. अन्तर्मन्थन का काव्य उर्वशी, डा० नगेन्द्र—दिनकर सृष्टि और दृष्टि, पृष्ठ २३१, सं० गोपाल कृष्ण कौल
२. उर्वशी, पृष्ठ ४५
३. मणिकुट्टिम काव्य उर्वशी, नरेन्द्र शर्मा—दिनकर सृष्टि और दृष्टि, पृष्ठ २४०, सं० गोपाल कृष्ण कौल

यह विचार कहीं-कहीं प्राय: कुरुक्षेत्र की शब्दावली में ही व्यक्त हुआ है। जैसे उर्वशी की पंक्तियां हैं—

मैं मनुष्य, कामना वायु मेरे भीतर बहती है
कभी मन्द गति से प्राणों में सिहरन पुलक जगा कर
कभी डालियों को मरोड़ झंझा की दारुण गति से
मन का दीपक बुझा, बना कर तिमिराच्छन्न हृदय से
फिर होता संघर्ष तिमिर में दीपक फिर जलते हैं।

* * *

रंगों की आकुल तरंग जब हमें घेर लेती है
हम केवल डूबते नहीं, ऊपर भी उतराते हैं
पुण्डरीक के सदृश मृत्ति जल ही जिसका जीवन है,
पर, तब भी रहता अलिप्त जो सलिल और कर्दम से।[1]

कुरुक्षेत्र में यही भाव इस प्रकार व्यक्त किए गए हैं—

रागानल के बीच पुरुष कंचन सा जलने वाला,
तिमिर सिन्धु में डूब रश्मि की ओर निकलने वाला,
ऊपर उठने को कर्दम से लड़ता हुआ कमल-सा
ऊब डूब करता, उतराता घन में विधु मण्डल सा।

* * *

हार मान हो गई न जिसकी किरण तिमिर की दासी
न्योछावर उस एक पुरुष पर कोटि कोटि सन्यासी।[2]

मानव के उष्ण प्रेम की तृष्णा से प्रेरित उर्वशी अनासक्ति का नाम सुन चौंकती है और कामनाओं के सत्य की स्थापना करती है—मन की वह तीव्र, स्निग्ध प्रेरणा जिसकी कायिक अभिव्यक्तियों से तन और मन की ग्रन्थियां खुल जाती हैं, जिसकी मादकता में खोकर मनुष्य अनिर्वचनीय आनन्द के सागर में डूब जाता है—अन्धकार और अज्ञान है? मिथ्या है? बुद्धि और कामना के द्वन्द्व से उत्पन्न मनुष्य के अन्तर्मन की विविधरूपा अरूप झंकृतियों को दिनकर ने अपने विचार और कल्पना में बांध लिया है। कहीं उनमें तूफान का उद्दाम वेग है, कहीं सागर की सी गम्भीरता, कहीं कादम्बिनी की छांह है तो कहीं रुधिर में रेंगते हुए सोने के सांप। उसके द्वन्द्व में विचारवान पुरुष की द्विधा का चित्रण है जो विवेकरहित होकर काम के जैव धरातल के ऐन्द्रिय सुख को ही जीवन की सिद्धि मान कर नहीं जी सकता। बुद्धि और हृदय, आदर्श और कामनाओं

---

१. उर्वशी, पृष्ठ ४६—४७
२. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ १०५

के द्वन्द्व से ही उसमें शृङ्गार की तन्मयता के स्थान पर संकल्प और विकल्प उत्पन्न होते हैं, जो उसे पूर्ण और अखण्ड तन्मयता का भोग नहीं करने देते। पुरुष का जागरूक अहं और विवेक एक ओर उसे शृङ्गार की मादकता में पूर्ण रूप से तल्लीन नहीं होने देता और दूसरी ओर काम के प्रति अबाध आसक्ति से मुक्त हो सकने में भी वह असमर्थ रहता है।

चेतन और अचेतन स्तर पर चलते इस द्वन्द्व की अनेक अनुभूतियां पुरुरवा की उक्तियों में साकार हुई हैं, कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

पर जहां तक भी उड़ूं, इस प्रश्न का उत्तर नहीं है।
मृत्ति महदाकाश में ठहरे कहां पर ? शून्य है सब।
और नीचे भी नहीं सन्तोष,
मिट्टी के हृदय से
दूर होता ही कभी अम्बर नहीं है।[1]

* * *

गीत आता है कहीं से ?
था कि मेरे ही रुधिर का राग
यह उठता गगन में ?
बुलबुलों से फूटने लगतीं मधुर स्मृतियां हृदय में,
याद आता है मदिर उल्लास में फूला हुआ वन
याद आते हैं तरंगित अंग के रोमांच कम्पन
स्वर्णवर्णा वल्लरी में फूल से खिलते हुए मुख
याद आता है निशा के ज्वार में उन्माद का सुख
कामनायें प्राण को हिलकोरती हैं
चुम्बनों के चिह्न जग पड़ते त्वचा में।[2]

* * *

चाहिये देवत्व पर इस आग को धर दूं कहां पर
कामनाओं को विसर्जित व्योम में कर दूं कहां पर
वह्नि का बेचैन यह रसकोष, बोलो कौन लेगा ?
आग के बदले मुझे सन्तोष बोलो कौन देगा ?[3]

* * *

---

१. उर्वशी, पृष्ठ ४६
२. उर्वशी, पृष्ठ ५१
३. उर्वशी, पृष्ठ ५४—५५

बुद्धि बहुत करती बखान सागर तट की सिकता का,
पर तरंग-चुम्बित सैकत में कितनी कोमलता है,
इसे जानती केवल सिहरित त्वचा नग्न चरणों की ।[1]

पुरुष, नारी के सौन्दर्य की आराधना के द्वन्द्व में विकल रहता है, और स्त्री उसके व्यक्तित्व के वैश्वानर में कूद पड़ने को विवश हो जाती है, यहां भी दिनकर ने ओज और आग की महत्ता को स्वीकार किया है—जिस प्रकार 'कुरुक्षेत्र' में ओजदीप्त विनय और करुणा की ही महत्ता स्वीकार की गई थी, इसी प्रकार उनके शृङ्गार का माधुर्य भी ओज से ही दीप्त है। ओज के पावक में ही शृङ्गार के अगरु का सौरभ वह प्रभाव उत्पन्न करता है जिसकी सुरभित ज्वाला मे जीने के लिए नारी विकल हो उठती है—

जितना ही यह खर अनल ज्वार शोणित में उमह उबलता है
उतना ही यौवन अगरु दीप्त कुछ और धधक कर जलता है
मैं इसी अगरु की ताप तप्त मधुमयी गन्ध पीने आई
निर्जीव स्वर्ग को छोड़ भूमि की ज्वाला में जीने आई ।[2]

बुद्धि और हृदय का जो द्वन्द्व कुरुक्षेत्र में समष्टि स्तर पर व्यक्त किया गया था, वही इस वैयक्तिक स्तर पर भी ग्रहण किया गया है। कुरुक्षेत्र के भीष्म की उक्ति है—

बुझा बुद्धि का दीप वीरवर आंख मूंद चलते है।
उछल वेदिका पर चढ़ जाते और स्वयं बलते है।

* * *

सदा नहीं मानापमान की
बुद्धि उचित सुधि लेती,
करती बहुत विचार, अग्नि की
शिखा बुझा है देती ? [3]

उर्वशी की उक्ति है—

क्या विश्वास करे कोई कल्पनामयी इस धी का ?
अमित बार देती यह छलना, भेज तीर्थ पथिकों को,
उस मन्दिर की ओर, कहीं जिसका अस्तित्व नहीं है ।

बुद्धि और हृदय के इस द्वन्द्व ने कुरुक्षेत्र में कर्मयोग और वैराग्य तथा प्रवृत्ति

---

१. उर्वशी, पृष्ठ ६०
२. उर्वशी, पृष्ठ ५६
३. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ५३

और निवृत्ति में द्वन्द्व का रूप ग्रहण किया था। दिनकर ने प्रथम को स्वीकार कर के द्वितीय का तिरस्कार और निषेध किया था, उर्वशी में भी प्रायः उसी प्रकार की मान्यतायें एक भिन्न पृष्ठभूमि में प्रतिपादित की गई हैं—

पढ़ो रक्त की भाषा को, विश्वास करो इस लिपि का,
यह भाषा, यह लिपि मानस को कभी न भरमायेगी
छली बुद्धि की भांति, जिसे सुख दुख से भरे भुवन में
पाप दीखता वहां जहां सुन्दरता हुलस रही है
और पुण्य चय वहां जहां कंकाल कुलिश कांटे हैं।[1]

आदर्श और यथार्थ, सौन्दर्य और सत्य, अरूप और रूप, ऐन्द्रियता और अतीन्द्रियता को लेकर जो द्वन्द्व पुरुरवा के हृदय में उठते हैं और जिनका उत्तर उर्वशी देती है वे प्रायः उन्ही तर्कों पर आधारित है, जिनका प्रयोग भीष्म ने युधिष्ठिर के द्वन्द्वग्रस्त हृदय को क्षोभ और ग्लानि से मुक्त करने के लिए किया था। वहां द्वन्द्व कर्तव्य-प्रेरित कर्म और विराग में था। पहले के मूल में उदात्त समष्टि-चेतना प्रधान थी और दूसरे में अध्यात्म चेतना। परन्तु यहां द्वन्द्व प्रवृत्तियों और आदर्श में है और प्रवृत्तियों में भी काम प्रधान है। यहां भी दिनकर ने योग और भोग तथा शरीर और आत्मा मे सामंजस्य की स्थापना द्वारा काम के काम्य रूप की कल्पना की है। जिसमें प्रणय और काम तत्व का विवेचन निष्काम काम की पृष्ठभूमि में किया गया है। ऐन्द्रिय और भावनात्मक प्रेम विरोधी न होकर एक दूसरे के पूरक हैं। शरीर वह माध्यम है जिसके द्वारा नर और नारी स्थूल का अतिक्रमण करके किसी वायवीय और किरणोज्ज्वल देश में पहुंचना चाहते है, इसलिये जहां ऐन्द्रिय सुख ही साध्य बन जाता है, वह प्रेम का पाप रूप होता है—

काम कृत्य वे सभी दुष्ट हैं, जिनके सम्पादन में
मन आत्मायें नहीं, मात्र दो वपुस मिला करते हैं,
या तन जहां विरुद्ध प्रकृति के विवश किया जाता है,
सुख पाने को, क्षुधा नहीं, केवल मन की लिप्सा से।[2]

● * *

फलासक्ति दूषित कर देती ज्यों समस्त कर्मों को
उसी भांति वह काम कृत्य भी दूषित और मलिन है।

---

१. उर्वशी, पृ० ६१—दिनकर
२. उर्वशी, पृष्ठ ८४—दिनकर

स्वतः स्फूर्त जो नहीं, ध्येय जिसका मानसिक क्षुधा का
सप्रयास है शमन, जहां पर सुख खोजा जाता है।
तन की प्रकृति नहीं, मन की माया से प्रेरित होकर।[1]

प्रेम का आदर्श रूप वह है जिसे मनोवैज्ञानिक शब्दावली मे उदात्तीकृत स्थिति का नाम दिया जा सकता है, जिसमे पहुंच कर व्यक्ति इन्द्रियों के मार्ग से अतीन्द्रिय धरातल का स्पर्श करता है। पुरूरवा और उर्वशी का आख्यान, भावना, हृदय, कला और निरुद्देश्य आनन्द की महिमा का आख्यान है, वह पुरुषार्थ के काम पक्ष का माहात्म्य बताता है। कायिक अनुभावों द्वारा व्यंजित काम-जन्य प्रेरणाओं की निराकार झंकृतियां उदात्तीकरण की सूक्ष्म सोपान मात्र है, वे अपूर्ण और अधूरी हैं, पूर्ण है वह स्थिति जब अरूप में डूब कर मनुष्य भूतरोत्तर सौन्दर्य की अनुभूति करता है, जब वह सौन्दर्य की समाधि में पहुच जाता है। काम का यही रूप स्वस्थ है यही उसकी आध्यात्मिक महत्ता है—

प्रकृति नित्य आनन्दमयी है, जब भी भूल स्वयं को
हम निसर्ग के किसी रूप (नारी, नर या फूलों) से
एकतान होकर खो जाते हैं समाधि निस्तल में
खुल जाता है कमल धार मधु की बहने लगती है
दैनिक जग को छोड़ कहीं हम और पहुंच जाते हैं
मानो, मायावरण एक क्षण मन से उतर गया हो।[2]

कामजन्य द्वन्द्वों का समाधान और निराकरण रागों की मैत्री, स्वीकृति और समन्वय, आसक्तियों के बीच अनासक्त होने मे तथा स्पृहाओं को भोगते हुये भी निस्पृह और निर्लिप्त होने में है। इस प्रसंग में एक बात ध्यान मे रखने की है कि वर्तमान युग की काम-जन्य उलझनों से मूल प्रेरणा प्राप्त करने पर भी दिनकर का दृष्टिकोण एकांगी हो गया है, वे समस्या को केवल पुरुष के दृष्टिकोण से एक सीमित क्षेत्र और रूढ़िवादी परम्परा में रखकर ही देख सके है, जिसके अनुसार नारी प्रवृत्तियों की एक बंडल मात्र रह गई है, सार्वभौम स्तर पर मृण्मयी भावनाओं के उद्रेक और चिन्मयी बुद्धि के विवेक के द्वन्द्व से आज की नारी भी पुरुष के समान ही ग्रस्त है। परन्तु शायद प्रतीक की परिसीमा के कारण ही उर्वशी का कवि अपनी नायिका को मस्तिष्क और बुद्धि का वरदान नहीं दे सका।

चौथे अंक में कवि फिर भारतीय पृष्ठभूमि में और अपनी कहानी पर लौट आता है। उर्वशी फिर नेपथ्य में चली जाती है और उससे सम्बद्ध कथा-

१. उर्वशी, पृष्ठ ८५
२. उर्वशी, पृष्ठ ८६

सूत्र अन्य पात्रों द्वारा विकसित होता है। इस अंक में प्रकृति और परमेश्वर की एकानुभूति तथा सन्यास और प्रेम के बीच संतुलन की स्थापना का परिचय महर्षि च्यवन के माध्यम से दिया जाता है जिनके व्यक्तित्व में काम की स्वच्छ सुस्थिर और शीतज धारा का प्रकाश चित्रित किया गया है। सुकन्या और चित्रलेखा के तर्क-वितर्क में यहां भी प्रश्न के उसी सूत्र को आगे बढ़ाया जाता है जिसे तृतीय अंक में छोड़ दिया गया था। तन-मन के प्रेम के विविध रूपों और प्रतिक्रियाओं का विवेचन-विश्लेषण इस अंक में भी होता है, परन्तु अब तर्क-वितर्क का रुख दूसरा है। यहां उर्वशी के उन्मादक ज्वार के स्थान पर सुकन्या का गार्हस्थिक-दृष्टिकोण है जो पत्नीत्व की गरिमा और गम्भीरता को ही नारी जीवन की सार्थकता के रूप में स्वीकार करता है––

शिखर शिखर उड़ने में, जाने कौन प्रमोद लहर है
किन्तु एक तरु से लग सारी आयु बिता देने में
जो प्रफुल्ल घन, गहन शान्ति है, वह क्या कभी मिलेगी
नये नये फूलों पर नित उड़ती फिरने वाली को?

* * *

गार्हस्थ्य जीवन की सुस्थिरता, गम्भीरता और अनुद्विग्न प्रेम का वर्णन वह इस प्रकार करती है––

एक दूसरे के उर में हम ऐसे बस जाते हैं
दो प्रसून एक ही वृन्त पर जैसे खिले हुये हों।
फिर रह जाता भेद कहाँ पर शिशिर, घाम पावस का।[1]
एक संग हम युवा, संग ही संग वृद्ध होते हैं।
मिलकर देते खेप अनुद्धतमन विभिन्न ऋतुओं को
एक नाव पर चढ़े हुये हम उदधि पार करते हैं।[2]

इसी अंक में रसवन्ती में व्यक्त मातृत्व भाव को भी खुल कर विकसित होने का क्षेत्र मिलता है तथा भरत शाप के फलस्वरूप उठे हुये उर्वशी के मातृत्व और नारीत्व का संघर्ष भी बड़ी सुन्दरता के साथ व्यंजित होता है।

पांचवें अंक में पुरुरवा के भविष्य-सूचक स्वप्न, सन्यास, आयु के राज्यारोहण की घटनाएं हैं तथा औशीनरी के त्याग, पूर्ण समर्पण, और कुल-वधू तथा मातृत्व के दायित्व निर्वाह की जो योजना हुई है, वह भारतीय नारी की आंसूभरी परन्तु गौरवपूर्ण कहानी कहती है। पुरुरवा सब कुछ भोग कर भी रिक्त

---

१. उर्वशी, पृष्ठ १०८
२. उर्वशी, पृष्ठ ११०

और विषण्ण है और औशीनरी सब कुछ खोकर भी पूर्ण। विमाता में मातृत्व का यह गौरव भी भारतीय परिवेश में ही सम्भव हो सकता था—

> **फला न कोई शस्य, प्रकृति से जो भी अमृत मिला था,**
> **लहर मारता रहा टहनियों में, सूनी डाली में,**
> **किन्तु प्राप्त कर तुझे आज, बस, यही भान होता है।**
> **शस्य भार से मेरी सब डालियां झुकी जाती हों।**[1]

औशीनरी में यशोधरा का सा मान है—

> **और त्यागना ही था तो जाते-जाते प्रियतम ने**
> **ले लेने दी नहीं धूलि क्यों अन्तिम बार पदों की?**
> **मुझे बुलाए बिना अचानक कैसे चले गए वे?**
> **अकस्मात् ही मैं कैसे मर गई कान्त के मन में?**[2]

स्वकीया की निष्ठा और गम्भीरता से ऊब कर पुरुष नये सौन्दर्य और नई अनुभूतियों की खोज में घर की सीमाएं तोड़ कर बाहर जाता है। पत्नी के त्याग, समर्पण, सेवा-भाव, पूजा और आराधना से पुरुष के अहं की तुष्टि चाहे होती हो, उसकी प्रवृत्तियां तो उसे नित नूतनता के स्वाद की ओर ही ढकेलती है। उसकी तृष्णा केवल मंगलेषणा और शुभ कामना से नही पूरी होती। प्राणों के प्रार्थना भवन में ही ध्यान लगा कर पत्नी जीवन की बाजी हार जाती है— औशीनरी के मन में यही पश्चाताप शेष रह जाता है—

> **रही समेटे अलंकार क्यों लज्जामयी वधू सी?**
> **बिखर पड़ी क्यों नहीं कुट्टमित, चकित, ललित लीला में?**
> **बरस गई क्यों नहीं घेर सारा अस्तित्व दयित का**
> **मैं प्रसन्न, उद्दाम, तरंगित, मदिर मेघमाला सी।**[3]

सुकन्या पुरुष के स्वभाव से अधिक परिचित है। वह उसकी परिसीमाओ के प्रति सावधान और अपने दायित्वों तथा कर्तव्य कर्म की ओर से जागरूक है। उसे ज्ञात है कि चट्टानों और पहाड़ों से टक्कर लेने वाला दुर्जेय, भीम, विक्रान्त पुरुष भी अपने मन की तरंग और तृष्णा के सामने हार जाता है। संसार की और सब समस्याओं का समाधान पुरुष के पास है परन्तु अपनी ही बनाई हुई उलझनों से निकल सकने में वह असमर्थ होता है इसीलिए गृहस्थ नारी का

---

१. उर्वशी, पृ० १५४
२. वही, पृ० १५८
३. वही, पृ० १६०

दायित्व होता है कि वह सजग होकर पुरुष की आवश्यकताओं और अभावों को देखे—

इसीलिए, दायित्व गहन दुस्तर गृहस्थ नारी का ?
क्षण-क्षण सजग अनिद्र दृष्टि देखना उसे होता है,
अभी कहां है व्यथा ? समर से लौटे हुए पुरुष को
कहां लगी है प्यास, प्राण में कांटे कहां चुभे हैं ?[1]

'रसवन्ती' में नारी के जिस प्रेरक रूप का चित्रण कवि ने किया था सुकन्या की उक्तियों में उन्हीं का विकास हुआ है, समष्टि को नारी का योगदान पुत्र और पति के माध्यम से होता है। पुरुष कर्म है और नारी प्रेरणा, कर्म दृश्य और साकार है प्रेरणा अदृश्य और परोक्ष। इसीलिए, इतिहास केवल शौर्य की गाथा कहता है, नारी के मूक-एकान्त, नीरव भावनात्मक योगदान पर उसकी दृष्टि नहीं जाती। 'अर्धनारीश्वर' में व्यक्त पूर्व धारणा के अनुसार ही दिनकर ने यहां भी नारीत्व को देवत्व के अधिक निकट पाया है—

और देवि ! जिन दिव्य गुणों को मानवता कहते हैं
उसके भी अत्यधिक निकट नर नहीं, मात्र नारी है।
जितना अधिक प्रभुत्व तृषा से पीड़ित पुरुष-हृदय है,
उतने पीड़ित कभी नहीं रहते हैं प्राण त्रिया के।[2]

इस प्रकार उर्वशी के शृङ्गार के तीन विकास सूत्र मिलते है (१) उन्नयनित शृङ्गार, जिसके अन्तर्गत औशीनरी की वेदना, त्याग, गाम्भीर्य और दायित्व का भाव आता है। (२) सामंजस्यपूर्ण गार्हस्थिक शृङ्गार, जिसका प्रतिनिधित्व महर्षि च्यवन और सुकन्या द्वारा होता है (३) प्रवृत्तिमूलक, भोगप्रधान शृङ्गार जो उर्वशी और पुरुरवा के माध्यम से व्यंजित होता है। उर्वशी के विचार-प्रवाह की ये तीनों धाराएं एक दूसरे की विरोधी है यद्यपि निष्कामता तीनों में विद्यमान है। प्रथम में अहं का विलय है, द्वितीय में ऐकात्म्य और सामंजस्य है, तथा तृतीय का आधार आज का मनोविज्ञान है जिसके अनुसार मनुष्य का प्रत्येक कार्य काम-प्रेरित होता है। विचारात्मक काव्य की यह परिसीमा होती है कि कवि किसी यथार्थवादी निष्कर्ष पर नही पहुंच सकता, विशेष कर ऐसी स्थिति में जब कि उसका प्रतिपाद्य विषय द्वन्द्वमूलक हो। एक ही समस्या के विविध पहलू अलग-अलग दृश्य और समाधान प्रस्तुत करते हैं, और उन्ही पहलुओं में कवि की दृष्टि फंस जाती है। कुरुक्षेत्र के प्रतिपाद्य में तो एक ही पात्र (भीष्म) के

---

१. उर्वशी, पृ० १४३
२. वही, पृ० १६४

माध्यम से समस्या के दोनों पक्षों का उद्घाटन किया गया था। भीष्म एक प्रकरण में हिंसा और शौर्य की गर्जना करते हैं और दूसरे में अहिंसा और करुणा के स्वर में बोलते हैं। युधिष्ठिर का स्वर अलग ही स्थान रखता है। परन्तु कुरुक्षेत्र का समाधान क्या है ? विश्व में सद् और असद् का संघर्ष होता रहता है—सद् उदात्त आत्मा के आश्रय में पोषित होता है असद् अनुदात्त स्वार्थ वृत्तियों की चिनगारियों में। युद्ध, प्रथम की हार और द्वितीय की विजय का सूचक है—युधिष्ठिर के सद् को दुर्योधन के असद् का सामना करना पड़ता है—दुर्योधन का असद् ही विश्व में प्रधान है, उसके निराकरण के लिए आवश्यक है कि धरित्री पर वह अमृत की धार बरसे जिससे जनजन के मन से स्वार्थ का कलुष बह जाए, व्यक्ति अपनी दृष्टि से न सोच कर दूसरों की दृष्टि से सोचने लगे। कुरुक्षेत्र में युद्ध के निराकरण का समाधान यह दिया गया है। परन्तु क्या यह सम्भव है ? क्या युग-युगों के इतिहास में कभी ऐसा पृष्ठ जुड़ा है जब दुर्योधन बिरले और युधिष्ठिर अनेक हुए हों ? इस प्रकार का समाधान काल्पनिक और अव्यावहारिक होता है। उर्वशी में काम की समस्या का समाधान उन्नयन और सामंजस्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है पर इसका प्रतिनिधित्व करने वाली घटनाएं और पात्र गौण हैं। समस्या-प्रधान कृति में मूल प्रभाव कई होते हैं और उनकी व्यंजना भी केवल नायक-नायिका द्वारा नही, अन्य पात्रों द्वारा भी की जाती है। पुरुरवा का सन्यास और उर्वशी का प्रत्यागमन किस समाधान की ओर संकेत करता है ? मेरे विचार से तृतीय अक में चित्रित प्रवृत्तिमूलक प्रेम का समाधान देना कवि का ध्येय नही रहा है। आज के विचार-दर्शन मे जहा काम को जीवन की मूल प्रेरणा तथा जीवनेच्छा के पर्याय रूप में स्वीकार किया गया है, काम की प्रेरणा की समाप्ति और अभाव का अर्थ है जीवन-शक्ति का अभाव, जीवन जीने के उत्साह की समाप्ति। साधारण प्रतिभा का औसत व्यक्ति नैराश्य से समझौता कर लेता है, और असहाय के लिए उन्नयन का मार्ग सर्वश्रेष्ठ होता है—परन्तु पुरुरवा न साधारण है न असहाय। वह तो उस व्यक्ति का प्रतीक है जिसके व्यक्तित्व का देवोपम विकास हुआ है, जिसके स्नायविक तार चेतन और सजीव हैं तथा जिसका मन, स्वभाव से ही, ऊर्ध्वगामी और उड्डयनशील है, उसे काम के स्पर्श मात्र से प्रेम की समाधि का बोध होता है। प्रवृत्तियों को ही सत्य मान कर झंझा के समान जीने वाले व्यक्ति के नैराश्य का समाधान क्या हो सकता है ? उसके विराग की प्रतिक्रिया भी उतनी ही तीव्र होगी जितनी राग की। आज के परिवेश में जहां जीवन में काम और अध्यात्म एक दूसरे के पूरक नहीं होते, वहां घोर नैराश्य की प्रतिक्रिया स्नाय-

विक विकृतियों, ग्रात्महत्या ग्रौर कुंठाग्रों में होती है। यदि दिनकर प्रवृत्तियों के शासन में बंधे हुए व्यक्ति के दुर्भाग्यपूर्ण ग्रनिवार्य 'ग्रन्त' की ग्रोर संकेत न करते तो शायद पुरुरवा काम से टूटे ग्रौर बिखरे हुये व्यक्ति का प्रतिनिधित्व न कर पाता।

लेकिन मेरा विश्वास है कि चाहे हम इसको दोष मानें या गुण पुरुरवा ग्रौर उर्वशी के माध्यम से कोई समाधान प्रस्तुत करना कवि का उद्देश्य नहीं था। उसके ग्रपने ही शब्द हैं,[1]'प्रश्नों के उत्तर, रोगों के समाधान मनुष्यों के नेता दिया करते हैं। कविता की भूमि केवल दर्द को जानती है, केवल बेचैनी को जानती है, केवल वासना की लहर ग्रौर रुधिर के उत्ताप को पहचानती है।'[1]

शास्त्रीय ग्रौर परम्परावादी दृष्टि से देखने पर उर्वशी का दुर्बल पक्ष यह दिखाई देता है कि उसके प्रधान पात्र दर्द. बेचैनी ग्रौर वासना का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिसका परिणाम निराशा है ग्रौर गौण पात्र उन उदात्त मूल्यों ग्रौर ग्रादर्शों का जो दिनकर को ग्रपने संस्कारों ग्रौर परम्परा से मिलते हैं। यदि इसी तथ्य को उर्वशी के कवि द्वारा ज्ञापित उद्देश्य को ध्यान में रख कर देखा जाय तो तृतीय ग्रंक का एक-एक शब्द उस उद्देश्य की सिद्धि ग्रौर कवि के सामर्थ्य का प्रमाण देता है।

१. उर्वशी की भूमिका, पृष्ठ ६—दिनकर

पांचवां अध्याय

दिनकर का काव्य-शिल्प

भाषा और शब्द-समूह

शब्द भाव-प्रकाशन के मूल माध्यम हैं। जिस कवि का शब्द-कोष जितना समृद्ध होता है उसी के अनुसार उसकी भाषा-शैली भी समृद्ध होती है। कवि अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के निमित्त शब्द-ग्रहण कर उनके संकलन तथा कांट-छांट द्वारा उन्हें ऐसा रूप प्रदान करता है कि शब्दों का बाह्य रूप चाहे वही रहे परन्तु उसमें एक नए व्यंजक अर्थ का समावेश हो जाता है। अभीष्ट की अभिव्यक्ति के लिए कवि अर्थ-सौन्दर्य और शब्द-सौन्दर्य का सहविन्यास करता है। उसकी भाषा में शब्द और अर्थ एकात्म होकर एक दूसरे को सौन्दर्य प्रदान करते हैं। यदि शब्द भावों को यथोचित रूप से व्यक्त करने में असमर्थ होते हैं तो उनका अर्थ-संकेत दूषित माना जाएगा। प्रतिपाद्य की अभिव्यक्ति में कौन शब्द कितना उपयुक्त है यह जानना कवि का प्रथम कर्तव्य होता है। एक ओर उसे शब्दों की व्युत्पत्ति, उनके विभिन्न अर्थ तथा उनकी प्रकृति का ज्ञान होना आवश्यक है, दूसरी ओर अभिप्रेत की अभिव्यक्ति में समर्थ विषयानुकूल तथा प्रसगानुकूल शब्दों के प्रयोग का अभ्यास भी उसके लिए जरूरी होता है।

गद्य और काव्य-भाषा का अन्तर

साधारण बोलचाल की भाषा तथा काव्य-भाषा में एक सैद्धान्तिक अन्तर है। प्रथम में प्रयुक्त शब्दों का लक्ष्य केवल कथनमात्र होता है, उनका प्रयोग अधिकतर अभिधा में ही किया जाता है। शब्द के रूढ तथा निश्चित अर्थ से अधिक उसमे कोई ध्वनि अथवा संकेत निहित नही रहता। काव्य में सहृदय तथा कवि का संबंध बौद्धिक और रागात्मक दोनों ही स्तर पर होता है। इसलिए वैज्ञानिक तथा व्यावहारिक गद्य में जिन तत्वों का सयत्न निषेध किया जाता है काव्य मे वही तत्व बहुत महत्वपूर्ण होते हैं क्योंकि काव्य में प्रयुक्त शब्द किसी निश्चित अर्थ की अभिव्यक्ति द्वारा हमारी भावनाओं को झंकृत ही नहीं करते प्रत्युत अपने में अन्तर्निहित प्रसंग-गर्भित लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ अथवा ध्वन्यार्थ के द्वारा एक वातावरण की सृष्टि करके उसका संप्रेषण सहृदय तक करते हैं। बाह्य जगत के

साथ रागात्मक सम्पर्क के फलस्वरूप अनेक चित्र कवि की कल्पना में उद्भूत होकर एकरूप हो जाते है और जिन शब्दों के द्वारा कवि उनकी अभिव्यक्ति करता है, उनमें अन्तर्निहित भाव जितने प्रभावोत्पादक होते है, कोश में दिए गए उन शब्दों के निर्दिष्ट और निश्चित अर्थों में उतनी सामर्थ्य नही होती। काव्य-शैली में एक-एक शब्द वीणा के स्वर के समान झंकृत होता है और सहृदय पर अपनी झंकारों की प्रतिध्वनि छोड़ जाता है। जिस विशिष्ट अभीष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति कवि शब्द-विशेष के द्वारा करता है उसकी प्राप्ति उसे अनवरत शब्द-साधना द्वारा होती है। हृदय में अंकित अनेक चित्र, कल्पना के सहारे रूप ग्रहण करना चाहते हैं। भाव अथवा अर्थ और बाह्य जगत से गृहीत अभिव्यंजना के माध्यम (विभिन्न उपमान तथा प्रतीक आदि) उसकी कल्पना-दृष्टि में विद्यमान रहते हैं। कवि अपनी अभिरुचि तथा आवश्यकता के अनुसार दोनों का समन्वय करता है। सर्वश्रेष्ठ काव्य वही है जिसमें दोनों तत्वों का प्रयोग संतुलित रूप में किया जाता है। अपरिभाष्य अनुभूतियों (अर्थ) और पारिभाषित शब्दों में निहित निश्चित तत्व का सफल तादात्म्य ही श्रेष्ठ काव्य की कसौटी है। साहित्य का बाह्य रूप ऊपर से आरोपित नहीं होता। उसमें विभिन्न सम्बद्ध एकांकों का जटिल प्रबन्धन होता है जिसके व्यावहारिक आधार-स्तम्भ शब्द हैं। शब्द स्वयं भी विभिन्न ध्वनियों तथा संकेतों का संश्लिष्ट रूप होता है।

व्यावहारिक गद्य तथा काव्य का अन्तर शब्दों के बाह्य रूप में नहीं प्रत्युत् उनकी योजना-पद्धति मे है। कविता का लक्ष्य काल्पनिक प्रतिकृतियों द्वारा, तथ्यों की नहीं अनुभूत्यात्मक सत्यों की अभिव्यक्ति करना होता है। कविता के शब्द कवि-हृदय के भावनात्मक तथा अनुभूत्यात्मक तत्वों के सम्पर्क तथा संसर्ग से एक नई शक्ति ग्रहण करके उसे अपने में अन्तर्निहित कर लेते हैं। कविता में शब्द प्रसंग-गर्भित होते हैं। वे पूर्ण रूप से भावनाओं में ही रंजित हो जाते हैं। परिचित शब्दावली में कल्पना-चित्रों द्वारा नवीन अर्थबोध प्रदान करके कवि अपनी सृजनात्मक शक्ति का प्रयोग करता है जिसके द्वारा उसकी भावनाओं तथा अनुभूतियों के साथ सहृदय का साधारणीकरण करता है। यदि कवि की कल्पना-शक्ति दृढ़ और सबल हो तो पदावली के एक-एक शब्द का उसके साथ ऐकात्म्य हो जाता है। इस समीकरण और विभावक एकरूपता के अभाव में शब्द, शब्दमात्र रह जाते हैं, प्रसंग-गर्भित प्रतीक रूप नहीं धारण कर पाते। शब्दों की सत्ता अपने आप में न काव्यात्मक है, न अकाव्यात्मक। शब्दों की काव्यात्मकता इस तथ्य पर निर्भर रहती है कि कवि किस सीमा तक अपने शब्दों तथा काल्पनिक प्रतिकृतियों का समीकरण कर सका है।

ऐतिहासिक दृष्टि से शब्दों के विभिन्न रूप

ऐतिहासिक दृष्टि से शब्द मुख्यतः चार प्रकार के होते हैं—तत्सम, अर्ध-तत्सम, तद्भव और देशज। इनके अतिरिक्त विभिन्न संस्कृतियों और विभिन्न भाषाओं के साहित्य से आदान-प्रदान के द्वारा अनेक विदेशी शब्द भी किसी भाषा में स्थायी रूप से स्थान प्राप्त कर लेते हैं। कुशल कवि का कौशल यही है कि वह अपनी लेखनी की छेनी से उन्हें भी अपने में मिला ले। किसी भी कवि की भाषा केवल तत्सम, तद्भव या किसी एक ही शब्द रूप द्वारा निर्मित नहीं हो सकती। हर प्रकार के शब्दों का प्रयोग करके कवि अपनी भाषा को व्यापक रूप देता है। तत्सम-बहुल भाषा का प्रयोग ही यदि साध्य बन जाय तो भाषा काव्य-भाषा न बनकर एक ओर पहेलिका-सी बन जाती है तो दूसरी ओर उसमें कर्णकटुत्व आ जाता है। आदर्श भाषा मे इन सभी प्रकार के शब्दों का मिश्रण-सा रहता है। भाषा की तत्समता उसे गरिमापूर्ण बनाती है तो तद्भव शब्द उसे सहजता प्रदान करते हैं। भाषा चाहे तद्भव-प्रधान हो अथवा तत्सम, उसकी सबसे अनिवार्य विशेषतायें हैं औचित्य और संतुलन। अरस्तू ने सम्पूर्ण शब्द-समूह को आठ भागों में विभाजित किया है। उसके अनुसार प्रत्येक शब्द निम्नलिखित वर्गों में से किसी एक के अन्तर्गत आ जाता है।[1]

१. प्रचलित शब्द
२. अप्रचलित शब्द
३. लाक्षणिक शब्द
४. आलंकारिक
५. नवनिर्मित
६. व्याकुंचित
७. संकुचित
८. परिवर्तित

प्रथम दो वर्ग के शब्द अपने आप में स्पष्ट हैं, शेष की परिभाषाएं टिप्पणी के अन्तर्गत दी जा रही हैं।[2]

१. अरस्तु का काव्य-शास्त्र, पृष्ठ ५५, अनुवादक—डा० नगेन्द्र

२. Metaphorical word—Application of an alien name by transference either from genus to species or from species to genus or from species to species.
Ornamental—A newly coined word is one which has never been even in local use, but is adopted by the poet himself. A word is lengthened when it's own vowel is exchanged for a

(*Contd. on next Page*)

अरस्तू के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि का प्रमुख ध्येय अपने प्रतिपाद्य को प्रभावोत्पादक बनाना है। इस अभीष्ट की पूर्ति के लिए कवि शब्दों के साथ हर प्रकार की स्वतन्त्रता ले सकता है। जहां तक शब्द-चयन का सम्बन्ध है उन्होंने काव्य में असाधारण और अप्रचलित शब्दों का प्रयोग ही अधिक उपयुक्त माना है। काव्य-भाषा के विषय में उनका अभिमत उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अलंकार-शास्त्र' में उल्लिखित है।[1]

ग्रे के अनुसार किसी युग में प्रचलित समसामयिक शब्द उस युग की काव्य-भाषा के शब्द नही हो सकते। तत्सम शब्दों में प्रचलित शब्दों की अपेक्षा कहीं अधिक गहनता होती है। ड्राइडन ने प्रतिपाद्य के उपयुक्त शब्दों का प्रयोग ही उचित माना है। जब किसी प्राचीन शब्द का प्रयोग उसकी ध्वनि तथा औचित्य के आकर्षण की दृष्टि से किया जाता है और वह शब्द बोधगम्य होने के साथ-साथ अभीष्ट प्रभावोत्पादन की शक्ति भी रखता है तो उसका ही प्रयोग श्रेष्ठ है परन्तु यदि प्राचीन तत्सम शब्दों के प्रयोग से कविता दुरूह और दुर्बोध हो जाती है तो कविता एक शब्द-संग्रह का रूप ग्रहण कर लेती है।

कहीं-कहीं पुरातन शब्दावली का प्रयोग प्रतिपाद्य के साथ बिल्कुल भी मेल नहीं खाता परन्तु कविता में नये शब्दों के प्रयोग की कसौटी भी बोधगम्यता, सहजता और औचित्य ही होती है। प्रत्येक जीवित भाषा में अनवरत रूप से नये शब्दों का निर्माण और विकास होता रहता है। कविता में उनका निषेध

(Contd. from previous Page)

longer one or when A syllable is inserted. A word is contracted when some part of it has been removed.
An altered word is one in which part of ordinary meaning is left unchanged and part is re-cast.

1. The diction of prose and the diction of poetry are distinct. One virtue of diction may be defined to be clearness. If our language does not express our meaning it will not do its work. It ought to be neither low nor dignified but suitable to the subject. Diction is made clear by nouns and verbs used in their proper sense. Deviation from the ordinary idiom makes diction more impressive and as men are differently impressed by foreigners so are they affected by styled. Hence we may give a foreign air to our language. For men admire what is far from them. In the case of metrical composition there are many things which produce this effect. We must speak naturally and not artificially. The natural is persuasive the artificial is the reverse. Synonyms are most useful for the poets.

Rhetorics III I 8 —II—7 (from Basic works of Aristotle).

असम्भव है। कविता में तत्सम तथा अन्य प्रकार के शब्दों के प्रयोग का अनुपात कई तथ्यों पर निर्भर रहता है। कवि प्रतिपाद्य के उपयुक्त अभिव्यंजना का रूप-निर्माण करता है। कुछ सीमा तक यह सत्य जान पड़ता है कि गम्भीर, विशद, व्यापक तथा दार्शनिक पृष्ठभूमि से युक्त साहित्य मे पुरातन शब्दावली के प्रयोग से एक भव्यता आ जाती है परन्तु नए और पुराने शब्दों का अथवा जनभाषा और प्राचीन भाषा के शब्दों का प्रयोग वैयक्तिक रुचि और संस्कार पर ही निर्भर रहता है। तुलसीदास तथा जायसी दोनों ने अपने महाकाव्यों में व्यापक सिद्धान्तों का समावेश किया परन्तु दोनों की शब्दावली में आकाश-पाताल का अन्तर है। तुलसी की भाषा के पीछे अगाध पांडित्य और उनके गम्भीर दार्शनिक होने का आभास मिलता है परन्तु जायसी की प्रेमाभिभूत सौन्दर्य भावना सीधी, सरल, जनपदीय भाषा में ही व्यक्त है।

विन्यास की दृष्टि से शब्द-भेद

विन्यास की दृष्टि से काव्य में प्रयुक्त होने वाले शब्द दो प्रकार के होते हैं—समस्त और असमस्त। समस्त शैली की पदावली प्रयास-साध्य होती है, इसमें प्रायः भाव भाराक्रान्त हो जाता है। इस शैली में शब्द इतने प्रधान हो जाते है कि भाषा का रूप तो अस्वाभाविक हो ही जाता है भाव भी शब्दजाल में भटक जाते है। ऐसा जान पड़ता है कि शब्द कवि के आधीन नहीं, कवि शब्द के आधीन हो गया है। असमस्त शब्दों मे प्रयुक्त भाषा में भाव और अभिव्यंजना का ऐकात्म्य बड़े स्वाभाविक रूप से हो जाता है; न भाषा जटिल होने पाती है और न भाव-सौन्दर्य विकृत होता है।

शब्द-निर्माण

जब कवि का भावोद्रेक नूतन-पुरातन, समस्त-असमस्त किसी प्रकार की पदावली में अपने मनोनुकूल व्यंजना-शक्ति नहीं प्राप्त करता तो वह नये शब्दों का निर्माण कर डालता है। शब्द-निर्माण-कला भी कवि-प्रतिभा की परिचायक होती है; जहां इस कला का प्रयोग चमत्कार-वृद्धि की प्रेरणा से किया जाता है वहां भाषा का सहज प्रसाद गुण चला जाता है।

अनेक बार कवि शब्दों को काव्य-भाषा के उपयुक्त बनाने के लिए उनका रूप परिष्कृत करता है, तथा शब्द के प्रकृत रूपों को परिवर्तित करके उनका प्रयोग करता है। इस रूप से निर्मित शब्दों द्वारा भावोत्कर्ष तथा रूप-सौन्दर्य काव्य के दोनों ही पक्षों की समृद्धि होती है परन्तु यदि इस निरंकुश प्रयोग में

अस्पष्टता आ गई तो उत्कर्ष के स्थान पर अपकर्ष हो जाता है। भाव-व्यंजकता और चित्रमयता शब्दों का सर्वप्रधान गुण है।

दिनकर की भाषा

दिनकर की भाषा की सब से बड़ी विशेषता है अभिव्यक्ति की स्वच्छता। इस अभीष्ट की प्राप्ति उन्होंने सर्वत्र ऋजु, सहज, सार्थक और भावानुकूल शब्दों के प्रयोगों द्वारा की है। चाहे उनकी भाषा हुंकार की आग बरसा रही हो, रसवन्ती के रस की अभिव्यक्ति के लिए शब्द खोज रही हो, जीवन के वैषम्यों और कठोर यथार्थ को व्यक्त करने के लिए अकुला रही हो, अथवा कुरुक्षेत्र और उर्वशी के अन्तर्मन्थन को रूप देने की चेष्टा कर रही हो, उसकी गतिमयता, सरसता और प्रसन्न गम्भीरता में अन्तर नहीं आता। दिनकर को शब्दों की अन्तरात्मा का ज्ञान है; यह कहने की अपेक्षा यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि उनमें अपने भावों को शब्दों मे भर देने की सामर्थ्य है। उनके द्वारा प्रयुक्त भावगर्भित शब्द अपने चारों ओर एक वातावरण का निर्माण कर देते हैं। उनके शब्द ससंदर्भ भावगर्भित, अर्थ-गर्भित और चित्रमय होते हैं तथा उनका शब्दकोश समृद्ध, व्यापक और अक्षय है। विभिन्न पर्यायों के प्रयोगों की कुशलता और उपयुक्तता उन्हें कुशल भाषा-शिल्पी सिद्ध करती है। उनकी शब्द-योजना की एक प्रमुख विशेषता है उसकी लाक्षणिक रमणीयता। लाक्षणिक शब्दों में यदि दुरूह-कल्पना हो तो भाषा के प्रसादत्व की हानि होती है, परन्तु दिनकर के लाक्षणिक शब्द इस दोष से मुक्त है।

दिनकर की कविता मे लाक्षणिक अर्थ-सौरस्य अधिकतर संस्कृत के तत्सम शब्दों में मिलता है। वे प्राय: संस्कृत के क्लिष्ट और दुरुह शब्दों के प्रयोग को बचाते हैं, लेकिन जहां वह शब्दों में भाव, चित्र और वातावरण एक साथ गुम्फित करना चाहते हैं वहां संस्कृत के प्रचलित शब्दों की अपेक्षा दुरूह शब्दों का प्रयोग करते हैं। 'आलोकधन्वा' की कुछ पंक्तियां इस कथन के प्रमाण रूप में ली जा सकती है—

ज्योतिर्धर कवि मैं ज्वलित सौर मण्डल का,
मेरा शिखण्ड अरुणाभ, किरीट अनल का।[1]

क्रान्ति के वाहक के इस आलोकपूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण इन पंक्तियों में प्रयुक्त तत्सम शब्दों में निहित आभा और प्रखरता द्वारा ही हुआ है।

भावानुकूल और सहज होने के कारण उनके तत्सम शब्द भावों की

---

१. हुंकार, पृष्ठ ४

प्रेषणीयता में बाधक नहीं साधक होते है। उनका अर्थ समझने के लिए कोश उठाने की आवश्यकता नही पड़ती। उन्होंने अधिकतर हिन्दी में प्रचलित संस्कृत शब्दों का ही प्रयोग किया है परन्तु अप्रचलित और दुरूह शब्दों का भी अभाव नहीं है। शब्द-समूह को भाषा-विन्यास से अलग उद्धृत करने से यद्यपि किसी कवि की भाषा का रूप निर्धारित नही किया जा सकता फिर भी उसके शब्द-कोश में प्रचलित और अप्रचलित शब्दों के अनुपात का कुछ आभास तो मिल ही जाता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर दिनकर द्वारा प्रयुक्त तत्सम शब्दों की एक छोटी सूची प्रस्तुत की जा रही है। कुछ तत्सम शब्द ये है—

तमिस्र, अर्चिपुज, भावभृथ, घूर्णि, दन्तुरित कृशानु, म्रियमाण, ज्योतिर्धर, प्रकम्पित, वपु, परिष्वंग, विभ्राट, कस्मैदेवाय, व्याहार, लेलिह्य, ऋत्विक, ऋचा, विविक्त, आकुंचन, चक्षुश्रवा, चक्षुष्विनी, उत्क्रान्ति, सन्दीप्ति, खग्रास इत्यादि।

तत्सम शब्दों का पूर्ण वैभव 'उर्वशी' में देखा जा सकता है। जहां भावों की ऊंचाई और विचार-गाम्भीर्य संस्कृत शब्दों के अन्तर में भर दिया गया है। उर्वशी में शब्दों का अनुपात दिनकर की पूर्व कृतियों से प्रायः उल्टा हो गया है। वास्तव में उसके प्रतिपाद्य की गम्भीरता, गरिमा और विशदता के निर्वाह के लिए पुरातन शब्दावली के प्रयोग से भव्यता आ गई है। उसमें प्रयुक्त थोड़े-बहुत जनपदीय और तद्भव शब्द भी कुछ आलोचकों के कानों को खटके हैं।

तत्सम शब्दों का प्रयोग दिनकर ने अधिकतर या तो दार्शनिक तत्वों के निरूपण के लिए किया है अथवा शब्दों की अर्थवत्ता के कारण चित्र-निर्माण के लिए। कहीं-कही समस्त पदावलियां दिनकर को चिरपरिचित ऋजु, सहज, फिसलती हुई शैली से दूर जा पड़ी है। पवनान्दोलित, निविडस्तननता, मुष्टि मध्यमा प्रस्तरावरण, ऋक्षकल्प इत्यादि शब्दों के प्रयोग प्रतिपाद्य से अलग सुनने में खटकते है, परन्तु, वास्तव में उनके द्वारा 'उर्वशी' की गरिमा और भव्यता की रक्षा हो सकी है।

इस प्रकार के उदाहरणों को अपवाद रूप में लिया जा सकता है। उर्वशी में भी दिनकर की तत्सम शब्दावली दुरूहता और क्लिष्टता के दोष से अधिकतर बच कर प्रसन्न और प्रफुल्ल बनी रही है। जैसे—

मैं कला-चेतना का मधुमय प्रच्छन्न स्रोत,
रेखाओं में अंकित कर रंगों के उभार,
भंगिमा, तरंगित वर्तुलता, वीचियां, लहर,
तन की प्रकान्ति रंगों में लिए उतरती हूं।[1]

---

१. उर्वशी, पृष्ठ ९७—दिनकर

दो प्राणों से उठने वाली वे झंकृतियां गोपन मधुमय,
जो अगरु-धूम-सी हो जातीं, ऊपर उठ एक अपर में लय।
दो दीपों की सम्मिलित ज्योति वह एक शिखा जब जगती है,
मन के अगाध रत्नाकर में यह देह डूबने लगती है।[1]

दिनकर के सम्पूर्ण काव्य साहित्य में एकाध ऐसे स्थल भी हैं जहां उनकी शब्दावली भाव से असम्पृक्त रह गई है, ऐसा प्रतीत होता है कवि जानबूझ कर अप्रचलित शब्दों को चुन-चुन कर संकलित कर रहा है। यह संकलन औचित्य और संतुलन के अभाव में भाव से सम्पृक्त नही हो पाया है।

मेरी ध्वनि के छा गए त्रिदिव में प्रतिध्वान
सुरत्वर्म स्तब्ध रुक गया, विभावसु का विमान।
दृग्बिद्ध विवश फट रहा छिन्न घन-सा प्रकाश,
गुंजित अम्बर के रन्ध्र रन्ध्र में अग्नि-हास।[2]

तत्सम शब्दों के बाहुल्य के होते हुए भी उर्वशी की भाषा के अतिरिक्त दिनकर की भाषा को तत्सम-प्रधान नही कहा जा सकता। उनके तत्सम शब्द तद्भव शब्दों के साथ मिलजुल कर आये हैं, और व्यंग्यपूर्ण और सामाजिक कविताओं मे भाषा की भावानुकूलता की रक्षा के लिए साधारण बोल-चाल की भाषा का प्रयोग ही प्रचुरता के साथ हुआ है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि दिनकर द्वारा प्रयुक्त तत्सम शब्दों के प्रयोग में औचित्य और संतुलन का निर्वाह हुआ है। ये शब्द उनके प्रतिपाद्य की गम्भीरता और भव्यता के प्रतिपादन मे सहायक हुए है। तथा इन्ही के द्वारा उनकी भाषा मे लाक्षणिक भाव-गर्भत्व, अर्थ-गरिमा और चित्र-मयता का संश्लिष्ट प्रयोग हो सका है।

तद्भव तथा देशज शब्द

भाषा में सहजता की रक्षा करने वाला प्रत्येक कवि तद्भव शब्दों का ही आश्रय लेता है। तत्सम की गम्भीरता के साथ तद्भव शब्दों की सहजता का समन्वय कर दिनकर ने अपनी भाषा को सहज-स्वाभाविक बनाया है। निठुर, सपना, ब्याह, सुहाग, नैन छाँह, हिया, पिया, इत्यादि शब्दों के प्रयोग से उनकी भाषा जीवन की भाषा के निकट आ गई है। कहीं-कही तो इन्ही के द्वारा रमणीयता और स्वाभाविकता का समावेश किया गया है। जैसे—

---

१. उर्वशी, पृष्ठ ६८
२. हुंकार, पृष्ठ १२

मां की ढीठ दुलार, पिता की ओ लजवन्ती भोली
ले जायेगी हिया की मणि को, अभी पिया की डोली।[1]

लाजवती, हृदय और प्रिय यहां वह काम नहीं कर सकते थे जो लजवन्ती, हिया, पिया ने कर दिखाया है। सरल ग्रामीण किशोरी नववधू का रूप और उसकी विदा की बेला इन शब्दों के प्रयोग से बड़ी मनोरम बन पडी है, यहां तद्भव शब्दों के प्रयोग का सामान्य रूप नहीं है, बल्कि कवि ने सचेष्ट होकर वर्ण्य विषय को चामत्कारिक और प्रभावोत्पादक बनाने के लिए यह प्रयोग किया है।

स्थानीय शब्दों के प्रयोग में भी दिनकर सिद्धहस्त हैं। उन्होंने स्थानीय शब्दों के प्रयोग से भाषा में अनुरंजक, अनुभूतिपरक और आत्मीयता का स्पर्श दिया है। इन प्रयोगों से भाषा के कृत्रिम बन्धन टूटते से जान पडते है, उसका रूप खिल जाता है। कही-कहीं तो कविता की पूरी पंक्तियो मे ही स्थानीय शब्दो का प्रयोग है—

भैया ! लिख दे एक कलम खत मो बालम के जोग
चारों कोने खेमकुसल मांझे ठा मोर **वियोग**।[2]

* * *

चौपालों में बैठ कृषक गाते कहं अटके बनवारी।[3]

इन प्रयोगों से उनकी भाषा जन जीवन के निकट होकर यथार्थ और स्वाभाविक हो गई है। अनेक आलोचकों ने दिनकर पर स्थानीय शब्दों के प्रयोग का दोष लगाया है, पर मेरे विचार से ये स्थानीय शब्द दिनकर की भाषा में अनुभूति भर देते हैं। जैसे—

वह छिगुन छिगुन **रह जाती है**[4]
इस गुमरते **दर्द की यह टीस**[5]
ओदी **आंच धुनी विरहिन की**[6]
पलकें जोग **रही**[7]

टुक, हेरना, हलराना, सिराना, रिसना, बालना, हांक, अथोर, उलरना, खंगालना, जैसे शब्दों के द्वारा वातावरण के चित्रण में यथार्थ स्वाभाविक और मधुर पुट दिए गए हैं। उर्वशी की तत्सम-बहुल भाषा में भी इन स्थानीय शब्दों

१. रसवन्ती, पृष्ठ २१
२. हुंकार, पृ० ३२
३. हुंकार, पृ० ३२
४. रेणुका, पृष्ठ ५५
५. रसवन्ती, पृ० २३
६. रसवन्ती, पृ० २१
७. हुंकार, पृ० ५०

और क्रिया के प्रयोगों से अभिव्यक्ति को सुन्दर और स्वाभाविक बनाया गया है। जैसे—

> सच में, यह प्रत्यक्ष जगत कुछ उतना कठिन नहीं है[1]
> दांत पजाती हुई घात में छिपी मृत्यु बैठी है[2]
> पर तत्क्षरण सब बिला गया[3]

निष्कर्ष यह है कि शब्द-संकलन में दिनकर की दृष्टि सबसे पहले उसकी भावानुकूलता पर रहती है, उनके शब्द-कोश की सीमायें नही है। 'उर्वशी' जैसे गम्भीर दार्शनिक प्रतिपाद्य के लिए वे संस्कृत शब्द-समूह पर निर्भर रहे है, जिससे उसकी गरिमा और गाम्भीर्य का निर्वाह भव्यता से हो सका है ; भाव, विचार और चित्र तीनों का संश्लिष्ट-विन्यास यहां तत्सम शब्दों के माध्यम से ही सम्भव हुआ है। अनुभूति की सहजता और ऋजुता की उपलब्धि वे तद्भव, और प्रचलित तत्सम शब्दों में कभी-कभी देशज का पुट देकर करते है—और हल्की-फुल्की, चलती हुई यथार्थवादी भाषा के लिए उर्दू-हिन्दी की गंगा-जमुनी काम में लाते है। इस दिशा में उनकी दृष्टि सारग्राहिणी और उदार है।

विदेशी शब्द

उर्दू फारसी के शब्दों से दिनकर को चिढ़ नही है। यह कहना चाहिए कि भाषा की सहजता और स्वाभाविकता के निर्वाह के लिए दिनकर इन्हीं शब्दों के ऋणी हैं। हिन्दी-उर्दू के गंगा-जमुनी रूप के उदाहरण 'द्वन्द्वगीत' और अन्य सामाजिक यथार्थवादी कविताओं में मिलते हैं। इन शब्दों के प्रयोग से उनकी भाषा में गत्यात्मकता आ गई है। उदाहरण के लिए—

> मैंने देखा आबाद उन्हें, जो साथ जीस्त के जलते थे
> मंजिल मिली उन वीरों को जो अंगारों पर चलते थे।
>
> * * *
>
> जिनमें बाकी ईमान, अभी वे भटक रहे वीरानो में
> दे रहे सत्य की जांच, आखिरी दम तक रेगिस्तानों में।[4]

इसी प्रकार की शब्दावली द्वारा स्वतन्त्रता की पहली वर्षगांठ कविता में व्यक्त व्यंग्य द्रष्टव्य है—

> बिक रही आग के मोल आज हर जिन्स मगर
> अफसोस आदमीयत की हां कीमत न रही[5]

---

१. उर्वशी, पृष्ठ ६७
२. उर्वशी, पृ० ६
३. उर्वशी, पृष्ठ ७५
४ द्वन्द्व गीत, पृष्ठ ५३
५. नीम के पत्ते, पृष्ठ १८

हिन्दी में उर्दू के ये शब्द मिलकर उसके ही अंग बन गए है। दिनकर के काव्य में उर्दू फारसी शब्दावली का प्रयोग काफी संख्या में हुआ है—कुछ शब्दों की सूची इस प्रकार है—

मुन्तजिर, कफस, परवाज़, कयामत, तूफां, जन्नत, गुलची, मर्सिया, पैमाना, आरज़ू, नक्काद, दाग, बेकस, निशात, समां, रूह, रवानी, दर्द, होश, नूर, तूर, इज्ज़त, राज़, इत्यादि।

कुरुक्षेत्र की परवर्ती रचनाओं में दिनकर की भाषा पर अंग्रेजी के शब्द-समूह और मुहावरों का प्रभाव मिलता है। स्वतन्त्रता के पश्चात् जब उनकी कविता ने राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना के अतिरिक्त जीवन के अन्य क्षेत्रों से भी प्रतिपाद्य विषय ग्रहण करना आरम्भ किया, उनकी कविता में नया मोड़ आया। नील कुसुम, नये सुभाषित, उर्वशी, यहां तक कि परशुराम की प्रतीक्षा में संकलित मुक्तक कविताओं में अंग्रेजी की शब्दावली और मुहावरे रूपान्तरित हो कर प्रयुक्त हुए है। अवकाश के क्षणों में पाठक के हृदय और बुद्धि को गुदगुदाने के उद्देश्य से लिखे गए सुभाषितों में यह प्रभाव विशेष रूप से दिखाई देता है। इस प्रकार के प्रयोगों में मौलिकता का अभाव अवश्य देखा जा सकता है। लेकिन दिनकर की शब्दावली पर यह दोष लगाना अन्याय होगा। सारग्राहक वृत्ति का कवि जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से शब्द ग्रहण करता है। ये प्रयोग उनके अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन के परिणाम है तथा इनके द्वारा हिन्दी की व्यंजना-शक्ति बढ़ी है, उसकी हानि नहीं हुई।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, दिनकर की भाषा-नीति का सबसे प्रथम, प्रमुख और अनिवार्य अनुबन्ध है उसकी भावानुकूलता। जन-जीवन से सम्बन्धित प्रतिपाद्य के अनुकूल भाषा-निर्माण के लिए जैसे उर्दू, हिन्दी और संस्कृत के प्रचलित शब्दों का वे साथ-साथ प्रयोग करते रहे है, वैसे ही अंग्रेजी के शब्द भी आवश्यकता पड़ने पर वे उसी प्रकार अपनाते हैं जैसे वे विदेशी भाषा के शब्द न होकर हिन्दी के अपने शब्द हैं। 'एनार्की' कविता को इस प्रवृत्ति की कविता के उदाहरण रूप में लिया जा सकता है। दो-एक उदाहरण पर्याप्त होंगे—

> **एक कैबिनेट के अनेक यहाँ मुख हैं**
> **डिमोक्रेसी दूर करो हमें तानाशाह दो**
> **चिन्तन में सोशलिस्ट गर्क है,**
> **कम्युनिस्ट और कांग्रेसी में क्या फर्क है**
> **रेलवे का स्लीपर उठाये कहां जाता है**[1]

---

१. परशुराम की प्रतीक्षा, पृ० ६१-६२

इस प्रकार दिनकर की भाषा का सबसे बड़ा गुण है उसका लचीलापन। 'उर्वशी' की तत्सम-बहुल भव्य भाषा, कुरुक्षेत्र की सहज गतिमयी प्रसादपूर्ण भाषा, 'रसवन्ती' की कोमल मधुर शब्दावली—और नए सुभाषित तथा एनार्की जैसी कविताओं की चलती हुई भाषा, तीनों के रूप अलग-अलग है। कविता की आत्मा के अनुकूल उसके बाह्य-रूप की निर्माण-कला में दिनकर सिद्धहस्त हैं। दिनकर की इस सिद्धि का सबसे बड़ा कारण यह है कि उनके मन में प्रतिपाद्य का रूप प्रधान रहता है, उनका ध्यान शब्दों पर केन्द्रित न होकर भावों पर केन्द्रित रहता है। अपने काव्य-सृजन की प्रक्रिया में शब्दों के प्रयोग के सम्बन्ध में दिनकर के विचार द्रष्टव्य है। "शब्दों का चयन मै उनके रूप नहीं, सामर्थ्य के कारण करता था।···मैं मकान खड़ा करने के काम मे इतना व्यस्त हो जाता था कि पत्थरों को छेनी और हथौड़ी से गढ़ने या चिकना करने का कार्य मुझे अप्रिय और फालतू सा लगता था। मेरी सारी चेष्टा इस बात पर केन्द्रित थी कि भीतर जो आग उबल रही है, वह फूट कर बाहर आ रही है या नही तथा जो भी इसके पास आएगा उसे छू सकेगी या नही।" रेणुका से लेकर 'परशुराम की प्रतीक्षा' तक, दिनकर के शब्द-चयन का मुख्य उद्देश्य रहा है अभिव्यक्ति की सफाई। भाषा की शुद्धि-अशुद्धि से अधिक ध्यान उनका इस बात पर रहता है कि जिस मन:स्थिति और भाव को वह प्रेषित करना चाहते है, उसे उनके शब्द व्यक्त कर रहे है कि नहीं। इस उद्देश्य की पूर्ति वे शब्दों को तोड़-मरोड़ कर अशुद्ध करके भी करते है, चाहे उस समय उनकी सौन्दर्य-चेतना उद्‌बुद्ध हो अथवा उनका शिवत्व। सामिधेनी के स्थान पर सामधेनी और रसवती की जगह रसवन्ती का प्रयोग उनकी इसी प्रवृत्ति का द्योतक है।

दिनकर द्वारा प्रयुक्त मुहावरे तथा लोकोक्तियां

मुहावरे और लोकोक्तियों का प्रयोग प्राय: दो उद्देश्यों से किया जाता है। भाषा में वक्रता, विदग्धता अथवा जबांदानी के लिए तथा सूक्ष्म और जटिल भावों की तीक्ष्ण अभिव्यक्ति के लिए। दीर्घकालीन परम्परा से चली आती हुई इन उक्तियों में समय की सीमा का अतिक्रमण करके जीवित रहने की शक्ति निहित रहती है। इसमें समाज के सम्मिलित अनुभव अपने लक्ष्यार्थ में रूढ़ होकर अभिव्यंजना के प्रमुख माध्यम बन जाते हैं।

दिनकर के शब्द-संकलन की भांति ही, मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग मुहावरों के परिधान में उनकी अनुभूति और भी प्रखर और तीव्र हो उठती है। मुहावरों के प्रयोग में लेखक को सब से बड़ी सावधानी यह बरतनी पड़ती है कि अनुभूति के साथ ये असम्पृक्त न रह जाएं। दिनकर के मुहावरे अनुभूति

के साथ एकात्म होकर प्रयुक्त हुए हैं अथवा यह कहना अधिक उपयुक्त होगा, कि अधिकतर ऐसे स्थलों पर वे भाव के अंग बन कर आए हैं जहां विषय-वस्तु और अभिव्यंजना का पार्थक्य मिट गया है। 'रश्मिरथी' में जहां दिनकर की कलम बायें हाथ में आ गई है उन्होंने मुहावरों का चमत्कार-प्रदर्शन आरम्भ कर दिया है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

धर कर चरण विजित शृंगों पर झंडा वही उड़ाते हैं
अपनी ही उंगली पर जो खंजर की जंग छुड़ाते हैं।
पड़ी समय से होड़ खींच मत तलवों से कांटे रुक कर
फूंक-फूंक चलती न जवानी चोटों से बचकर झुककर।[1]

हम धोते हैं घाव इधर सतलज के शीतल जल से
उधर तुझे भाता है इन पर नमक हाय छिड़काना।[2]

फट न जाय अम्बर की छाती।[3]

अपना रक्त पिला देती यदि फटती आज वज्र की छाती।[4]

अभय बैठ ज्वालामुखियों पर अपना मन्त्र जगाते हैं;
ये हैं वे जिनके जादू पानी में आग लगाते हैं।[5]

एक घाट पर किस राजा का रहता बंधा प्रणय है।[6]

लोकोक्तियों का भी उनकी कविता में अभाव नहीं है—

थके सिंह आदर्श ढूंढ़ते व्यंग्य-बाण सहते हैं।[7]

जीवन के दिन चार अवधि उससे भी अल्प जवानी की।[8]

है फर्क मगर काशी में जब वर्षा होती
हम नहीं तानते हैं छाते बरसाने में।[9]

'नए सुभाषित', 'नील कुसुम' और 'उर्वशी' में पुराने सुभाषितों की नए रूप

---

१. हुंकार, पृष्ठ २७
२. दिल्ली, पृष्ठ १
३. वही, पृष्ठ ५
४. हुंकार, पृष्ठ २२
५. वही, पृष्ठ २७
६. उर्वशी, पृष्ठ २२
७. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ५६
८. रसवन्ती, पृष्ठ ५२
९. चक्रवाल, पृष्ठ २४३

में प्रतिष्ठा तथा नए सुभाषितों में मौलिक विचारों की स्थापना हुई है, जो दिनकर के अनुभवों के आधार पर निर्मित किए गए हैं।

वर्ण-योजना और शब्दालंकार

दिनकर की वर्ण-योजना और शब्दालंकार के प्रयोगों के विषय में सब से पहला द्रष्टव्य तथ्य यह है कि वे सायास इनके झंझटों में नहीं पड़े हैं, और न इनके प्रति उनका कोई मोह है। वर्णों तथा शब्दों द्वारा उद्भूत चमत्कार नियोजना की आवश्यकता उस कवि को होती है जिसके पास भाव की पूंजी नहीं होती, जिसके भाव शब्दों में प्रवेश कर, उन पर छा नही जाते। लक्षणा पर आधृत दिनकर की संश्लिष्ट शब्द-योजना इतनी मुखर होती है कि वह एक साथ ही अनेक बातें कह देती है—ऐसा कवि यदि द्विअर्थक शब्दों के संकलन और उनके द्वारा चमत्कार-नियोजन का श्रम करे तो उपहास-जनक और निरर्थक होगा। बिना इस सायास योजना के भी दिनकर का वर्ण-विन्यास आदर्श वर्ण-योजना की सभी कसौटियों पर पूरा उतरता है। आचार्य कुन्तक ने वर्ण-विन्यास-वक्रता के प्रसंग में वर्ण-योजना सम्बन्धी जो मानदण्ड निर्धारित किए है वे इस प्रकार हैं—वर्ण-योजना सदा प्रस्तुत विषय के अनुकूल होनी चाहिए। उसका प्रयोग केवल वर्ण-साम्य के व्यसन मात्र के कारण नहीं होना चाहिए क्योंकि औचित्य के अभाव में प्रतिपाद्य का रूप विकृत हो जाता है। उसमें आग्रह की अति नहीं होनी चाहिए और न असुन्दर वर्णों का प्रयोग होना चाहिए। प्रसाद गुण की रक्षा वर्ण-योजना का प्रथम उद्देश्य होना चाहिए। श्रुति-पेशलता और भावानुकूलता उसका प्रथम गुण है।

यों तो सानुप्रासिक शैली का प्रयोग सभी कवियों के लिए प्रायः अनिवार्य होता है, वर्ण-संगति, वर्ण-मैत्री और वर्ण-संगीत के बिना कविता में प्रवाह और गति आ ही नहीं सकती; छेकानुप्रास, वृत्यानुप्रास, अन्त्यानुप्रास के उदाहरण थोड़ा प्रयास करने पर किसी भी कवि की रचनाओं में से निकाले जा सकते हैं, परन्तु जो कवि 'छेनी के शिल्प' में विश्वास ही नही करता, उसकी कविता में से जबरदस्ती इन तत्वों को खोजना मेरे विचार से कोई अर्थ नहीं रखता।

शब्दालंकारों का प्रयोग दिनकर-काव्य में बहुत विरल है। श्लेष, यमक, वीप्सा इत्यादि के चक्करों में वह नहीं पड़े हैं। सम्पूर्ण कुरुक्षेत्र में एक श्लेष पर ध्यान टिकता है—

पुण्य खिलता है चन्द्रहास की विभा में।[1]

---

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ३२

चन्द्रहास की विभा का मुख्य तात्पर्य है तलवार की चमक, दूसरा अर्थ एक और हो सकता है, विभावरी की जागृति अथवा क्रान्तिकालीन जागृति। यहां भी चमत्कार केवल शब्द पर आधृत न होकर उसमें निहित ध्वनि में है। शब्दालंकारों में उनका एक प्रिय अलंकार है पुनरुक्ति। भाव को प्रभावात्मक बनाने के लिए जहां एक ही बात की बार-बार आवृत्ति की जाती है वहां पुनरुक्ति अलंकार होता है। दिनकर ने ओज और करुणा की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए इस अलंकार का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ—

दूध, दूध ! फिर दूध अरे, क्या याद दूध की खो न सकोगे ?
दूध, दूध ! मर कर भी क्या तुम बिना दूध के सो न सकोगे
दूध, दूध फिर सदा कब्र की आज दूध लाना ही होगा
दूध, दूध ओ वत्स ! तुम्हारा दूध खोजने जाते हैं हम।[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में दूध शब्द की आवृत्ति के द्वारा, कवि ने निरीह असहाय भूखे बालकों का मार्मिक और हृदयद्रावक चित्र खींचा है। इसी प्रकार दिल्ली कविता में 'दिल्ली' और 'आह' शब्द की पुनरावृत्ति के द्वारा कविता को प्रभावपूर्ण और उसके भाव को मार्मिक बनाया गया है—

दिल्ली, आह कलंक देश का,
दिल्ली, आह ग्लानि की भाषा,
दिल्ली, आह मरण पौरुष का,
दिल्ली छिन्न भिन्न अभिलाषा।[2]

पुनरुक्तियों के प्रयोग मे दिनकर को अपनी कविता-पाठ शैली का ध्यान रहता है। उन्हें मालूम रहता है कि कविता-पाठ करते समय उनके स्वर का उतार-चढ़ाव कहां होगा, हृदय के भावों को अपनी वाणी में उतार लेने की उनमें भरपूर सामर्थ्य है। 'परशुराम की प्रतीक्षा' और 'उर्वशी' दोनों की पाठ-शैलियां उनके विषय के अनुसार भिन्न-भिन्न हैं। इस प्रकार की आवृत्तियां दिनकर की 'कंठ-कला' के प्रभाव को द्विगुणित करने में सहायक होती हैं।

निपात वक्रता

हाय, अरे, रे, अहा, आह, उफ् इत्यादि विस्मयादिबोधक शब्दों का बहुत प्रयोग भी भावोत्तेजन के उद्देश्य से किया गया है। निपात वक्रता के ऐसे प्रयोग दिनकर की रचनाओं में अधिकतर भाव-संवृद्धि में सहायक बन पड़े हैं—

---

१. हुंकार, पृष्ठ २३
२. दिल्ली, पृष्ठ २३

हाय ! मरण तक जी कर मुझको हालाहल पीना है।

उफ़ री ! मादक घड़ी प्रेम के प्रथम प्रथम परिचय की।

आह ! गर्भ में लिए उसे कल्पना शृंग पर चढ़ कर
किस सुरम्य उत्तुंग स्वप्न को मैंने नहीं छुआ था।[1]

कहीं-कहीं इस प्रकार के प्रयोग खटकते भी हैं—जवानियां तथा जवानी का झंडा जैसी ओजपूर्ण कविताओं में 'अहा' तथा 'देख लो' की आवृत्तियां उचित नहीं जान पड़तीं—

अहा, कि एक रात चांदनी भरी सुहावनी
अहा, कि एक बात प्रेम की बड़ी लुभावनी,
अहा, कि एक याद दूब सी मरु-प्रदेश में
अहा, कि एक चांद जो छिपा विदग्ध वेश में

अहा पुकार कर्म की, अहा री पीर मर्म की
अहा कि आँसुओं में मुस्करा रहीं जवानियां।[2]

संवृति वक्रता

सर्वनामों के विशिष्ट प्रयोगों के द्वारा भावों में रमणीयता लाने तथा प्रभावोत्पादकता के समावेश की योजना भी दिनकर की कविता में मिलती है। इस समय उर्वशी के ही दो तीन उदाहरण मेरे सामने हैं—

आह ! गन्धमादन का वह सुख और अंक प्रियतम का।

और हाय वह एक निर्झरी पिघले हुए सुकृत सी।

असफलता में उसे जननि का वक्ष याद आता है।[3]

तीनों ही उदाहरणों में प्रयुक्त सर्वनाम प्रकरणों से घिरे हुए और प्रसंग-गर्भित हैं।

वृत्ति, गुण और रीति

दिनकर मुख्यतः वीररस के कवि हैं लेकिन रसवन्ती और उर्वशी में उनकी मधुर कोमल और आर्द्र भावनाओं को अभिव्यक्ति मिली है। भाषा की इन शास्त्रीय कसौटियों पर दिनकर की भाषा को रखते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि उन्होंने बार-बार अपनी सृजन-प्रक्रिया में अभिव्यंजना के तत्वों के प्रति

---

१. उर्वशी, पृष्ठ ३३, ११४, ११६
२. सामधेनी, पृष्ठ ७७-७८
३. उर्वशी, पृष्ठ १२६, १३६, ३२

जागरूकता का अभाव घोषित किया है, केवल 'उर्वशी' में वह सचेष्ट्य कला का अस्तित्व मानते हैं। काव्य में वृत्ति का सम्बन्ध वर्ण-योजना से है ; जिसके प्रसंग में पहले कहा जा चुका है कि इस विषय में दिनकर बिल्कुल उदासीन रहे हैं। यदि वृत्ति का अर्थ हम केवल विशिष्ट वर्ग के वर्णों की आवृत्ति से लें तो किसी भी आधुनिक कवि की रचना पर इसे सार्वभौम निकष के रूप में नहीं प्रयुक्त किया जा सकता। हां, यदि वृत्ति का अर्थ 'भाषा की प्रकृति' से लिया जाय तो अवश्य उसकी व्यापकता और सार्वभौमता में अन्तर नहीं आता। दिनकर की रसवन्ती को बिना किसी शंका के मधुरावृत्ति का काव्य कहा जा सकता है। रसवन्ती की भाषा उसकी कोमल और मधुर आत्मा के अनुकूल ही मधुर और कोमल बन पड़ी है। माधुर्य का पुट देने के लिए ही दिनकर ने इसमें देशज और तद्भव शब्दो का प्रयोग बहुलता से किया है। संस्कृत के संयुक्त वर्णों से युक्त शब्दों में यथा अवसर परिवर्तन कर दिया है। बड़े-बड़े तत्सम शब्दों के प्रयोग को बचाया है। ललित पदयोजना के प्राधान्य के कारण रसवन्ती वैदर्भी रीति की कृति मानी जा सकती है। 'उर्वशी' की भाषा पर यह आक्षेप किया जाता है कि वह श्रृंगार की कोमल और ललित कल्पना के अनुरूप सुन्दर तो है परन्तु मधुर और कोमल नहीं। संस्कृत के बड़े-बड़े तत्सम शब्दों और लम्बे-लम्बे वाक्यों के प्रयोग से उसके माधुर्य की हानि हुई। ऐसा लगता है कि उर्वशी कह रही है 'मैं झांसी की रानी, रणचण्डी—लक्ष्मी बाई—उर्वशी हूं' परन्तु उर्वशी में भाषा और विषयवस्तु का रूप इतना असंपृक्त नहीं है। जिस दार्शनिक, पौराणिक और आध्यात्मिक पृष्ठभूमि में 'काम' तत्व का विवेचन किया गया है वह लचकती, सिहरती कोमल-कान्त पदावली के द्वारा व्यक्त नही किया जा सकता था। रीति और वृत्ति के अनुसार चाहे हम उसे उपनागरिका वृत्ति और वैदर्भी रीति का न मान सकें (न मानने से उर्वशी के काव्य-गुण की मान्यता की हानि नहीं होती) परन्तु माधुर्य गुण उसका प्रधान स्वर है।

गुण को हम चाहे दण्डी और वामन के अनुसार शब्द तथा अर्थ के धर्म-रूप में स्वीकार करें अथवा आनन्दवर्धन के अनुसार उन्हें अंगीरस के आश्रित रहने वाले तत्व, दोनों ही दृष्टियों से 'रसवन्ती' और 'उर्वशी' में माधुर्य गुण की ही प्रधानता है। गुणों का सम्बन्ध काव्य के अन्तरंग और बहिरंग दोनों से है। दिनकर के काव्य का अंतरंग दो प्रकार का है—माधुर्य गुण संयुक्त और ओज गुण संयुक्त परन्तु उसके बहिरंग का सर्वप्रमुख गुण है उसका प्रसादत्व।

ओज गुण परुषावृत्ति और गौड़ी रीति का परम्परागत सामंजस्य दिनकर के काव्य में नहीं मिलेगा। ओज उनके समष्टि काव्य की आत्मा है, उस आत्मा

में ही इतना बल है कि उसे परुष और कठोर बाह्य व्यक्तित्व की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसीलिए उसका बहिरंग सहज और प्रसादपूर्ण है परन्तु उसकी आत्मा में पर्वत को हिला देने की शक्ति है। 'हुंकार' और 'परशुराम की प्रतीक्षा' इसके प्रमाण रूप में लिए जा सकते हैं। 'हुंकार' की 'स्वर्ग दहन' तथा 'आलोक-धन्वा' तथा सामधेनी की 'प्रतिकूल' कविताओं में एकाध बार परुष और द्वित्व वर्णों से युक्त शब्दों के द्वारा यह प्रभाव उत्पन्न करने का प्रयास किया गया है परन्तु ऐसे स्थल बहुत ही विरल हैं।

जिस रचना के श्रवण मात्र से ही अर्थ की प्रतीति होती है, उनमें प्रसाद गुण माना जाता है। सरल, समास रहित ऋजु पदावली इस शैली की विशेषता होती है। उसमें न तो मधुरा वृत्ति की मसृणता होती है और न परुषा वृत्ति की कठोरता। भाव और अभिव्यंजना की स्वाभाविकता तथा अकृत्रिमता इस वृत्ति का प्रधान गुण है। सरल, सुबोध और प्रचलित शब्दों का प्रयोग इनका ध्येय होता है। दिनकर मुख्यतः इसी शैली के कवि हैं। प्रत्येक कवि जो कला का प्रयोग जीवन के लिए करता है, इसी शैली का कवि होता है। एक वाक्य में यह कहा जा सकता है कि दिनकर की आत्मा का ओज और माधुर्य सामान्यतः 'प्रसाद' के सहारे ही व्यक्त हुआ है। इसमें अपवाद हैं, लेकिन उनकी संख्या बहुत कम है।

शब्द-शक्तियां

दिनकर के काव्य में जैसे-जैसे प्रौढ़ता आती गई है, वैसे ही वैसे वे अभिधा से लक्षणा की ओर बढ़ते गये हैं। उनकी कविता के भावपूर्ण स्थलों में वाच्यार्थ का सौन्दर्य अत्यन्त स्वाभाविक रूप में व्यक्त हुआ है। जाग्रत पौरुष के उच्चार और शृंगार भावना की सहजता दोनों ही प्रकार की कविताओं में भाषा का अभिधात्मक रूप प्रधान है। सामान्यतः अभिधात्मक वर्णन के नीरस हो जाने की आशंका सदैव बनी रहती है, परन्तु दिनकर की सरल और ऋजु अभिधा में भी भाव और चित्र को संश्लिष्ट कर देने की शक्ति है। जैसे—

दो प्रेमी हैं एक यहां जब,
बड़े सांझ आल्हा गाता है,
पहला स्वर उसकी राधा को
घर से यहां खींच लाता है।
चोरी चोरी खड़ी नीम की
छाया में छिप कर सुनती है

हुई न क्यों मैं कड़ी गीत की,
विधना, यों मन में गुनती है।[1]

अप्रस्तुतों के बिना भी जहां दिनकर चित्र खींचते हैं वहां उनकी अभिधा में अनुभूति का रस भर देने की शक्ति रहती है। 'उर्वशी' जैसे गहन प्रतिपाद्य में भी अभिधा का प्रयोग भाव को प्रेषणीय बनाने में बहुत सहायक हुआ है—

कुसुम और कामिनी, बहुत सुन्दर दोनों होते हैं,
पर तब भी नारियां श्रेष्ठ हैं कहीं कान्त कुसुमों से,
क्योंकि पुष्प हैं मूक और रूपसी बोल सकती है।
सुमन, मूक सौन्दर्य और नारियां सवाक् सुमन हैं।[2]

दिनकर की रचनाओं में लक्षणा के विविध और बहुल प्रयोगों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि वे लक्षणा के कवि हैं। इस कथन में अव्याप्ति दोष माना जा सकता है। छायावादी कविता की लाक्षणिक और प्रतीकात्मक शैली की प्रतिक्रिया में निर्मित दिनकर की सहज, सरल, और स्पष्ट भाषा को लक्षणा-प्रधान कहना कैसे न्यायसंगत है? जबकि छायावादी शैली की मुख्य विशेषता ही लाक्षणिकता थी। परन्तु, यह सत्य है कि दिनकर लक्षणा के कवि हैं, और उनकी लक्षणा केवल आकाश को पृथ्वी से और पृथ्वी को आकाश से मिलाने का काम नहीं करती बल्कि जग और जीवन से सम्बन्धित विषयों को अपने में बांध कर उन्हें सुन्दर बना देती है। शब्दों के प्रतीकात्मक प्रयोगों और अर्थगर्भित विशेषणों के निर्माण की सामर्थ्य में उनकी सशक्त लक्षणा की ही शक्ति निहित है। क्रान्ति गीतों मे कठोर और प्रेम तथा सौन्दर्य की कविताओं में उन्होंने सुन्दर और कोमल प्रतीकों का प्रयोग किया है। 'विभा पुत्र,' 'आलोकधन्वा,' 'युगचारण' 'वर्तमान का बैताली' उनके स्वनिर्मित शब्द है। 'अग्नि रुद्र,' 'तांडव,' 'सामधेनी,' 'आलोक,' 'होम-शिखा' इत्यादि शब्दों का प्रतीकात्मक अर्थ क्रान्ति से सम्बद्ध प्रसंगों में ही सार्थक होता है। भूकम्प, अंधकार, वज्र, इत्यादि शब्द भी क्रान्तिमूलक और यथार्थवादी कविताओं की विषयवस्तु में प्रतीक रूप में प्रयुक्त हुये हैं। चन्द्र, तितली, भ्रमर, हंस, पुष्प, शबनम इत्यादि सौन्दर्य और प्रेम के प्रतीकों के रूप में ग्रहण किये गये हैं। इस प्रसंग में सबसे अधिक उल्लेखनीय हैं वे प्रतीक जिनका प्रयोग उन्होंने सामाजिक और राजनीतिक वैषम्यों की आक्रोशपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए किया है। भारतीय

---

१. रसवन्ती, पृष्ठ १७-१८
२. उर्वशी, पृष्ठ ८७

सैनिकों तथा स्वार्थी राजनीतिक नेताओं और पूंजीपतियों के लिए प्रयुक्त ये प्रतीक देखिये—

सिंहों पर अपना अतुल भार मत डालो,
हाथियों स्वयं अपना तुम बोझ सम्हालो[१]

कौन पाप ? है याद, भेड़िये जब टूटे थे
तेरे घर के पास दीन दुर्बल भेड़ों पर।[२]

व्यंजना और लक्षणा की संयुक्त अभिव्यंजना में भारत की युद्ध-नीति और तद्-सम्बन्धी विचार-धारा के प्रति दिनकर का आक्रोश उबला पड़ रहा है—

हैं जिन्हें दांत, उनसे अदन्त कहते हैं,
यानी शूरों को देख सन्त कहते हैं,
तुम तुड़ा दांत क्यों नहीं पुण्य पाते हो ?
यानी तुम भी क्यों भेड़ न बन जाते हो ?
पर कौन शेर भेड़ों की बात सुनेगा,
जिन्दगी छोड़ मरने की राह चुनेगा।[3]

लोहे के पेड़, लोहे के मर्द, नींव का हाहाकार इत्यादि शब्दों की व्यंजना लक्षणा पर ही आधृत है।

साभिप्राय विशेषणों की अर्थ-व्यंजकता और चित्रात्मकता लक्षणा पर ही आधृत है। कुछ उदाहरण पर्याप्त होंगे—जैसे भीगी तान, दहकती वायु, मीठी उमंग, चकित पुकार, तरंगित यौवन, अस्फुट विस्मय इत्यादि। शब्दों की लाक्षणिक अर्थवत्ता के अतिरिक्त लक्षणा के रूढ़ और परम्परागत रूपों का प्रयोग दिनकर-काव्य में बहुलता से हुआ है। आरम्भिक रचनाओं में उसका रूप साधारण परन्तु मार्मिक है।

आचार्य शुक्ल के अनुसार चित्र-भाषा-शैली या प्रतीक-पद्धति में वाचक शब्दों के स्थान पर लक्षक शब्दों का प्रयोग होता है जिससे पाठक या श्रोता को विशेष रसानुभूति होती है। दिनकर द्वारा प्रयुक्त लक्षक शब्द इस रसानुभूति की व्यंजना-शक्ति को द्विगुणित कर देते हैं। 'उर्वशी' की लक्षणाओं में चित्रात्मकता और स्पष्टता के सफल संयोजन में दिनकर के लक्षणा-प्रयोग की सिद्धि आंकी जा सकती है। कुछ उदाहरण पर्याप्त होंगे—

---

१. परशुराम की प्रतीक्षा, पृष्ठ २८
२. वही, पृ० ५५
३. वही, पृष्ठ २७

रेंगने लगते सहस्रों सांप सोने के रुधिर में
चेतना रस की लहर में डूब जाती है।
कौन है यह देश जिसकी स्वामिनी मुझको निरन्तर
वारुणी की धार से नहला रही है?
कौन है यह जग, समेटे अंक में ज्वालामुखी को
चांदनी चुमकार कर बहला रही है।[1]

प्रथम उद्धरण में रति भाव के मानसिक अनुभावों का चित्रण हुआ है। मधुमयी पीड़ा के आकर्षण-विकर्षण, हृदय और मस्तिष्क के द्वन्द्व से उत्पन्न दाहक और मोहक प्रतिक्रियायें, स्नायविक तनावों में निहित अपरिहार्य ज्वालायें सोने के रेंगते हुये सांपों के माध्यम से व्यक्त हुई हैं। 'वारुणी की धार' नारी के मादक सौन्दर्य और आकर्षण के लिए प्रयुक्त होकर उसके प्रभाव को दस गुना बढ़ा देती है। इसी प्रकार ज्वालामुखी और चांदनी कामनाओं से उबलते मन में अन्तर्निहित राग की शीतल स्निग्धता के अस्तित्व तथा नारी सौन्दर्य के स्निग्ध प्रभाव के द्योतक हैं। इसी प्रकार की समर्थ लक्षणाओं से उर्वशी के पृष्ठ भरे हुए हैं। आत्मा और मन के गोपन रहस्यों और अपरूप धरातल के प्रेम-चित्रण में लक्षणा का प्रयोग सबसे अधिक हुआ है। यदि यह कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी कि दिनकर जी ने छायावाद की लाक्षणिक शैली के दूरान्वय, अस्पष्टता और अत्यधिक सांकेतिकता जैसे दोषों का निराकरण करके स्पष्ट और चित्रात्मक लक्षणाओं के द्वारा ही अपनी उस प्राणवन्त और समर्थ भाषा का निर्माण किया जिसके कारण छायावाद-परवर्ती कवियों में उनका स्थान शीर्ष पर रखा जाता है। कुछ और उद्धरण देना अनुचित न होगा—

(क) डूब गई सुरपुर की शोभा मिट्टी के सपने में।[2]

(ख) प्रकृति कोष से जो जितना ही तेज लिए आता है
वह उतना ही अनायास फूलों से कट जाता है।[3]

(ग) दृष्टि का जो पेय है वह रक्त का भोजन नहीं है।[4]

(घ) दो दीपों की सम्मिलित ज्योति, वह एक शिखा जब जगती है,
मन के अगाध रत्नाकर में यह देह डूबने लगती है।[5]

---

१. उर्वशी, पृष्ठ ५२
२. उर्वशी, पृष्ठ १३
३. वही, पृष्ठ ३२
४. वही, पृष्ठ ९४
५. वही, पृष्ठ ९९

उर्वशी के अनेक शृङ्गारिक प्रसंगों का खुलापन लक्षणा में आवृत होकर अश्लील नहीं होने पाया है। लेकिन कभी-कभी लाक्षणिक अर्थवत्ता को समझने में असमर्थ विद्वान आलोचक उस ललित कोमल सौन्दर्य को गलत रूप में चीर-फाड़ कर अर्थ का अनर्थ कर बैठते हैं। परन्तु 'त्वचा की नींद टूटना', 'वक्ष के कुसुम कुंज' इत्यादि शब्दों में निहित लक्षणाएं उर्वशी में शृङ्गार के अनुभावों के रूप में सार्थकता के साथ प्रयुक्त हुई हैं। दिनकर के काव्य में सुन्दर की साधना में लक्षणा की साधना हुई है, यह कहना अनुपयुक्त न होगा।

व्यंजना के उदाहरण सामाजिक यथार्थवादी रचनाओं और व्यंग्य रचनाओं में मिलते हैं। काव्य-भाषा में व्यंजना का योगदान प्रधान रूप से वक्र अभिव्यंजना के क्षेत्र में होता है, यही कारण है कि दिनकर के आक्रोश-प्रधान राजनीतिक और सामाजिक व्यंग्यों में उनका प्रयोग बहुलता से हुआ है। नए सुभाषित की व्यंग्य रचनाओं में से कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं। स्वतन्त्रता के पश्चात् गांधीवाद और कृत्रिम आध्यात्मिकता के नाम पर दिन पर दिन बढ़ने वाले पाखण्डों की पोल दिनकर ने अपनी अनेक कविताओं में खोली है—गांधी के नाम का दुरुपयोग करने वालों पर यह व्यंग्य देखिए—

गांधी को उल्टा घिसो, और जो धूल झरे
उसके प्रलेप से अपनी कुण्ठा के मुख पर
ऐसी नक्काशी गढ़ो कि जो देखे, बोले;
आखिर बापू भी और बात क्या कहते थे?[1]

इसी प्रकार निम्नोक्त पंक्तियों में गांधी की नकल करके कृत्रिम रूप से आरोपित आध्यात्मिकता और उच्चादर्शों की हँसी उड़ाई गई है—

कुर्ता-टोपी फेंक कमर में भले बांध लो
पांच हाथ की धोती घुटनों के ऊपर तक,
अथवा गांधी बनने के आकुल प्रयास में
आगे के दो दांत डाक्टर से तुड़वा लो।[2]

समर्पण कविता की एक-एक पंक्ति में दिनकर के हृदय का व्यंग्य और आक्रोश व्यंजना के माध्यम से व्यक्त हो रहा है। एक विवश स्थिति की आक्रोशपूर्ण अभिव्यक्ति के एक-एक शब्द में कशाघात की सी चोट है—

---

१. नये सुभाषित, पृष्ठ ४८
२. वही, पृष्ठ ४५

धधका दो सारी आग एक झोंके में,
थोड़ा-थोड़ा हर रोज जलाते क्यों हो ?
क्षण में जब यह हिमवान् पिघल सकता है,
तिल-तिल कर मेरा उपल गलाते क्यों हो ?
मैं चढ़ा चुका निज अहंकार चरणों पर,
हो छिपा कहीं कुछ और, उसे भी ले लो !
चाहो, मुझको लो पिरो कहीं माला में,
चाहो तो कन्दुक बना पांव से खेलो ।[1]

परशुराम की प्रतीक्षा की पूरी एनार्की कविता दिनकर की सबल और सक्षम व्यंजना का उदाहरण है ।

रेणुका की अनेक कविताओं में छायावादी कविता के शब्द-समूह को यथा-वत् ग्रहण किया गया है । स्वप्निल, नीरव, घनीभूत, विभव, अग-जग, अश्रुमय हास, मधुमय अभिशाप, कबरी, कुन्तल, इत्यादि शब्दों के प्रयोग इसी प्रवृत्ति के परिचायक हैं । सबसे अधिक प्रभाव उन पर पंत के शब्द-शिल्प का दिखाई पड़ता है । अन्तर केवल इतना ही है कि दिनकर ने सांकेतिक शैली द्वारा व्यक्त पंत जी की अतीन्द्रिय और कोमल कल्पनाओं को लौकिक, मांसल और स्थूल बना दिया है । जैसे पंत जी की पंक्तियां हैं—

अरे वे अपलक चार नयन
आठ आंसू रोते निरुपाय ;
उठे रोओं के आलिंगन
कसक उठते कांटों से हाय ।[2]

दिनकर की पंक्तियां हैं—

हाय रे परिवर्तन विकराल,
सुनहरी मदिरा है वह कहां ?
मुहब्बत की वे आंखें चार ?
सिहरता शरमीला चुम्बन,
कहां वह सोने का संसार ?[3]

---

१. नये सुभाषित, पृष्ठ ४५
२. रश्मिबन्ध, पृष्ठ ४३—सुमित्रानन्दन पंत
३. रेणुका, पृष्ठ ९९

पंत जी की 'एक तारा' कविता की प्रथम पंक्ति है—

नीरव संध्या में प्रशान्त—
डूबा है सारा ग्राम प्रान्त।[1]

दिनकर की अमा-संध्या के प्रथम शब्द हैं—

नीरव प्रशान्त जग, तिमिर गहन।
रुनझुन-रुनझुन किसका शिंजन।[2]

छायावादी शब्द-समूह की कोमलता और मसृणता दिनकर के प्रतिपाद्य विषय के अनुकूल नहीं थी, उपर्युक्त प्रथम तथा द्वितीय उद्धरणों में पंत जी और दिनकर के व्यक्तित्व का अन्तर आंका जा सकता है।

कहीं-कहीं उनकी भाषा में चारणों की भाषा की नाटकीयता सी आ जाती है। बोधिसत्व को जगाने के लिए जब वह बार-बार 'जागो' 'जागो' की रट लगाते हैं अथवा 'लाल भवानी की जय जयकार' करते हुए 'जय' 'जय' बोलते हैं तो मालूम होता है दिनकर केवल भाव से ही युगचारण नहीं हैं उनकी शैली भी चारणों की सी है जिसके प्रयोग द्वारा वह अपने 'आश्रयदाता' की प्रशस्ति गान करते हैं।

व्याकरण की दृष्टि से सामान्यतः शुद्ध होते हुए भी कहीं-कहीं दिनकर की भाषा दोषपूर्ण हो गई है कि लिंग और वचन सम्बन्धी इन भूलों पर हमारा ध्यान अनायास ही चला जाता है, जैसे—

(क) मैं चांदनियों **का बोझ किसी विध सहती हूं**[3]
(ख) **भारत** धूलों **से भरा आंसुओं से गीला**[4]
(ग) **गालों पर की** धूलियां **नहीं नम होती हैं**[5]
(घ) **पाँच ही** नर **के द्वेष से हो गया संहार पूरे देश का।**[6]
(ङ) क्षितिजों **के पास पड़ी पतली चमचम सोने की डोरी सी**

कहीं-कहीं स्त्रीलिंग बहुवचन के साथ प्रयुक्त क्रियाओं का रूप दोषपूर्ण हो गया है। स्त्रीलिंग हम के साथ, क्रियाओं का रूप, पुल्लिंग में प्रयुक्त क्रियाओं की ही भांति रहता है लेकिन दिनकर के प्रयोग में स्थानीयता का दोष आ गया

---

१. रश्मिबन्ध, पृष्ठ ५७
२. रेणुका, पृष्ठ ६६
३. दिल्ली, पृ० १९
४. वही, पृ० २१
५. वही, पृ० २८
६. कुरुक्षेत्र, पृ० ६

है—'हम लौट रहीं थीं', 'हम मारी मारी फिरती हैं', 'हम चलीं' इत्यादि ग़लत प्रयोग हैं। कहीं-कहीं अनावश्यक पुनरावृत्ति भी मिलती है।

गली कूच वन वीथि **नगर में**[1]
मनुज दुर्बल मानव **लाचार**[2]
महिम मुक्ता विद्रुम-प्रवाल **से विरचे हुए भवन में**[3]

परन्तु इस प्रकार के छुटपुट दोष किसी भी कवि के लिए अपरिहार्य हैं। विशेष कर वह कवि जिसका ध्यान महल खड़ा करते समय ईंटों की चुनाई पर नहीं टिकता, इस प्रकार के दोषों के लिए क्षम्य है। समग्र रूप से यह कहा जा सकता है कि दिनकर की भाषा सशक्त और समर्थ है। वह, तलवार की झन-झनाहट, और नूपुर की रुनझुन, परशुराम की हुंकार और उर्वशी की कोमल प्रणय-भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए समान रूप से समर्थ है।

छायावाद की रेशमी जाली को फाड़कर छायावाद-परवर्ती कविता में जीवन के जो कठोर यथार्थ, व्यापक और समग्र धरातल ग्रहण किए गए, तत्कालीन कवि उसके उपयुक्त भाषा-निर्माण में भी कुशल सिद्ध हुए। इस क्षेत्र में दिनकर का विशिष्ट योग-दान रहा। उनकी भाषा जीवन की कठोर-कोमल, सम-विषम, आत्मगत और विश्वगत, सुन्दर और कुरूप सभी प्रकार की स्थितियों को व्यक्त करने में समान रूप से समर्थ है। दिनकर की भाषा-साधना का चरम रूप उर्वशी में मिलता है, जिसके विषय में यह आसानी से कहा जा सकता है कि उसमें मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी से ग्रहण किए गए दिनकर के भाषागत संस्कार, इतिवृत्तात्मकता, विवरणात्मकता तया नीरस गद्यात्मकता से मुक्त होकर तथा उनके छायावादी संस्कार, अस्पष्टता और कुहासे से मुक्त होकर प्रयुक्त हुए हैं। ऐसे अब भी दिनकर का स्वप्न है कि वे 'रिल्के' के भाव और विचार को तुलसी की भाषा में व्यक्त कर सकें—जिस स्थिति पर पहुंचने के लिए कठिन साधना की आवश्यकता है।

दिनकर की चित्र-योजना

दिनकर की कला-चेतना में चित्रात्मकता का महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने स्वयं अनेक स्थलों पर कविता में चित्रण-कला का महत्व स्वीकार किया है। उनके अनुसार कहानी में जो स्थान मनोविज्ञान का है कविता में वही स्थान

---

१. दिल्ली, पृ० ६
२. रसवन्ती, पृ० ८
३. उर्वशी, पृ० ७१

चित्र का है। चित्रमयता ही काव्य को विज्ञान से अलग करती है। जो ज्ञान चित्र में परिवर्तित नहीं किया जा सकता, वह कविता के लिए बोझ बन जाता है। विचार जब चित्र बन कर सामने आते हैं तब मन की आँखें उन्हें देखते ही पहचान लेती है और शेष इन्द्रियों को भी यही सन्तोष हो जाता है कि बात ठीक है। काव्य की सार्थकता तो तभी मानी जाएगी जब विचार चित्रों में परिवर्तित कर दिये जायं तथा वे केवल बुद्धि-ग्राह्य बनाकर ही न छोड़े जायं। परन्तु चित्रों का प्रयोग कवि केवल तमाशा दिखाने को नहीं करता। असल में चित्रों के सहारे वह हमारी सभी इन्द्रियों को जगा कर अपने तात्पर्य तक ले जाता है, जिसके मानी यह हुये कि शब्दों, अलंकारों, लय और संगीत की तरह चित्र भी कविता में अभिव्यक्ति के वाहन बन कर आते हैं।

"चित्रकला द्वारा काव्य में शब्दों के संयोग से वस्तुओं और विचारों के मूर्तिमान रूप प्रस्तुत किये जाते है। चित्र-रचना की सामग्री, अक्सर अलंकारों की सामग्री होती है। किन्तु, चित्र अलंकार लाये बिना भी रचे जाते है।"

"चित्र और मूर्ति शब्द से दृश्य वस्तु का जो बोध होता है उससे यह नहीं समझना चाहिये कि काव्यगत चित्र केवल नेत्रेन्द्रिय के लिए होते हैं। प्रसंगानुसार, वे सभी वस्तुएं और क्रियायें काव्य में मूर्त रूप ले सकती है जिनका सम्बन्ध नेत्र से न होकर जिह्वा, नासिका, श्रुति अथवा स्पर्श इन्द्रिय से है। ऐन्द्रिय क्रियाओं के ये स्मृति वाले रूप ही चित्र-विधान के आधार होते हैं।

"चित्र कविता का अत्यन्त महत्वपूर्ण गुण है, प्रत्युत कहना चाहिये कि यह कविता का एकमात्र शाश्वत गुण है जो उससे कभी भी नहीं छूटता। कविता और कुछ चाहे करे या न करे, किन्तु चित्रों की रचना वह अवश्य करती है और जिस कविता के भीतर बनने वाले चित्र जितने ही स्वच्छ अर्थात् विभिन्न इन्द्रियों से स्पष्ट अनुभूत होने के योग्य होते हैं, वह कविता उतनी ही सफल और सुन्दर होती है। कविता में चित्र का एलबम अथवा स्वयं एक पूर्ण चित्र होता है।

"किन्तु चित्रों के प्रसंग में भी एक बात है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती और वह यह कि चित्र भी कविता में साधन होते हैं साध्य नहीं। शक्तिशालिनी कविता केवल चित्र दिखलाकर सन्तुष्ट नहीं हो जाती वह चित्रों के भीतर से कुछ और दिखलाना चाहती है। केवल चित्र आतिशबाजी मात्र रह जाते हैं। जार्ज रसल (ए० ई०) ने लिखा है कि जब मेरे सामने कोई कविता आती है मैं अपने आप से दो प्रश्न करता हूं। पहला यह कि कविता अंधी है या पारदर्शी। अर्थात् कविता केवल ऊपर-ऊपर रंगीन है या रंगों के भीतर कुछ

दिखाई भी पड़ता है ; दूसरा यह कि यदि कविता पारदर्शी है तो उसके भीतर कितनी दूर की चीजें दिखाई पड़ती हैं।"[1]

सामान्यत: काव्य-चित्रों के दो भेद किये जा सकते हैं : (१) लक्षित चित्र-योजना (Direct Imagery) और उपलक्षित चित्र-योजना (Indirect Imagery)। लक्षित चित्र-योजना को बाह्य रेखाओ या वर्णो द्वारा तुरन्त लक्षित किया जा सकता है, पर उपलक्षित चित्र-योजना को लक्षित करने के लिए अप्रस्तुतों के सादृश्य-विधान की जानकारी आवश्यक है। लक्षित चित्र-योजना को भी स्थूल रूप से दो कोटियों में विभाजित किया जा सकता है—रेखाचित्र और वर्णचित्र। एक में आलम्बन की रूप-चेष्टाओं आदि की रेखाओं में तथा दूसरे में रंगों में अंकित किया जाता है। रेखाओं और रंगों द्वारा ये चित्र सहज में ही लक्षित हो जाते है और इनमें साधारणत: कवि का चेतन मन उद्घाटित होता है। उपलक्षित चित्रों में अप्रस्तुतों के सादृश्य विधान द्वारा जिन घनीभूत मनोवैज्ञानिक क्षणों को अंकित किया जाता है उनमें कवि का अवचेतन मन भी चित्रित हो उठता है।

दिनकर के काव्य में आलम्बन की विविधता के कारण लक्षित और उपलक्षित चित्रों के विविध प्रयोग हुये हैं। उनके चित्र ओजदीप्त भी हैं और मधुर-कोमल भी। उनमें क्रान्ति की ज्वाला भी है और रूप की स्निग्ध किरण भी। रूप की दृष्टि से दिनकर के लक्षित चित्रों के कई वर्ग बनाये जा सकते हैं—

(१) आलम्बन चित्र :—
   (क) विस्तृत आधार-फलक पर निर्मित विराट चित्र
   (ख) लघु फलकों पर अंकित कोमल मधुर चित्र
(२) अनुभाव चित्र

विस्तृत आधार-फलक पर अंकित आलम्बन चित्र

दिनकर के समूह चित्र अधिकतर क्रान्ति और युद्ध सम्बन्धी कविताओं में मिलते हैं। ओजपूर्ण कविताओं में जहां उनकी भावनाएं पूर्ण विस्फोट और वेग के साथ व्यक्त हुई हैं, उनके चित्र सबल और शक्तिपूर्ण बन पड़े हैं। क्रान्ति कुमारी के कार्य-व्यापारों तथा विप्लव और विद्रोह के चित्रों में रेखाओं और वर्णों के संयुक्त प्रयोग द्वारा चाक्षुष और श्रावणिक चित्रों का संयुक्त संयोजन हुआ है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं—

झन-झन-झन-झन-झन झनन झनन
मेरी पायल झनकार रही तलवारों की झनकारों में,

---

१. काव्य की भूमिका, पृष्ठ ६,१३,७८,८०,१००,१०१,१०२

अपनी आगमनी बजा रही मैं आप क्रुद्ध हुंकारों में
मैं अहंकार सी कड़क ठठा हँसती विद्युत की धारों में
बन काल-हुताशन खेल रही पगली मैं फूट पहाड़ों में
अंगड़ाई में भूचाल, सांस में लंका के उनचास पवन।[1]

उपर्युक्त उद्धरण की हर पंक्ति क्रान्ति के समग्र चित्र के निर्माण मे अलग-अलग रेखाओं का काम करती है, रेखाएं ध्वनि से संयुक्त हैं। तलवार की झंकारें और क्रुद्ध हुंकारें वीररस के अनुभावों की सृष्टि करती हैं, बिजली और आग सैनिकों के उबलते क्रोध, मृत्यु और नाश का वेग भरती है—भूचाल और तूफान क्रान्ति की व्यापक अव्यवस्था, भीषण संहार और घोर अस्तव्यस्तता का चित्र प्रस्तुत करते हैं। प्रथम पंक्ति के अनुकरणात्मक शब्द झन-झन की आवृत्ति 'मारू' राग के वातावरण का निर्माण कर देती है। चित्र चाक्षुष भी है श्रावणिक और गतिपूर्ण भी।

दूसरा उदाहरण है—

मेरे मस्तक के छत्र-मुकुट वसु-काल-सर्पिणी के शत फन ;
मुझ चिर-कुमारिका के ललाट में नित्य नवीन रुधिर-चंदन ;
आंजा करती हूँ चित्र धूम का दृग में अन्ध तिमिर-अंजन
संहार-लपट का चीर पहन नाचा करती मैं छूम छनन।

क्रान्ति नर्तकी को भयंकर और बीभत्स वेशभूषा तथा श्रृङ्गार-प्रसाधन के उपकरणों से सजा कर क्रान्ति की भयावहता तथा भयंकरता को मूर्तिमान किया गया है। काले, गहरे रंगों की प्रतिरूप (Contrasting) तथा मिश्रित योजना से यह भयावहता द्विगुणित हो गई है। काल सर्पिणी के काले रंग और लेलिह्य जिह्वाओं से निर्मित छत्र और मुकुट, ललाट पर रुधिर-चन्दन का लेप, नेत्रों में चिताधूम का अंजन, ध्वंसक ज्वाला की झालरों से युक्त वस्त्र धारण किए हुए 'विपथगा' के रूप और व्यापारों में कालिका का प्रचंड रूप उभर आता है। व्यक्ति की सीमा में समष्टि की अमूर्त क्रान्ति-चेतना इस चाक्षुष और गतिपूर्ण चित्र में मूर्त हो गई है।

'रेणुका' की 'ताण्डव' कविता की चित्रमयता भी द्रष्टव्य है—

नाचो, हे नाचो, नटवर !
चन्द्रचूड़ ! त्रिनयन ! गंगाधर ! आदि प्रलय, अवढर शंकर !
नाचो, हे नाचो, नटवर !

---

१. हुंकार, पृष्ठ ७२

अंग-भंगि हुंकृति-झंकृति भर, थिरक-थिरक हे विश्वम्भर !
डिम-डिम डमरू बजा निज कर में
नाचो, नयन तृतीय तरेरे।
ओर-छोर तक सृष्टि भस्म हो,
अर्चिपुंज अम्बर को घेरे।[1]

चित्र गत्यात्मक है। 'ताण्डव' के लिए शिव का आह्वान करते हुए उनके चिरपरिचित पौराणिक रूप का चित्रण किया गया है। 'चन्द्रचूड़' और 'गंगाधर' में आभा और शुभ्रता का संयोजन है, जो उनके संहारक रूप के साथ मेल नहीं खाता, परन्तु 'त्रिनयन' से उस आभा में अंगार की झलक आ जाती है और उस शुभ्रता को रोष की लालिमा छू लेती है। 'हुंकृति' और 'झंकृति' उनकी अंगभंगियों को सशब्द बना देती है, डमरू की ध्वनि और नयन तरेरने के वर्णन से चित्र सजीव और सबल हो गया है।

करुण तथा भयानक रस के हृदय-द्रावक समष्टि चित्र खींचने में भी दिनकर समर्थ हुए हैं। एक उदाहरण लीजिए—

विष की ज्वाला से दह्यमान हो उठा व्यग्र सारा खगोल,
मतवाले नाग अशंक चले खोले जिह्वायें लोल-लोल।

* * *

हंसों के नीड़ लगे जलने, हंसों की गिरने लगी लाश
नर नहीं नारियों से होली, खेलने लगा खुल सर्वनाश।

* * *

लपटों से लज्जा ढको, कहां हो ! धधको धधको घोर अनल !
कब तक ढक पायेंगे इसको रमणी के दो छोटे करतल।
नारी का शील गिरा खण्डित कौमार्य गिरा लोहू लुहान ;
भगवान भानु जल उठे क्रुद्ध चिंघार उठा यह आसमान।[2]

इस्लाम को खतरे से निकालने के लिए 'नोआखाली' में साम्प्रदायिकता का भयानक विष चारों ओर के वातावरण में फैल गया। जिह्वा लपलपाते हुए काले नागों के वर्णन में मजहबी उन्माद के अनुभाव सजीव हैं। तृतीय पंक्ति में दो रेखाएं हैं, एक के द्वारा धधकते हुए भवनों और इमारतों की ज्वालायें प्रस्तुत की गई हैं और दूसरी के द्वारा व्यापक रूप से चलते हुए अमानुषिक हत्याकांड

---

१. रेणुका, पृष्ठ १—३
२. चक्रवाल, बापू, पृष्ठ २३१

के चित्र खींचे गए हैं। अन्तिम चार पंक्तियों में नारी की असहाय विवशता, उसकी लुटती हुई लज्जा, तथा उसके खण्डित कौमार्य के चाक्षुष चित्र खींचे गए हैं, जिनकी कुशल अभिव्यक्ति के आवरण में प्रच्छन्न नग्नता की सजीवता से कांप कर पाठक को अपनी आंखों पर हाथ रख लेना पड़ता है।

दिनकर ने इसी प्रकार के विस्तृत आधार-फलक पर ग्रामीण और सामाजिक वातावरण के अनेक चित्र खींचे हैं। ये चित्र अधिकतर क्रियाविधायक हैं। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

वन-तुलसी की गन्ध लिए हल्की पुरवैया आती है
मन्दिर की घंटा ध्वनि युग युग का सन्देश सुनाती है
टिमटिम दीपक के प्रकाश में, पढ़ते निज पोथी शिशुगन ;
परदेशी की प्रिया बैठ गाती यह विरह गीत उन्मन—
भैया ! लिख दे एक कलम खत मो बालम के जोग,
चारों कोने खेम-कुशल मांझे ठां मोर वियोग।[1]

प्रथम पंक्ति में कवि ग्राम के सात्विक सौरभ की अनुभूति देने में समर्थ रहा है, तुलसी की गन्ध के साथ मन्दिर के घंटे की ध्वनि एक पुण्य वातावरण की सृष्टि करती है। दूसरी ओर दीपक की लौ के सामने अपनी पुस्तक से सिर खपाते हुए ग्रामीण बालकों का चित्र उस वातावरण में जीवन भर देता है, और तथाकथित पढ़े-लिखे बालकों से अपने प्रिय के लिए पत्र लिखने का अनुरोध करती हुई ग्रामीणा के शब्द तो जैसे सारे वातावरण को कैमरे में उतार कर रख देते हैं। अलग-अलग रेखाओं से निर्मित इस चित्र का रूप विश्लेषात्मक है, पर उसका प्रभाव संश्लिष्ट है। इसी प्रकार का क्रियाविधायक चित्र निम्नलिखित पंक्तियों में व्यक्त है—

स्वर्णांचला अहा ! खेतों में उतरी संध्या श्याम परी
रोमन्थन करती गायें आ रही रौंदती घास हरी।
घर घर से उठ रहा धुंवा जलते चूल्हे बारी बारी
चौपालों में कृषक बैठ गाते—कहं अटके बनवारी ?
पनघट से आ रही पीत-वसना युवती सुकुमार,
किसी भांति ढोती गागर, यौवन का दुर्वह भार !
बनूंगी मैं कवि इसकी मांग,
कलश काजल सिन्दूर सुहाग।[2]

---

१. रेणुका, पृष्ठ १४
२. रेणुका, पृष्ठ १४

प्रथम पंक्ति में फलक पर सांध्य-जगत के सुनहले और श्याम रंग चढ़ाए गए हैं, खेतों की हरियाली में डूबते हुए सूरज की सिमटती हुई किरणों का चित्र अंकित किया गया है। पहली पंक्ति का चित्र स्वयं पूर्ण है। अग्रिम तीन पंक्तियों के चित्रों में गति, क्रिया और ध्वनि तीनों के संयोजन से यथार्थ और सजीव वातावरण उपस्थित किया गया है। अन्तिम पंक्तियों में गहरे रंगों के हल्के स्पर्श और सुकुमार रूप की रेखाओं से वातावरण में माधुर्य और कोमलता का प्रभाव उत्पन्न किया गया है। विस्तृत आधार-फलक पर अंकित होने पर भी इन चित्रों में कसाव और स्पष्टता है।

समष्टि चित्रों में अधिकतर रेखाएं ही प्रधान हैं। क्रांति के ध्वंस और विनाश के चित्रों में उन्होंने धूम्र, अंगार,खून और बिजली की तड़प के रंग भरे हैं। दिनकर को आलोक-दीप्ति और आभा से बहुत प्यार है। ओज और क्रांति की चेतना की अभिव्यक्ति के लिए वे हमेशा सूर्य से आलोक मांगते हैं, विभा की क्रान्ति और रश्मियों से कम्पन उधार लेते है। प्रखर व्यक्तित्व की कल्पना वे 'ज्योतिर्धर' के रूप में करते हैं। रश्मिरथी के अन्त में इसी आलोकपूर्ण वातावरण का निर्माण किया गया है—

अहा ! आलोक स्यन्दन आन पहुंचा,
हमारे पुण्य का क्षण आन पहुंचा,
विभाओ सूर्य का जय-गान गाओ,
मिलाओ, तार किरणों के मिलाओ
प्रभा-मंडल ! भरो झंकार ! बोलो !
जगत की ज्योतियो ! निज द्वार खोलो।
तपस्या रोचिभूषित ला रहा हूं,
चढ़ा मैं रश्मिरथ पर आ रहा हूं।[1]

ओज-दीप्त आत्मशक्ति की प्रखरता की चरम अभिव्यक्ति के लिए 'दिनकर' की दृष्टि सबसे पहले सूर्य पर जाती है।

लघु फलकों पर अंकित प्रकृति-चित्र

दिनकर जितने जीवन के कवि हैं उतने प्रकृति के नहीं परन्तु, जीवन, प्रकृति का आंचल छोड़ कर सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष या परोक्ष, किसी न किसी रूप में उसका सम्बन्ध प्रकृति से बना ही रहता है। यद्यपि दिनकर की कुछ कविताओं में प्रकृति का चित्रण आलम्बन रूप में हुआ है, परन्तु अधिकतर

१. रश्मिरथी, पृष्ठ १८१

रचनाओं में उसका उद्दीपन रूप ही प्रधान रहा है। दिनकर ने लघु फलकों पर प्रकृति के कोमल, मधुर, और सजीव चित्र खींचे हैं, यह चित्रात्मकता रसवन्ती और नीलकुसुम में विकसित होकर उर्वशी में अपनी चरम सीमा पर पहुंची है। उर्वशी के चित्र अधिकतर उपलक्षित और आलंकारिक हैं। रेणुका के प्रारम्भ-कालीन प्रकृति चित्रों में ही उनकी चित्रांकन शक्ति का परिचय मिल जाता है। एक उदाहरण लीजिये—

आज सरित का कल कल छल छल,
निर्झर का अविरल झर झर,
पावस की बूंदों की रिमझिम,
पीले पत्तों का मर्मर।[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में प्रकृति के विभिन्न उपकरणों की गति और ध्वनि दोनों का संयुक्त संयोजन ध्वनि-व्यंजक अनुकरणात्मक शब्दों के माध्यम से किया गया है। चित्र गतिपूर्ण और श्रावणिक हैं। प्रथम पंक्ति का 'कल कल' स्वर ध्वनि-व्यंजक है तो 'छल छल' जल-धारा की गति-विधि का परिचय देता है। 'झर झर' स्वर में गति और ध्वनि दोनों ही निहित है। चार रेखाओं से निर्मित इस चित्र का प्रभाव संश्लिष्ट है। प्रकृति का एक निस्तब्ध, नीरव और स्थिर चित्र निम्न पंक्तियों में देखिये——

पर्ण कुंजों में न मर्मर-गान
सो गया थक कर शिथिल पवमान।
अब न जल पर रश्मि बिम्बित लाल;
मूंद उर में स्वप्न सोया ताल।
सामने द्रुमराजि तमसाकार,
बोलते तम में विहग दो-चार,
झींगुरों में रोर खग के लीन,
देखते ज्यों एक रव अस्पष्ट, अर्थ विहीन,
दूर श्रुत अस्फुट कहीं की तान,
बोलते मानों, तिमिर के प्राण।[2]

पहली तथा तीसरी पंक्तियों की निषेधात्मक अभिव्यक्ति संध्या के आगमन के साथ वातावरण में बढ़ती हुई नीरवता और निस्तब्धता, तथा तीव्रता के साथ

---

१. रेणुका, पृ० २१
२. रसवन्ती, पृष्ठ ८८

झुकते हुए अंधकार का चित्र प्रस्तुत करती है। पत्तों का मर्मर मिट चूका है, आलोक-बिम्ब की लालिमा समाप्त हो चुकी है, इन दोनों पंक्तियों में व्यक्त कार्य का अवसान दूसरी तथा चौथी पंक्तियों की नीरवता में परिणत होता है जिससे सन्ध्या का वातावरण साकार और ध्वनित हो उठता है। अग्रिम पंक्तियों में घनघोर अंधकार के चाक्षुष चित्र में अस्पष्ट हल्की और तीखी ध्वनियों का समावेश करके एक सुन्दर और प्रभावपूर्ण प्रकृति-चित्र का निर्माण किया गया है।

दिनकर ने इन चित्रों का निर्माण केवल नपी-तुली बाह्य रेखाओं द्वारा ही नहीं किया है, वर्णों के नियमित और सुव्यवस्थित विन्यास के द्वारा भी उन्हें प्राणवन्त बनाया है। रेखाओं द्वारा निर्मित रूप-रेखाओं में सुन्दर मनोहारी रंग भर कर उनको वैभवपूर्ण बनाया गया है। निम्नलिखित पंक्तियों में चित्रित इन्द्रधनुषी वातावरण दिनकर की सजीव वर्ण-योजना का सुन्दर उदाहरण है—

चंद्रिमा पट का कर परिधान, सजा नक्षत्रों से शृंगार,
प्रकृति पुलकाकुल आंखें खोल, देखती निज सुवर्ण संसार।
चमकते तरु पर झिलमिल फूल, बौर जाता है कभी रसाल।
चहकती चित्रित मैना कहीं, कहीं उड़ती कुसुमों की धूल।

चांदनी का शुभ्र श्वेत परिधान, नक्षत्रों के झिलमिलाते अलंकार, दर्पण सा चमकता सरोवर-जल, चित्र में चमक और आभा उत्पन्न करते हैं, तथा उड़ते हुए पुष्प-पराग, चहकती मैना का स्वर और तितलियों का रंग-बिरंगापन वातावरण में फागुन का रंग और होली की मादकता भर देते है। प्रकृति के कोमल चित्रों की आधारभूमि का अंकन दिनकर चांदनी और नक्षत्रों की आभा, दूब की हरियाली, गगन की नीलिमा का रंग भरकर करते हैं। पक्षियों के कलरव, तितलियों की थिरकन और फूलों के हास से उस आधारभूमि को संस्पर्शित करके उनको अन्तिम रूप दिया गया है। उन्हें रंगों के आनुपातिक मिश्रण और उनके उचित तथा संतुलित प्रयोग का ज्ञान है। अनुरूप (Matching) और प्रतिरूप (Contrasting) दोनों ही प्रकार की रंग-योजना उनकी कृतियों में मिलती है। वर्णों के मिश्रण तथा वर्ण-परिवर्तन के भी अच्छे उदाहरण उनके सभी प्रकार के चित्रों में मिलते हैं। क्रान्ति के चित्रों में नियोजित अग्नि और धुयें के रंगों से निर्मित चित्रों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। प्रकृति के उदात्त-कोमल रंगों के द्वारा अनुभूतियों को उभार कर दिनकर ने जो भाव-स्निग्ध चित्र खींचे हैं, वही उनकी सिद्धि है। प्रकृति के बाह्य रंगों के संकेत से हृदय के रंगों की पारदर्शी अभिव्यक्ति उनके चित्रों की सार्थकता है। एक उदाहरण लीजिये—

पूरब की उद्भासित छिन्न घटायें
झलमल करने लगीं कनक-झालर सी,
नयन मूंद देखा ऐसे ही मुझ में
भावों के घन खण्ड अनेक रंगे थे।[१]

यहां चित्र यद्यपि पूर्ण रूप से लक्षित नहीं है, साम्यमूलक अप्रस्तुत-योजना का हल्का सा स्पर्श इसमें मिलता है, परन्तु इस चित्र में वर्ण-परिवर्तन की बड़ी सुन्दर योजना की गई है। बिखरी हुई काली घटाओं का प्रातःकालीन सूर्य की आभा से कनक वर्ण होकर झलमलाने का वर्णन बड़ा सटीक है—अपने हृदय के भाव-खंडों में उभरे रंगों के प्रतिरूप के उल्लेख में चित्र बाह्य प्रकृति का वर्णन मात्र नहीं रह गया है बल्कि ऐसा जान पड़ता है कि जल में पड़ते हुए ताजमहल के प्रतिबिम्ब की तरह उसने मूल-वस्तु के सौन्दर्य को द्विगुणित कर दिया है।

इसी प्रकार निम्नलिखित पंक्तियों में रंगों की प्रतिरूप तथा अनुरूप योजना के साथ ही वर्ण-मिश्रण का उदाहरण तो मिलता ही है, उसमें व्यंजित बाह्य-चित्र के साथ एक दूसरा रंगभरा और आभा से संस्पर्शित चित्र साथ-साथ चलता है—

भू की झिलमिल रजत सरित ही घटा गगन की काली है;
मेंहदी के उर की लाली ही पत्तों में हरियाली है
जुगनू की लघु विभा दिवा में कलियों की मुस्कान हुई
उडु को ज्योति उसी ने दी जिसने निशि को अंधियाली है।[२]

प्रथम पंक्ति में रजत सरित के शुभ्र श्वेत रंग के प्रतिरोध से काली घटाओं का रंग और भी गहरा हो जाता है। दूसरी पंक्ति में भी कवि का ध्यान रंगों पर केन्द्रित होकर ही अपने अभीप्सित को व्यक्त करना चाहता है—लाल और हरे रंग उस अर्थ में विरोधी नहीं हैं जिस अर्थ में श्वेत और काले वर्ण हैं, परन्तु प्रतिरूप वर्ण-योजना की दृष्टि से यह विन्यास सुन्दर और सार्थक है। जुगनू की लघु विभा और कलियों की मुस्कान में अनुरूप वर्ण-योजना के साथ आभा और कोमलता का संयोजन हुआ है। चौथी पंक्ति में फिर रंगों का प्रतिरोध सामने आता है। ज्योति और अंधकार एक दूसरे के विरोधी हैं, इन विविध संयोजनाओं के बाह्य पक्ष का उतना महत्व नहीं है जितना उनके द्वारा व्यंजित प्रतीक-चित्र का, जिनके कारण चित्र पारदर्शी बन गया है।

शुभ्र शरद के इस वर्णन में एक वर्ण-योजना की पुण्य आभा और सात्विक प्रभाव भी दर्शनीय है—

१. हुंकार, पृष्ठ ६२
२. द्वन्द्व गीत, पृष्ठ २५

उलर रही मंजरी कांस की, हवा झूमती आती है,
राशि राशि अवली फूलों की एक ओर झुक जाती है।
उगा अगस्त्य, उतर आया सरसी में निर्मल व्योम सखी,
झलमल झलमल कांप रहे हैं जल में उडु औ सोम सखी।[1]

प्रथम दो पंक्तियों में गति, सौरभ और रंग का संयुक्त संयोजन है। हवा के मंद झोंकों से झूमती हुई कांस की मंजरियों की श्वेत पृष्ठभूमि में राशि-राशि फूलों के रंग चटख हो उठते हैं। तीसरी और चौथी पंक्तियों में आभा-संयुक्त श्वेत रंग की प्रधानता है। सरोवर के स्वच्छ जल तथा निर्मल आकाश की पृष्ठ-भूमि में चन्द्र और नक्षत्रों के प्रतिबिम्बों की झिलमिलाहट नेत्रों में साकार हो उठती है।

रूप और अनुभाव चित्र

रूप तथा अनुभाव चित्रों के चरम सुन्दर रूप 'उर्वशी' में मिलते हैं। 'उर्वशी' की एक-एक पंक्ति में मानो ये चित्र टंके हुए हैं। परन्तु 'उर्वशी' की चित्र-योजना अधिकतर आलंकारिक, प्रतीकात्मक अथा उपलक्षित है इसलिए उनका विवेचन अप्रस्तुत-योजना के प्रसंग में करना अधिक उचित होगा।

'रसवन्ती' के रूप और अनुभाव चित्रों का स्थान दिनकर की रूमानी चित्र-कल्पना में सबसे महत्वपूर्ण है। हल्की रेखाओं और गहरे रंगों के प्रयोग द्वारा रूप तथा क्रिया का एक समन्वित चित्र देखिये—

खोल दृग देखा प्राची ओर, अलक्तक चरणों का शृंगार
तुम्हारा नव, उद्वेलित रूप, व्योम में उड़ता कुंतल भार।[2]

प्रथम पंक्ति में चित्र क्रिया-विधायक है, दूसरी और तीसरी पंक्तियों में रंग और रूप की आभा है, चतुर्थ पंक्ति में रंग और गति के संयोजन द्वारा चित्र को सजीव बनाया गया है। रसवंती की 'गीत अगीत' कविता में प्रस्तुत तीनों ही चित्र एक से एक बढ़ कर हैं। सरल अभिधात्मक उक्तियों में अधिकतर कवि चित्रांकन के लोभ में अपनी अभिव्यंजना को बोझिल बना देते हैं, परन्तु 'रसवन्ती' के चित्र स्पष्ट, ऋजु और सहज हैं, भाषा की दुरूहता और सांकेति-कता उनके और पाठक के बीच में नहीं आती। गीत के प्रथम अंश में गाती हुई निर्झरी और तट पर मूक खड़े हुए गुलाब के मनोहारी चित्र गीत के मूल भाव की जिज्ञासा को द्विगुणित करते हैं। तटिनी में गति और स्वर हैं। पाटल

---

१. रसवन्ती, पृष्ठ ४२
२. रसवन्ती, पृष्ठ ८

अपने गुलाबी सौन्दर्य में मूक और स्थिर हैं। दोनों के विरोधी गुण मन में एक ही प्रश्न उठाते हैं 'गीत, अगीत कौन सुन्दर है'—

गा गा कर बह रही निर्झरी,
पाटल मूक खड़ा तट पर है।
गीत अगीत कौन सुन्दर है।

उसी गीत के तीसरे अंश में ध्वनि-संयुक्त रेखाओं के द्वारा क्रियाविधायक चित्र का निर्माण किया गया है। शृङ्गार के अनुभाव, अलग-अलग रेखाओं द्वारा व्यक्त होकर एक संश्लिष्ट स्थिति और परिणति पर पहुंचते हैं, वही प्रश्न फिर मुखर हो जाता है—'गीत अगीत कौन सुन्दर है]?'

दो प्रेमी हैं यहां, एक जब
बड़े साँझ आल्हा गाता है,
पहला स्वर उसकी राधा को
घर से यहां खींच लाता है।
चोरी चोरी खड़ी नीम की
छाया में छिप कर सुनती है,
हुई न क्यों मैं कड़ी गीत की
बिधना, यों मन में गुनती है।
वह गाता पर किसी वेग से
फूल रहा इसका अन्तर है।[1]

चित्र विश्लेषात्मक है परन्तु उसका प्रभाव संश्लिष्ट है। सम्पूर्ण चित्र में पांच रेखाएं हैं, प्रथम रेखा, आल्हा गाकर प्रेमिका को अपनी उपस्थिति का संकेत देते हुए ग्रामीण प्रेमी का चित्र अंकित करती है। दूसरी रेखा प्रेमी का स्वर सुन कर उतावली प्रेमिका का चित्र खींचती है—चौथी रेखा में उसके मन के राग का रंग है, नीम की छाया में चुपचाप चोरी-चोरी प्रेमी का स्वर सुनती हुई नायिका के भौतिक व्यक्तित्व के साथ ही उसके मन की आकांक्षा भी व्यक्त है, जहां अनुभूति की रमणीयता ने चित्र में प्राण डाल दिए हैं। पांचवीं रेखा की अनुरागमयी भंगिमा सब रेखाओं को समन्वित कर प्रेमिका के रसमग्न हृदय का चित्रण करके एक-एक रेखा को अनुभूतिमयी बना देती है।

चटख, गहरे और चमचमाते हुए उपकरणों को मिलाकर दिनकर ग्रामीण

---

१. रसवन्ती, पृ० १४

और सहज सौन्दर्य का रूप अंकित करते हैं। ग्रामवधू की ये पंक्तियां उदाहरण रूप में ली जा सकती हैं—

माथे में सेंदुर पर छोटी
दो बिन्दी चमचम सी—
पपनी पर आंसू की बूंदें
मोती सी शबनम सी
पीला चीर, कोर में जिसकी
चकमक गोटा - जाली,
चली पिया के गांव उमर के
सोलह फूलों वाली।[1]

दिनकर के रूपचित्रण में ग्रामीणा की सहजता प्रायः अपने आप आ जाती है। सिन्दूर का पीला रंग, चमकती बिन्दियां, चकमक गोटा-जाली द्वारा नववधू के रूप-शृङ्गार का चित्र प्रस्तुत किया गया है। उसके कार्य-कलापों और मानसिक स्थितियों का भी बहुत सुन्दर चित्रण किया गया है—

आंखों में दे आंख हेरती
हैं उसकी जब सखियां,
मुस्की आ जाती मुख पर
हँस देतीं रोती अंखियां
पर समेट लेती शरमा कर
बिखरी सी मुस्कान
मिट्टी उकसाने लगती है
अपराधिनी समान।[2]

चित्र की हर रेखा स्पष्ट और सहज है—उनकी व्याख्या की अपेक्षा नहीं जान पड़ती। चित्र क्रिया-विधायक हैं—चार छोटी और हल्की रेखाओं के द्वारा नववधू के हृदय में छिपे हुए उल्लास और विदा लेती हुई कन्या की विछोह-पीड़ा के सम्मिलित अनुभावों का सहज-मुखर चित्र खींचा गया है।

'पुरुषप्रिया' के रूप-चित्रों में दिनकर की सौन्दर्य-दृष्टि तथा रूपांकन की सामर्थ्य का परिचय मिलता है—उनका रूप-चित्रण केवल बाह्य प्रसाधनों और अलंकरण सामग्री पर आधारित नहीं होता—इसीलिए उनके चित्र जड़, निष्प्राण

---

१. रसवन्ती, पृष्ठ १५

२. वही, पृष्ठ १६

और चित्र-लिखित न रह कर आर्द्र, तरल स्निग्ध और प्राणवन्त बन जाते हैं। जैसे—

लघु कनक-कुम्भ कटि पर साजे,
दृग बीच तरल अनुराग लिए,
चरणों में ईषत्, क्षीण
जलधौत अलक्तक राग लिए।[1]

उपर्युक्त चित्र में कनक कुम्भ की हल्की आभा, और सद्यः-स्नान के कारण जल से धुलकर हल्के पड़े हुए अलक्तक की रंग-योजना में सूक्ष्म सौन्दर्य-दृष्टि का परिचय तो मिलता ही है, आंखों के तरल अनुराग का स्पर्श देकर उसे सवाक् बना दिया गया है। आंखों के भाव से युक्त होकर जड़ रेखाएं मुखर और चेतन हो गई हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में शृङ्गार के सात्विक और कायिक अनुभावों का सजीव चित्रण है—

अंकुरित हुआ नव प्रेम, कंटकित,
कांप उठी युवती वसुधा,
रसपूर्ण हुआ उर कोष, दृगों में
छलक पड़ी सौन्दर्य सुधा।[2]

चित्र की स्पष्ट और सजीव रेखाओं में प्रस्तुत वसुधा तो बिलकुल पृष्ठभूमि में पड़ गई है और अप्रस्तुत मुग्धा के समस्त कार्यकलाप सजीव हो गए हैं। नव अनुराग के आवेग से उत्पन्न रोमांच प्रथम पंक्ति के 'अंकुरित' और 'कंटकित' शब्दों में साकार है। आवेग-जन्य कम्प के साथ ही दृगों से छलकते मादक सौंदर्य के वर्णन से चित्र सजीव हो गया है। प्रतीक्षा की उदास मुद्रा के स्थिर चित्र के साथ रसिक मेघ की निरपेक्ष मन्द गति के प्रतिरोधी चित्रण से स्थिति का मार्मिक चित्रण बन पड़ा है—

एक सिक्त कुन्तला खोल कर मेघों का वातायन
अब तक विकल रामगिरि-दिशि में हेर रही कुछ उन्मन।
रसिक मेघ पथ का सुख लेता मन्द-मन्द जाता है
अलका पहुंच संदेश यक्ष का सुन्न नहीं पाता है।[3]

प्रथम दो पंक्तियों में पुण्य और सात्विक विरह का जो आर्द्र चित्र प्रस्तुत किया गया है, उसमें कालिदास की विरहिणी में शाश्वत और सार्वभौम नारी

---

१. रसवन्ती, पृष्ठ ५४
२. वही, पृष्ठ ९२
३. वही, पृष्ठ ८७

सुरक्षित है। काल और देश की परिधि का अतिक्रमण कर वह हर विरहिणी के हृदय का प्रतिनिधित्व करती है, जो उन्मन होकर विरह अवधि के शाप-शमन की प्रतीक्षा करती रहती है।

इसी प्रकार शकुन्तला के प्रथम प्रेम और रूप-चित्रण में निहित शाश्वत तत्व की व्यंजना दिनकर के चित्रांकन की सामर्थ्य द्वारा ही सम्भव हो सकी है—

प्रथम स्पर्श से झंकृत होती वेपथुमती कुमारी,
एक मधुर चुम्बन से ही खिल कर हो जाती नारी।
दर्भांकुश खींचती चरण से, झुकी अरालासन से
देख रही रूपसी एक प्रिय को मधु भरे नयन से।[1]

शकुन्तला की इस कहानी में हर नारी की कहानी की आवृत्ति है। इस प्रकार के चित्रों में दिनकर ने कालिदास की सार्वभौमता को रेखाओं में समेट लिया है। कालिदास के मन के गीत दिनकर के चित्रों में बंध कर फिर से जीवित हो गये हैं। प्रथम दो पंक्तियों के अनुभाव और उनकी झंकार "हर पिपासु की तृष्णा जागृत कर देते हैं तथा तीसरी और चौथी पंक्तियों के सरल स्निग्ध रूप में 'शमित अग्नि' को पुनर्जीवित करने की शक्ति है।"

दिनकर की रूप-कल्पना अप्सराओं के सौन्दर्य को सुहागिनी बना कर रूप ग्रहण करती है। मंजीर, कंकण, वलय, मांग के मोती, कर्णफूल, आरसी इत्यादि आभूषणों से वे नारी को अलंकृत करते हैं तथा सिन्दूर, काजल, बिंदी, अलक्तक इत्यादि से उसका रूप संवारते हैं।

तुम्हें भी रात के सुनसान में आकाश पर दिखते,
किसी की मांग के मोती, किसी के हाथ का दर्पण ?
किसी के मुक्त कुंतल जाल लहराते हुए घन से
कि जिनमें से चमेली के हजारों फूल झरते हैं।[2]

प्रकृति के उपकरणों से भी रूप और रंग उधार लेकर उन्होंने नारी का रूप संवारा है—

ये नवनीत कपोल, गुलाबों की जिनमें लाली खोयी,
ये नलिनी से नयन, जहां काजल की लघु अलिनी सोई
कोंपल से अधरों को रंग कर कब वसन्त कर धन्य हुआ ?
किस विरही ने तनु की यह धवलिमा आंसू से धोई।

---

१. रसवन्ती, पृ० ६०
२. नील कुसुम, पृ० १३

नवनीत की कोमलता और सफेदी में नायिका के कोमल गौर वर्ण का तरल सौन्दर्य झांकता है, गुलाब की लाली कपोलों की लालिमा का संकेत करती है। दूसरी पंक्ति में नेत्रों के आकार और वर्ण का चित्रोपम वर्णन है, किसलय के रंग से होठों को रंजित किया गया है। प्रस्तुत चित्र लक्षित और उपलक्षित दोनों ही प्रकार की चित्र-योजनाओं का संयुक्त और सम्मिलित रूप है। उप-लक्षित अंशों में ग्रहण किये गये उपमान यद्यपि परम्पराभुक्त हैं, पर सौन्दर्य की ऐन्द्रिय अनुभूति उत्पन्न करने में वे पूर्ण समर्थ हैं।

रेणुका के रूप-चित्रों में ही दिनकर की 'रूप-दृष्टि' का परिचय मिल जाता है, परन्तु उन चित्रों की रेखायें अत्यन्त सहज और सरल हैं। परवर्ती चित्रों के समान स्थूल रेखाओं में सौन्दर्य की सूक्ष्मताओं को समेट लेने की सामर्थ्य उनमें नहीं है, 'रसवन्ती' की सद्यः स्नाता की जिस तरल पारदर्शिता का संकेत पहले किया जा चुका है रेणुका की सद्यः स्नाताओं में उसका अभाव है। यहां तो रूप—केवल रूप है। रस, रूप में नहीं उसके दर्शक के हृदय में है—

आग्रीव वारि के बीच खड़ी, गा रही मधुर प्रत्येक परी,
बिछली पड़ती किरणें जल पर, नाचती लहर पर स्वर लहरी।
डुबकी रमणियां लगाती हैं, लट ऊपर ही लहराती हैं
परियां अब जल से चलीं निकल, तन से लिपटे भीगे अंचल
चू रही चिकुर से वारिधार, मुख-शशि-भय रोता अंधकार
विद्यापति सिमट वसन तन में, मन्मथ जागे न मुनी मन में।[1]

'रेणुका' की इस चित्र-योजना को दिनकर की लक्षित चित्र-योजना का प्रारम्भिक रूप माना जा सकता है, जहां कवि की दृष्टि सौन्दर्य के बाह्य उप-करणों पर ही अटक कर रह गई है। लेकिन, रसवन्ती तक पहुंचते-पहुंचते ही दिनकर की तूलिका में प्राण भरने की शक्ति आ गई है। हो सकता है इसका कारण यह भी हो कि रसवन्ती का रूपाकर्षण वैयक्तिक है जब कि प्रस्तुत चित्र में उसका रूप सामूहिक है।

'नील कुसुम' और उर्वशी के चित्र विचारों को अपने में समाहित करके चलते हैं। रूप-चित्रण की तो बात छोड़िये दिनकर के अनुभाव चित्र भी विभिन्न भावों की प्रतिक्रियाओं के प्रतिबम्ब बन कर सामने आ जाते हैं। उदाहरण के लिए ये पंक्तियां ली जा सकती हैं—

ढलकते गीत में मोती,
चमकती आंख में शबनम।

---

१. रेणुका, पृष्ठ ५८

तुम्हारी बांसुरी की तान में
छिप रो रहा कोई।
गुलाबी आंख अपनी
आंसुओं से धो रहा कोई।[1]

उपर्युक्त चारों पंक्तियों में चित्र की रेखायें और रंग एक विचार-खण्ड के वाहक हैं, लेकिन दोनों का रूप संश्लिष्ट है। कला की प्रेरणा के मूल में दुख है परन्तु उसकी साधना में विजय की चमक, प्रथम दो पंक्तियों में यही भाव अनुभावों के माध्यम से व्यक्त हुआ है। बांसुरी की तान में किसी के रोने की कल्पना से बांसुरी से निकलती हुई करुण ध्वनि की कल्पना कानों में गूजने लगती है—रोती हुई आंखों के गुलाबीपन के स्पर्श से चित्र मार्मिक, यथार्थ और सजीव बन जाता है।

अनेक समस्याओं की उलझनों में फंसी हुई आज की बौद्धिक नारी के कार्य-कलापों को अपनी रेखाओं में दिनकर सफलतापूर्वक बांध सके है। चित्र में इतनी वक्र रेखाएं हैं कि उनकी आधुनिका ने व्यंग्य चित्र का रूप धारण कर लिया है—शायद दिनकर का उद्देश्य भी यही था। उनकी दृष्टि में न सहानुभूति है न 'दया' और न उद्धार का भाव—उसमें केवल भर्त्सना और उपहास है, पर चित्र की सजीवता और यथार्थता में कोई सन्देह नहीं है—

दांतों-तले अधर को दाबे, कसे उबलते मन को,
चलती हो ऐसे कि, देखती ही ज्यों नहीं किसी को।
तुम्हें ध्यान रहता कि पीठ सहलाती कितनी आंखें,
बंधे चले आते कितने मन छलकी हुई लटों से।
मनःस्पर्श करती बहुतों का बल खाती चलती हो,
मन ही मन गिनती हो, लोहू कांप गया कितने का।[2]

प्रथम पंक्ति के अनुभाव हृदय के उफान पर बांध बांधने का प्रयास करती हुई नारी का चित्र प्रस्तुत करते हैं। शेष पंक्तियों में आधुनिका द्वारा अपने रूप-सौन्दर्य तथा पुरुषों पर उसके प्रभाव के मूल्यांकन की चेष्टाओं का सजीव चित्रण हुआ है। इन पंक्तियों की विशेषता यही है कि आधुनिका के मानसिक अनुभावों के चित्रण द्वारा उसकी कायिक गतिविधियों के बिम्ब प्रस्तुत किए गए हैं। अमूर्त भावों और विचारों को रेखाओं में बांध कर उसकी बाह्य और स्थूल चेष्टाओं के मानसिक चित्र बना सकने की क्षमता में ही दिनकर की सफलता निहित है।

१. नील कुसुम, पृ० २६
२. रसवन्ती, पृ० ४६

वात्सल्य के अनुभावों का एक रसस्निग्ध और मार्मिक उदाहरण लीजिये—

अंचल के सुकुमार फूल को वह यों देख रही है,
फूट रही हो धार दूध की ही ज्यों भरे नयन से।
वीर, धनी विद्वान, ग्राम का नायक विश्व-विजेता,
अपनी गोदी बीच आज वह क्या क्या देख रही है।[१]

प्रथम दो पंक्तियों में सद्यः माता की वात्सल्य से भीगी हुई स्नेहभरी आंखें साकार हैं। इन अनुभावों को अभिलाषाओं और आकांक्षाओं में लपेट कर मातृत्व का सुन्दर और मार्मिक चित्र खींचा गया है।

इन कोमल भावों के आलम्बन और अनुभावों के अतिरिक्त दिनकर ने संघर्षरत, क्रियाशील और सामाजिक व्यक्ति के भी प्रभावपूर्ण और सबल चित्र खीचे हैं। इस प्रकार के चित्र रंगों की आभा से रहित और निरलंकार होते हुए भी सबल हैं; इनकी रेखाएं प्रखर और गहरी हैं। एक उदाहरण लीजिये—

वह प्रदीप जो दीख रहा है झिलमिल दूर नहीं है,
थक कर बैठ गए क्या भाई! मंजिल दूर नहीं है।
चिनगारी बन गई लहू की बूंद गिरी जो पग से
चमक रहे पीछे मुड़ देखो, चरण चिह्न जगमग से
अपनी हड्डी की मशाल से हृदय, चीरते तम का,
सारी रात चले तुम दुख झेलते कुलिश निर्मम का।
एक खेय है शेष किसी विधि पार उसे कर जाओ,
वह देखो, उस पार चमकता है मन्दिर प्रियतम का।
आकर इतना पास फिरे, वह सच्चा शूर नहीं है,
थक कर बैठ गये क्या भाई! मंजिल दूर नहीं है।[२]

उदात्त लक्ष्य के प्रतीक रूप में दीपक की संयोजना से राह की धूल से भरे हुए आकाश, संघर्ष के स्वेद, नैराश्य के तम और पैर से गिरती हुई लहू की बूंदों के निशानों से उत्पन्न अवसाद-ग्रस्त वातावरण में आशा की धीमी लौ का प्रभाव आ गया है, इसी प्रकार हृदय की मशाल के सहारे मार्ग के अन्धकार को चीरने की कल्पना तथा दूर मंजिल के अन्त में प्रियतम के मन्दिर की चमक से मार्ग के अन्धकार में धीमे प्रकाश का रंग भर गया है। जीवन के ऊबड़-खाबड़ मार्ग को कर्म-कुठार से समतल करते हुए निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर अग्रसर होने वाले मनुष्य का व्यक्तिचित्र इस बात का प्रमाण है कि जीवन के श्रम और संघर्षों

---

१. रसवन्ती, पृ० ५१
२. सामधेनी, पृ० १०-११

की अभिव्यक्ति के लिए अनगढ़ नीरस होना आवश्यक नहीं है । उसे 'सुन्दर' से आवृत करके और भी अधिक प्रभावोत्पादक बनाया जा सकता है ।

युद्धजन्य विध्वंस के करुण प्रभाव-चित्रण के लिए सीधी-सादी रेखाओं और ध्वंस के रंगों द्वारा जो चित्र प्रस्तुत किया गया है वह भी देखने योग्य है —

षोडशी शुक्लाम्बरायें आभरण कर दूर,
धूल मल कर धो रही हैं मांग का सिन्दूर।
वीर बेटों की चिताएं ज्वलित देख समक्ष,
रो रही माएं हजारों पीटतीं सिर वक्ष।[1]

प्रथम दो पंक्तियों की करुणा, श्वेताम्बरा षोडशियों, टूटते हुए आभूषणों और मांग के सिन्दूर के धुलते हुए रंगों के माध्यम से व्यक्त हो रही है, चित्र क्रिया-विधायक और चाक्षुष है । आयु के सोलह फूलों वाली नवयुवतियों की धूल धूसरित केशराशि, धुलता हुआ मांग का सिंदूर तथा श्वेत वस्त्र आखों में करुणा के आंसू बन कर छा जाते हैं। अन्तिम दो पंक्तियों में नाश का सामूहिक दृश्य बड़ा हृदयद्रावक है ।

व्यंग्य चित्र

किसी की धज्जियां उड़ाने के लिए भी दिनकर के पास चित्रों की काफी पूंजी है । उनके मन का आक्रोश व्यंग्य और उपहास जिन व्यंग्य-चित्रों द्वारा व्यक्त होता है उनकी प्रभावात्मकता 'शंकर' के कार्टूनों से कम नहीं है। कार्टूनों की टेढ़ी-सीधी, उल्टी, वक्र रेखाओं से चित्र उभारने में भी वे उतने ही कुशल है जितने रूप, शृंगार और कोमल भावनाओं के चित्र खीचने में। एक दो उदाहरण ही इस कथन के प्रमाण के लिए काफी होंगे--

आधुनिकता की बही पर नाम अब भी तो चढ़ा दो,
नायलन का कोट हम सिलवा चुके है ;
और जड़ से नोंच कर बेली चमेली के द्रुमों को
कैक्टसों से भर चुके हैं बाग हम अपना।

इसी प्रकार गांधी के नाम पर अहिंसात्मकता का कृत्रिम ढोंग रचने वालों पर यह प्रहार किसी कार्टून के प्रहार से कम कठोर नहीं है—

कुर्ता टोपी बाँध कमर में भले बाँध लो
पांच हाथ की धोती घुटनों से ऊपर तक,

---

१. सामधेनी, पृष्ठ २०

अथवा गांधी बनने के आकुल प्रयास में
आगे के दो दांत डाक्टरों से तुड़वा लो।

निष्कर्ष यह है कि उनकी भाषा के समान ही दिनकर की चित्र-योजना का भी सर्वप्रधान गुण है भावानुरूपता। कोमलता, परुषता, ओज, शृंगार, स्वभावोक्ति, सहजोक्ति तथा वक्रता इत्यादि सभी भावो के अनुरूप कोमल-परुष, विशाल और लघु चित्र खीचने में वे समर्थ हो सके हैं। जैसे-जैसे उनकी कला प्रौढ़ होती गई है उनकी अभिव्यंजना और विषय-वस्तु अधिकाधिक सम्पृक्त होते गये है। काव्य-चित्रों की सार्थकता ही यही है कि भाव और विचार, चित्र बन कर हमारे मनःचक्षु के सामने साकार हो जायें, और चित्रों की सार्थकता की इस कसौटी पर दिनकर के चित्र पूर्ण रूप से खरे उतरते है। अपने चित्रों के रंग, रेखायें और अलंकरण के प्रसाधन उन्होंने प्रकृति और जीवन के व्यापक क्षेत्रों से ग्रहण किये है। रंगों के संतुलित और कल्पनापूर्ण प्रयोगों तथा रेखाओं के कुशल संयोजन से चित्र सप्राण हो गये है। अनुभूति, विचार और चित्रात्मक अभिव्यक्तियां पूर्ण रूप से संश्लेषात्मक हो गई है। यहां भी उनकी दृष्टि भाव और प्रतिपाद्य पर ही केन्द्रित रहती है। चित्र तो माध्यम मात्र है। रसोद्रेक में सहायक होने के कारण उनमें जीवन्त पारदर्शिता है। हमारी दृष्टि चित्रो के रंगों और रेखाओं पर ही अटक कर नही रह जाती उनके आरपार देख सकती है।

दिनकर की अप्रस्तुत-योजना

अपनी उक्ति को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए कवि अलंकारों का प्रयोग करता है। अलंकारों के मनोवैज्ञानिक आधार हैं स्पष्टता, विस्तार, आश्चर्य, अन्विति, जिज्ञासा और कौतूहल। इनके मूर्त रूप है साधर्म्य, वैषम्य, औचित्य, वक्रता और चमत्कार। अर्थात् उक्ति को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए कवि अभीष्ट अर्थ के साथ बाह्य जगत् की वस्तुओं के सादृश्य की स्थापना करके उनका प्रेषण करता है। अर्थ को अतिशयोक्ति रूप में प्रकट करके पाठक के मन का विस्तार करता है; वैषम्य द्वारा आश्चर्य की उद्भावना तथा औचित्य के द्वारा उसकी वृत्तियों को अन्वित करता है। बात को वक्रता के साथ कहकर श्रोता या पाठक की जिज्ञासा उद्दीप्त करता है तथा बुद्धि की करामात दिखाकर उसके मन में कौतूहल उत्पन्न करता है। इसी आधार पर अलंकारों को पांच भागों में विभाजित किया जा सकता है—

१. साम्य-मूलक अलंकार (उपमा, रूपक, दृष्टान्त इत्यादि)
२. अतिशय-मूलक अलंकार (अतिशयोक्ति अलंकार के विभिन्न भेद)

३. वैषम्य-मूलक अलंकार (विरोध, विभावना इत्यादि)

४. औचित्य-मूलक अलंकार (स्वभावोक्ति इत्यादि)

५. वक्रता-मूलक अलंकार (अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याज-स्तुति)

६. चमत्कार-मूलक अलंकार (यमक, चित्र, मुद्रा आदि के विभिन्न भेद)

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में अलंकारों को तीन भागों मे विभक्त किया गया है—

१. शब्द-विन्यास सम्बन्धी अलकार

२. वाक्य-विन्यास सम्बन्धी अलंकार

३. अर्थ-विन्यास सम्बन्धी अलंकार

प्रथम वर्ग के अलंकार भारतीय शास्त्र मे व्याकरण के नियमो मे अन्तर्भूत हो जाते है। शेष दो वर्ग के अलंकारों मे भारतीय अलंकार-विधान से बहुत साम्य है। मानवीय भावनाओं के समान ही मानव-बुद्धि की प्रक्रिया प्राय: शाश्वत और सार्वभौम है। अलकार-विधान के द्वारा कवि अपने राग-तत्व की सहायता से अपनी भावनाओ को व्यक्त करता है। इसी मनोवैज्ञानिक आधार के कारण विभिन्न देशों के अलंकार-विधान मे एक सार्वभौम ऐक्य है। साम्य, वैषम्य, अतिशयता, वक्रता, चमत्कार इत्यादि ही पाश्चात्य अलकारों के भी आधार है।

इस प्रकार वाणी का अलकरण शैली का एक बाह्य उपादान मात्र नहीं है, उसकी जड़ें मानव के अन्तरंग से सम्बद्ध है। अलंकार रसानुभूति में योग देने वाले तत्व है। प्रतिपाद्य से सम्बद्ध बाह्य जगत् के विभिन्न उपकरणो को उपमान तथा प्रतीक के रूप में ग्रहण कर, उपर्युक्त पाच आधारो मे से एक या अनेक की विधा पर कवि उनका सम्बन्ध स्थापित कर अपनी उक्ति को प्रभावोत्पादक बनाता है। अलंकारो के द्वारा सहृदय की वृत्तिया उद्दीप्त होकर अन्वित होती है और इस प्रकार अनलंकृत उक्ति की अपेक्षा उनमें अधिक गहराई आ जाती है। कवि की कला बहुत बड़ी सीमा तक अलंकारों के प्रयोग पर निर्भर रहती है। "भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप-गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होने वाली उक्ति अलंकार है।" आचार्य शुक्ल की इस परिभाषा के अनुसार अलंकार के दो मुख्य कार्य हैं—(१) भावों का उत्कर्ष दिखाना, (२) वस्तुओं के रूपानुभव, क्रियानुभव तथा गुणानुभव को तीव्र करना। जहां इन उद्देश्यों की परिपूर्ति स्वाभाविक अलंकार-विधान द्वारा होती है वही वे सार्थक होते है और वहीं उनका सौन्दर्य निखरता है। परन्तु यदि उसमें कृत्रिमता आ जाती है तो उनका सारा सौन्दर्य मिट्टी में मिल जाता है और वह विधान केवल एक यान्त्रिक शिल्प-मात्र रह

जाता है। अलंकार काव्य की शोभा के लिए हैं, परन्तु यदि उनमें असंतुलन और अतिशयता हुई तो वही उपहासजनक असौन्दर्य बन जाते हैं। अलंकार्य तथा अलंकार के सामंजस्य-विधान में ही अलंकारों की सार्थकता है। बुद्धि के बलात्कार द्वारा निर्मित अलंकार-विधान अस्वाभाविक बन जाता है। इस सामंजस्य के अभाव में अलंकारों का कोई महत्व नहीं रह जाता, जहां बाह्य सज्जा ही सौन्दर्य की परिभाषा बन जाय, वहां सौन्दर्य का रूप सच्चा नही होता।

अलंकरण-सामग्री

अलंकार-योजना में प्रधान रूप से दो पक्ष होते है—(१) उपमेय (२) उपमान। यही उपमेय और उपमान ही आधुनिक शब्दावली मे 'प्रस्तुत' और 'अप्रस्तुत' बन गये है। उपमानों के औचित्यपूर्ण प्रयोग पर काव्य की सफलता तथा सौष्ठव बहुत बड़ी सीमा तक निर्भर रहता है। अप्रस्तुत-विधान काव्य-शिल्प की सबसे बड़ी कसौटी है। इसके नियोजन के द्वारा काव्य मे प्रभावोत्पादकता, विशदता तथा रसनीयता का समावेश किया जाता हे। रमणीय अनुभूति के लिए रमणीय अभिव्यंजना की अपेक्षा होती है ; क्योंकि अनुभूति और अभिव्यंजना-सौष्ठव के संतुलित समन्वय से ही आदर्श काव्य का निर्माण होता है। चरमानुभूतियां जब इतनी रसनीय हों कि अभिव्यंजना-सौष्ठव के बिना भी रसोत्कर्ष में समर्थ हों तभी प्रस्तुत अप्रस्तुत से अविच्छिन्न रह सकता है ; नही तो अप्रस्तुत के बिना प्रस्तुत एक साधारण उक्ति-मात्र रह जाता है।

भाव की अभिव्यक्ति तया स्वरूप की आनन्दमयी प्रतीति दोनों ही आलंकारिक योजना के अभीष्ट होते है। परन्तु दोनों ही अभीष्टो की एक साथ परिपूर्ति कवि के लिए बड़ी कठिन पड़ जाती है। इस विधान में सबसे आवश्यक तत्व है औचित्य ; अर्थात् उपमेय और उपमान के व्यापार मे औचित्य की मात्रा पर साम्य की सामर्थ्य निर्भर है और साम्य-सामर्थ्य का काव्य-शिल्प में बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। जहां यह स्थापना केवल स्वरूपबोधक रहती है वहां काव्य-सौन्दर्य का अभाव होता है, साम्य के विद्यमान रहते भी उसे काव्य-कोटि के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। अप्रस्तुत-योजना का उद्देश्य है भावना को तीव्र करना ; किसी वस्तु का स्वरूपबोध या परिज्ञान कराना मात्र नहीं। स्वरूप-बोध के साथ सौन्दर्य-बोध होने पर ही काव्य का अस्तित्व होता है। प्रयोग-औचित्य, यथार्थता, अभिव्यंजकता, ध्वन्यात्मकता, उपमेय तथा उपमान-संयोजन के लिए अभीप्सित आवश्यक गुण हैं। यदि उपमान अमार्मिक और असमर्थ हुए तो अप्रस्तुत-विधान साधारण उक्ति को चामत्कारिक और रमणीय बनाने के बदले उपहासप्रद बना देते हैं।

अप्रस्तुत-योजना विभिन्न प्रकार के साम्यों के आधार पर की जाती है। साम्य के मूलतः तीन रूप सादृश्य, साधर्म्य और प्रभाव-साम्य ही प्रधान हैं। यदि साधर्म्य या सादृश्य में प्रभाव-विस्तार की शक्ति नहीं है तो उपमान निर्जीव रहेंगे। भाव की समृद्धि में जो अप्रस्तुत-विधान जितना अधिक योग देता है, वह उतना ही सफल होता है। प्रभाव-साम्य का प्रयोग व्यक्ति अथवा वस्तु के गुण को संवेदनशील बनाने के स्थान पर किसी प्रभाव की अनुभूति को स्पष्ट करने के निमित्त होता है। इसके अतिरिक्त प्रतिद्वन्द्वात्मक तथा विरोधात्मक समता के द्वारा भी उपमेय और उपमान का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। प्रथम में समता का रूप प्रतिद्वन्द्वात्मक होता है, दूसरे में समता के होते हुए भी वैभिन्न्य तथा विरोध का अस्तित्व विद्यमान रहता है। इसके अतिरिक्त अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत की व्यंजना अन्योक्ति, अप्रस्तुत-प्रस्तुत की एकात्मकता इत्यादि के द्वारा भी की जाती है। स्पष्टतः इस सम्पूर्ण विधान मे प्रस्तुत की अपेक्षा अप्रस्तुत अर्थात् उपमान का ही अधिक महत्व रहता है। उपमान ही वे उपादान हैं जिनके द्वारा कवि अपनी उक्ति को रमणीय बनाता है।

उपमान

प्रायः सभी कवियों की रचनाओं मे प्रयुक्त उपमानो पर अपने युग तथा वातावरण का प्रभाव प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनों ही रूपो मे पड़ता है। उपमान तथा वातावरण का एक और सम्बन्ध है। कवि को वातावरण के अनुकूल उपमान ग्रहण करने के लिए जागरूक रहना पड़ता है। कवि के लिए प्रस्तुत से सम्बद्ध युग, संस्कृति, समाज तथा अन्य परिस्थितियो के अनुकूल उपमानों का संयोजन ही अभीष्ट है और सबसे बड़ा अभीष्ट है मार्मिक अनुभूति, जिसके अभाव में अप्रस्तुत-विधान ही साध्य बनकर श्रेष्ठ काव्य की कोटि से नीचे आ जाता है। युग की नई-नई बदलती हुई परिस्थितिया उपमानों के रूप, अर्थ और सौन्दर्य-बोध में परिवर्तन करती रहती है। नये युग के प्रयोगवादी उपमान इसके स्पष्ट उदाहरण हैं ही, मध्ययुग की कविता में भी राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियां कवि को नये उपमान देती रही है।

यद्यपि व्यापक रूप मे सौन्दर्य-तत्व सर्वकालीन और सार्वभौम हैं परन्तु प्रत्येक देश और संस्कृति की सौन्दर्य-विषयक धारणाओं का निर्माण तथा उनकी अभिव्यक्ति एकदेशीय बाह्य उपकरणों के आधार पर की जाती है। इसीलिए उपमानों के प्रयोग में भी व्यापक तत्वों के साथ ही साथ एकदेशीय तत्व विद्यमान रहते हैं। देश-विशेष में सौन्दर्य तथा असौन्दर्य-सम्बन्धी मान्यतायें बन जाती हैं। इन बंधी हुई धारणाओं के विपरीत मान्यताओं के आधार पर अप्रस्तुत-विधान

में कवि की नवीन और मौलिक उद्भावना तथा कल्पना-शक्ति अपेक्षित होती है। प्रकृति-विरुद्ध उपमान असुन्दर बन जाते हैं। आचार्य शुक्ल के शब्दों में, "सिद्ध कवियों की दृष्टि ऐसे ही अप्रस्तुतों की ओर जाती है जो प्रस्तुतों के समान ही सौन्दर्य, दीप्ति, कान्ति, कोमलता, प्रचंडता, भीषणता, उग्रता, उदासी, अवसाद, खिन्नता इत्यादि की भावना जगाते हैं।"

उपमान-संयोजन मुख्यतः पाँच प्रकार से किया जाता है—

१. मूर्त के मूर्त उपमान।

२. अमूर्त के अमूर्त उपमान।

३. मूर्त के अमूर्त उपमान।

४. अमूर्त के मूर्त उपमान।

५. मूर्तामूर्तरूप उपमान।

(१) जहां उपमेय और उपमान दोनों ही मूर्त पदार्थ या व्यक्ति हों।

(२) अमूर्त उपमेय और अमूर्त उपमान के सामंजस्य-विधान में सूक्ष्म कल्पना तथा श्रेष्ठ काव्य-प्रतिभा अपेक्षित रहती है। सूक्ष्म दृष्टि के अभाव में इसका संयोजन सम्भव नहीं, यह सर्वसाध्य और सर्वसुगम नही है।

(३) मूर्त प्रस्तुत के लिए अमूर्त अप्रस्तुत का नियोजन उतना कठिन नही है, क्योंकि मूर्त वस्तु के रूप, रंग, गुण तथा अवगुण प्रत्यक्ष और अनुभूत रहते हैं और अनुभूत वस्तु की अभिव्यक्ति स्वयमेव सहज होती है।

(४) अमूर्त भावों के मूर्त उपमानों का संयोजन बहुत कठिन है। भावात्मक अमूर्त के ऐसे मूर्त उपमानों का चयन, जिनसे उनमे भाव-व्यजक साम्य की स्थापना की जा सके, कठिन कार्य है।

(५) एक ही प्रस्तुत के लिए, चाहे वह मूर्त हो या अमूर्त, मूर्त तथा अमूर्त दोनों ही प्रकार के उपमान नियोजित किए जाते हैं। इस प्रकार की योजना करते समय कवि को इस बात के लिए सतत रूप से जागरूक रहना पड़ता है कि उसका विधान कहीं दूरारूढ़ न हो जाए।

दिनकर ने स्वय भी अलंकारों को केवल बाह्य अलंकरण का साधन न मान कर उसे काव्य के आन्तरिक विकास में सहायक उपकरण माना है। उनके अनुसार "अलंकार शब्द से, वैसे तो, अनावश्यक बनाव-सिंगार की भी ध्वनि निकलती है, किन्तु, कविता में अलंकारों के प्रयोग का वास्तविक उद्देश्य अतिरंजन नहीं, वस्तुओं का अधिक से अधिक सुनिश्चित वर्णन ही होता है। साहित्य में भी जब हम संक्षिप्त और सुनिश्चित होना चाहते हैं, तभी रूपक की भाषा हमारे लिए स्वाभाविक हो उठती है। रूपकों पर सम्पूर्ण अधिकार को अरस्तू

ने कवि प्रतिभा का सबसे बड़ा लक्षण कहा है। और येट्स का विचार था कि परिपक्व ज्ञान बराबर रूपकों में व्यक्त होता है। सच्चे अर्थों में मौलिक कवि वह है जिसके उपमान मौलिक होते हैं और श्रेष्ठ कविता की पहचान यह है कि उसमें उगने वाले चित्र स्वच्छ और सजीव होते हैं। × × × चित्र भी कविता के साधन होते हैं, साध्य नहीं। शक्तिशालिनी कविता केवल चित्र दिखला कर सन्तुष्ट नहीं हो जाती वह चित्रों के भीतर से कुछ और दिखलाना चाहती है।"[1]

दिनकर की अप्रस्तुत-योजनाओं के तीन मुख्य रूप हैं। (१) सादृश्यमूलक (२) अतिशयोक्तिमूलक (३) विरोधमूलक। इन तीनों में सर्वप्रमुख है सादृश्य-मूलक अप्रस्तुत-योजना। सादृश्य-योजना के आधार अधिकतर तीन प्रकार के हैं। रूप-साम्य, धर्म-साम्य, और प्रभाव-साम्य। इन सादृश्य-विधानों में परम्परा, उत्प्रेक्षा, रूपक, उपमा, उदाहरण आदि अलंकारों के रूप में तथा नये प्रयोग मानवीकरण, विशेषण विपर्यय इत्यादि अलंकारों के रूप में विद्यमान हैं।

दिनकर की सादृश्यमूलक योजनाओं का सबसे प्रधान गुण है उसकी संश्लिष्ट चित्रात्मकता जो सभी प्रकार की साम्य-योजनाओं पर आधारित है। उपयुक्त उपमान-चयन तथा लाक्षणिक प्रयोग की कुशलता के कारण उनके अलंकार भाषा के अंग बन जाते हैं, मोती की आभा की तरह उनका सौन्दर्य अन्तर्निहित रहता है। ऊपर से लादे हुए अलंकारों की भांति वे केवल बाह्य सज्जा के उपकरण नहीं रह जाते। सादृश्य-योजना का यह कौशल उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में ही मिलने लगता है। काव्य-शास्त्रीय भाषा में कहें तो उपमा और रूपक उनके प्रिय अलंकार हैं। उत्प्रेक्षा में अपेक्षित असम्भाव्य अनिवार्यता ने उन्हें अधिक आकर्षित नहीं किया है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं--

स्वर्ग-स्रोत, करुणा की धारा, भारत मां का पुण्य तरल,
भक्ति अश्रुधारा सी निर्मल गंगा बहती है अविरल।[2]

निर्मल गंगा के लिए प्रयुक्त चारों ही उपमान अमूर्त हैं और अलग-अलग प्रभाव व्यंजित करते हैं। स्वर्गस्रोत से एक ओर 'अच्युत-चरण-तरंगिनी' का रूप साकार होता है और दूसरी ओर उस पौराणिक विश्वास की ध्वनि व्यंजित होती है जिसके अनुसार गंगा पतित पावनी है, प्राणीमात्र को पृथ्वी के मलिन दूषणों से मुक्त करके नैसर्गिक पुण्य प्रदान करती है। करुणा की धारा में वर्ण और धर्म-साम्य की मिश्रित संयोजना है। करुण का रंग श्वेत माना गया है

१. चक्रवाल, भूमिका, पृष्ठ ७३
२. रेणुका, पृष्ठ १५

और गंगा का स्वच्छ निर्मल जल भी श्वेत है। इसके अतिरिक्त भक्तों के प्रति गंगा की करुण-आर्द्र कृपा भी प्रसिद्ध है। तीसरे उपमान 'भारत मां का पुण्य तरल' में उसकी भौगोलिक और प्राकृतिक महत्ता की ओर संकेत किया गया है। द्वितीय पंक्ति में साम्य-योजना प्रभाव पर आधृत है। भक्ति की अश्रुधारा हृदय की द्वन्द्वरहित राग-द्वेष से परे की अनुभूति के अनुभाव रूप में व्यक्त होती है, गंगा की धारा भी स्वच्छता और निर्मलता की प्रतीक है। उपमानों के मूर्त और अमूर्त दोनों ही पक्षों का संश्लिष्ट साम्य-विधान कवि के सूक्ष्म सौन्दर्य-बोध का परिचायक है।

जहां दिनकर ने एक ही उपमेय पर अनेक उपमानों का आरोपण किया है, वहां भी रस और वाणी का आन्तरिक सम्बन्ध टूटने नहीं पाया है और न उनमें परिगणन दोष आने पाया है। रसबोध और सौन्दर्य-बोध वहां भी सम्पृक्त रहते है। उदाहरण के लिए—

अवनी के नक्षत्र! प्रकृति के उज्ज्वल मुक्ताहार।
उपवन दीप! दिवा के जुगनू! वन के दृग सुकुमार!
मेरी मृदु कल्पना-लहर से, पुलकाकुल उद्भ्रान्त।
उर में मचल रहे लघु लघु भावों में कोमल कान्त
निज सौरभ से सुरभित, अपनी आभा में द्युतिमान।
मुग्धा से अपनी ही छवि पर भूल पड़े छविमान।[1]

प्रथम दो पंक्तियों के रूपकात्मक उपमान लक्षणा का वैभव अपने में समेटे हुए अर्थगर्भित हैं। दूसरी दो पंक्तियों मे मूर्त उपमेय पर अमूर्त पुलकाकुल उद्-भ्रान्त मृदु कल्पना, तथा हृदय के लघु-लघु भावों का आरोपण करके उसे प्राण-मय चेतन का रूप दे दिया गया है। अन्तिम दो पंक्तियां गुण-साम्य पर आधृत है। अपने रूप और सौन्दर्य पर स्वयं ही मोहित मुग्धा नायिका की रस-स्निग्ध सहज सुन्दर मुद्रायें उपमेय में सजीव हो उठी हैं। सभी उपमान मोहक हैं और उनका विन्यास कौशलपूर्ण है परन्तु कौशल की जागरूक और बौद्धिक चेष्टा हृदय के रस और सौन्दर्य में समा गई है।

रूप, धर्म और प्रभाव-साम्य की यह कुशल संयोजनायें कुरुक्षेत्र जैसे समष्टि-चेतना के काव्य में भी उतनी ही प्रभावपूर्ण बन पड़ी है। शरशय्या पर पड़े हुए भीष्म की ओजस्विता और गौरवपूर्ण पराजय के प्रतीक रूप में प्रयुक्त उपमान बड़े सार्थक हैं—

---

१. रेणुका, पृष्ठ ६२

शरों की नोंक पर लेटे हुए गजराज जैसे।
थके टूटे गरुड़ से त्रस्त पन्नगराज जैसे।[1]

गजराज से उनके दृढ़ और ओजस्वी व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब उतरता है। 'थके', 'टूटे' तथा 'गरुड़ से त्रस्त' शब्द भीष्म के गौरवपूर्ण पराभव को व्यंजित करते हैं। यहां उपमान और उपमेय दोनों मूर्त हैं।

निम्नलिखित पंक्तियों में धर्म-साम्य का सुन्दर उदाहरण मिलता है—

और तब चुप हो रहे कौन्तेय,
संयमित करके किसी विध शोक दुष्परिमेय,
उस जलद सी एक पारावार,
हो भरा जिसमें लबालब, किन्तु जो लाचार
बरस तो सकता नहीं, रहता मगर बेचैन है।[2]

घनीभूत पीड़ा के आंसू रूप में बरसने का भाव नया नहीं है—उमसभरे बादल, परम्परा से कामानुभूतियों की घुटन के रूप मे प्रयुक्त होते रहे है, यहां बादल केवल आंसुओं और आहों का भार ढोने वाले उपकरण नहीं रह गये है। युधिष्ठिर की समस्त गरिमा, गाम्भीर्य और मार्दव उन्होंने अपने में समेट लिया है। युधिष्ठिर के हृदय में उठता हुआ पश्चाताप, वेदना और दुःख का पारावार उपमेय बादल में समा गया है।

कुरुक्षेत्र के सातवे सर्ग मे संघर्ष-रत मनुष्य की गतिविधियों के लिए संजोये हुए उपमान भी सार्थक और सुन्दर है। इन्ही कुशल सयोजनाओं द्वारा दिनकर गीता के 'कर्मयोग' को काव्यात्मक बाना पहना सके है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

रागानल के बीच पुरुष कंचन सा जलने वाला
तिमिर सिन्धु में डूब रश्मि की ओर निकलने वाला,
ऊपर उठने को कर्दम से लड़ता हुआ कमल सा,
ऊब डूब करता उतराता घन में विधु मण्डल सा।[3]

संसार के अवरोधों-विरोधों तथा संघर्षों को झेलते हुए आशा और निराशा, दुःख और सुख, अन्धकार और प्रकाश दोनों ही का सामना करके जीवन की विजय-भेरी बजाने वाले कर्मयोगी के लिए संकलित सभी अप्रस्तुतों में दिनकर की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का परिचय मिलता है। राग की भयंकर अग्नि में तप कर

---

१. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ३८
२. वही, पृष्ठ १२
३. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ ९७

व्यक्ति अपनी दुर्बलताओं और परिसीमाओं पर विजय प्राप्त करता है, सत्या-सत्य का ज्ञान उसके व्यक्तित्व को निखार कर कुन्दन और पारदर्शी बना देता है। परिस्थितियों और संघर्षों की भट्टी में जलता हुआ मन, अग्नि के ताप से द्रवित स्वर्ण के उपमान द्वारा चित्रमय हो उठता है। उपमान पुराना और परम्परागत है पर विषय और अभिव्यंजना की संश्लिष्ट संयोजना ने उसे नई सामर्थ्य दे दी है। द्वितीय पंक्ति का प्रच्छन्न उपमान है सूर्य जिसके प्रखर उदय और गहन अस्त के क्रम को मानव जीवन के सुख-दुःखात्मक पक्षों पर आरोपित करके आशा और विश्वास की रश्मि में जीवन की विजय प्रतिष्ठित की गई हैं। तीसरी पंक्ति की साम्य-योजना में पाप पर पुण्य की विजय की प्रतिष्ठा है। कीचड़ जीवन की उन मलिनताओं, दूषणों और दुर्बलताओं का प्रतीक है जिनके मूल में वैयक्तिक रागद्वेष रहता है—इन प्रवृत्तिमूलक विकृतियों से बच कर रहने वाला ही कर्मयोगी है। कमल उसी कर्मयोगी का प्रतीक है, जो संसार का पंक झेल कर भी उसकी मलिनताओं से अपने को बचाने की चेष्टा में रत रहता है। चौथी पंक्ति में 'ऊब डूब' करता शब्दों के द्वारा संघर्ष का चित्र प्रधान हो गया है। बादलों की परतों में छिपते और निकलते चन्द्र का चित्र निराशा की अन्धकारपूर्ण उदासी और आशा की स्निग्ध मुस्कान का चित्र एक साथ प्रस्तुत करते है।

नैराश्य की मुद्रा की ऐसी ही एक संयोजना कुछ परिवर्तन के साथ रश्मिरथी में मिलती है। परशुराम से झूठ बोलने के अपराध मे अभिशप्त निस्तेज कर्ण का चित्र है—

परशु के चरण की धूलि लेकर, उन्हें अपने हृदय की भक्ति देकर,
निराशा से विकल टूटा हुआ सा, किसी गिरिशृङ्ग से छूटा हुआ सा,
चला खोया हुआ सा कर्ण मन में
कि जैसे चांद चलता है गहन में।[1]

प्रथम उपमान में नियोजित स्थिति-साम्य तपस्या की अन्तिम सिद्धि तक पहुंच कर लौट पड़ने की विवशता का अंकन करती है तथा द्वितीय उपमान, भावोत्कर्ष में पूर्ण सहायक है। अभिशप्त कर्ण के लिए राहु-ग्रस्त चन्द्र का उपमान बड़ा उचित बन पडा है, परन्तु इससे भी अधिक सार्थकता 'उपमान' मे व्यंजित आशामूलक ध्वनि की है। ग्रहण की स्थिति को पार कर चन्द्रमा फिर अपनी आभा से पूर्ण हो जाता है, शापग्रस्त कर्ण की उदासी का अस्थायित्व तथा भावी आशा का संकेत भी प्रस्तुत उपमान में निहित है।

---

१. रश्मिरथी, पृ० २५

रसवन्ती की उपमाएं एक ओर सहज कोमल और मधुर हैं दूसरी ओर उसमें छायावादी मानवीकरण की परम्परा का अवशेष भी मिलता है जिसमें कवि और उसके युग की अपेक्षाकृत स्पष्ट, और स्थूल अभिव्यंजना का समावेश मिलता है। उनकी कल्पना में पंत, निराला और महादेवी की कोमलता और अतीन्द्रियता नहीं है और न उनकी कला में मणिकुट्टिम जड़ाव है। 'मणिकुट्टिम' कला की रचना तो दिनकर आगे चल कर 'उर्वशी' में ही कर सके हैं। प्रथम वर्ग में उपमानों के उदाहरण रूप में निम्नलिखित पंक्तियां ली जा सकती हैं।

माथे में सेंदूर की छोटी दो बिन्दी चमचम सी
पपनी पर आंसू की बूंदें, मोती सी शबनम सी।
लदी हुई कलियों से मादक टहनी एक नरम सी
यौवन की विनती सी, भोली गुमसुम खड़ी शरम सी।[1]

प्रथम दो पंक्तियों के नन्हें-नन्हें उपमानों द्वारा बालिका वधू का रूप-सौन्दर्य निखर उठा है, तीसरी पंक्ति का उपमान उसकी कोमल देह-यष्टि, मादक लावण्य और कोमल सौन्दर्य का संश्लिष्ट प्रभाव देने मे समर्थ है, अन्तिम पंक्ति के दोनों ही अमूर्त उपमानों द्वारा वधू की शालीनता, सुशीलता और मधुर लज्जा-शीलता को साकार किया गया है।

रसवन्ती की 'प्रीति' कविता में उपमानो के गुणों की स्वीकृति और निषेध द्वारा एक नया ही विन्यास बन पड़ा है। निषेधात्मक उपमान है—अरुण सांझ के घन, पूर्णचन्द्र और धधकती हुई लपटे। इनके विरुद्ध संयोजित स्वीकृतिमूलक उपमान है नील गम्भीर गगन, दूज के चांद की कला तथा ओदी आंच। प्रथम संयोजना में आवेशमूलक आवेग-प्रेरित प्रेम के अस्थायी उबाल की अस्वीकृति तथा गम्भीर, मौन और स्थायी प्रेम की स्वीकृति है। द्वितीय संयोजना द्वारा उसी सतही प्रेम की क्षणिकता और अस्थायित्व तथा गम्भीर प्रेम की परिपक्वता, शीतलता और परिष्कार की प्रतिष्ठा की गई है। तृतीय संयोजना में आवेश और आवेग के निषेध द्वारा धीरे-धीरे सुलगते हुए मधुर मंगल अन्तर्दाह की स्वीकृति है।

छायावादी अलंकार-योजना के अवशेष का प्रतिनिधित्व करने वाली प्रमुख कविता है 'संध्या' जिसमे मानवीकरण के सुन्दर, स्निग्ध और कोमल उदाहरण भी मिलते हैं परन्तु कही-कहीं उनका रूप हास्यास्पद, बीभत्स और कठोर भी हो गया है। प्रथम श्रेणी के मानवीकरण के उदाहरण रूप में संध्या पर आरोपित 'अभिसारिका' का यह चित्र लिया जा सकता है—

---

१. रसवन्ती, पृ० १८

षोड़शी तिमिराम्बरा सुकुमार
भूलुंठित पुष्पित लता सी म्लान, छिन्नाधार ।

* * *

साधना सी मग्न, स्वप्न-विलीन
निःस्व की आराधना सी शून्य, वेग विहीन ।[1]

श्यामाभिसारिका का रूप धारण किए संध्या-सुन्दरी की उदासी, और अनवरत प्रतीक्षा का नैराश्य उपर्युक्त पंक्तियों में संयोजित उपमानों में साकार है। प्रथम उदाहरण में उपमान है छिन्नाधार भूलुंठित पुष्पित लता, जो संध्या-कालीन एकाकीपन और उदासी के वातावरण को व्यक्त करने में समर्थ है। दूसरे उदाहरण के उपमान सान्ध्यकालीन शून्यता, गम्भीरता और निस्तब्धता से एकाकार होकर उसे मुखर बनाते हैं।

मानवीकरण के निम्नोक्त उदाहरण में यद्यपि चित्र बड़ा सजीव है, परन्तु संध्या के नीरव, निस्तब्ध और उदास वातावरण में कापालिक, रक्त, मदिरा इत्यादि की कल्पना चित्र को बीभत्स बना देती है। यहां पर दिनकर की दृष्टि स्वरूप-बोध पर ही अटक कर रह गई है। चाक्षुष चित्र का निर्माण ही उनका ध्येय रह गया है—

जीर्ण वय अम्बर-कापालिक शीर्ण, वेपथुमान
पी रहा आहत दिवस का रक्त मद्य-समान ।
शिथिल, मद-विह्वल, प्रकम्पित-वपु, हृदय हतज्ञान,
गिर गया मधु पात्र कर से, गिर गया दिनमान ।[2]

डूबते हुए सूर्य का चाक्षुष चित्र यद्यपि मूर्तभास्वरता, तेज रंगों और गहरी रेखाओं के द्वारा खींचा गया है, परन्तु चित्र में अप्रस्तुत प्रधान हो गया है और प्रस्तुत गौण। हमारे चक्षुओं में रक्त पीते हुए कापालिक का चित्र पहले, और प्रधान रूप से आता है तथा सांध्यकालीन गगन और डूबते हुए सूर्य का बिम्ब पृष्ठभूमि मे पड़ जाता है। 'केशवदास' और दिनकर के 'कापालिक' में कोई खास अन्तर नही रह गया है। परन्तु दिनकर द्वारा प्रस्तुत इस प्रकार की औचित्यहीन योजनाओं को उंगलियों पर गिना जा सकता है।

'सामधेनी' और 'नील कुसुम' की सादृश्यमूलक अप्रस्तुत-योजनाओं में कहीं-कहीं नए प्रयोग किए गए है। जैसे—

---

१. रसवन्ती, पृ० ८७
२. रसवन्ती, पृ० ८६

वृद्ध सूर्य की आंखों पर
मांडी सी चढ़ी हुई है
दम तोड़ती हुई बुढ़िया सी
दुनिया पड़ी हुई है।[1]

प्रथम पंक्तियों में उपमेय लुप्त है, परन्तु कवि का अर्थ स्पष्ट है। माड़ी के उल्लेख में अन्तिम प्रलय के निकट सूर्य की निष्प्रभ होती हुई ज्योति का संकेत है। प्रलय के नाश से ग्रस्त विश्व की उपमा के लिए 'दम तोड़ती हुई बुढ़िया' का उपमान रूप में प्रयोग, दिनकर की कला के सौन्दर्य से सत्य और कल्पना से यथार्थ की ओर मुडने का परिचायक है। अग्रिम दो पंक्तियों में भी इसी प्रकार के प्रयोग है—

अब तो नहीं कहीं जीवन की आहट भी आती है
हवा दमे की मारी कुछ चल कर ही थक जाती है।[2]

प्रलय के उजड़ते हुए श्रान्त क्लान्त वातावरण के लिए संकलित यह उपमान, क्षोभ और अवसान का प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ रहा है।

'नील कुसुम' में कहीं-कहीं नवीन उपमानों की लड़ी पिरोकर नई कल्पनाओं को पुराने धागे में पिरोने का प्रयास किया गया है। निम्नोक्त उद्धरण में उपमान नए युग के है और विधान परम्परागत मालोपमा का—

मजे में रात भर घूमो कभी दायें कभी बायें
उमड़ती बाढ़ में ज्यों नाव की डोंगी निकलती है।
घरों के पास से होकर बचा कर पेड़ पौधों को,
कि जैसे पर्वतों की गोद में नदियाँ बहा करतीं,
कि जैसे टापुओं के बीच में जलयान चलते हैं
कि जैसे नाव वेनिस में गृहों के बीच फिरती है।[3]

कल्पना के उन्मुक्त गगन में विचरण करते हुए, यथार्थ, संघर्ष, कटुता और वैषम्य इत्यादि को कुछ देर के लिए भूल कर उसकी रंगीनियों में ही रम जाने की स्थिति के चित्रण के उद्देश्य से संजोए हुए प्रायः सभी उपमान धरती से संकलित किए गए हैं, और उनके द्वारा एक रंगीन और मस्त वातावरण तथा जीवन-दृष्टि की अभिव्यक्ति हुई है। 'नील कुसुम' के उपमान कहीं-कहीं ऋजुता और सहजता के नाम पर अनगढ़ और अति व्यावहारिक हो गए हैं—

---

१. सामधेनी, पृष्ठ १८

२. वही, पृष्ठ २०

३. नील कुसुम, पृ० १४

वसुधा जो हर बार काल का शरबत बन जाती है,
महा प्रलय के प्लावन में शक्कर समान घुल मिल कर।[1]

वसुधा के शरबत बनने की यह कल्पना प्रभाव-साम्य पर आधृत है, जिसमें महाप्रलय की भयावहता और पृथ्वी की नगण्य महत्ता को रूपाकार देने का प्रयास किया गया है। प्रलय की सम्पूर्ण प्रक्रिया को एक छोटे से रूपक में बांध दिया गया है।

'नील कुसुम' में संकलित उपमानों में रूप और विन्यास दोनों ही प्रकार की विविधता मिलती हैं। निम्नलिखित उद्धरणों में नवीन उपमानों का संयोजन संदेह अलंकार के परम्परागत ढांचे में हुआ है—

सब रहते हैं टंगे लिपट कर मकड़ी के जालों से,
या कि लटक रोगिणी वायु की उलझी हुई लटों से।[2]

वर्तमान जीवन का क्षोभ, मालिन्य, उलझनें और विकृतियां तथा घुटन सभी इन अतियथार्थमूलक उपमानों द्वारा व्यंजित है। इसी प्रकार 'गीत नहीं कांटे ले आओ' कविता में वर्तमान जीवन-व्यवस्था की अनुदिन बढ़ती हुई, वस्तुवादिता, निष्क्रियता, जडता, चेतनाहीनता इत्यादि पर व्यंग्य करते हुए दिनकर ने साधारण जीवन से गृहीत उपमानों का व्यंजनापरक विन्यास बड़ी कुशलता से किया है—

मानो, गीत नहीं ये कौए
बैठ कान को सुहलाते हैं,
जादू इनका यही भैंस को,
ये समाधि में ले जाते हैं।[3]

कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस पंक्तियों की सशक्त व्यंजना और वक्रता का सारा श्रेय 'कौए' और 'भैंस' को है।

अपनी कविता के यथार्थवादी प्रतिपाद्य को सस्वर और मुखर बनाने के लिए दिनकर ने राजनीति और इतिहास से भी उपमान संकलित किये हैं—

वह मनुष्य मर गया,
शेष जो है, लक्ष्मी का नया जार है।[4]

आज के पूंजीपति वर्ग की वस्तुवादी, और धनलोलुप प्रवृत्ति की साम्य-

---

१. नील कुसुम, पृष्ठ ५४
२. वही, पृष्ठ ५५
३. वही, पृष्ठ ६४
४. वही, पृष्ठ ६५

योजना के लिए इससे अधिक उपयुक्त उपमान क्या हो सकता था। मध्यकालीन इतिहास के खोखलेपन का दृष्टान्त प्रस्तुत करके आज की खोखली भौतिकवादी जीवन दृष्टि की पोल खोलने के लिए उन्होंने मौलिक उपमानों को पुराने दृष्टान्त अलंकार के माध्यम से व्यक्त किया है—

कहो कि जैसे उड़ीं कलंगियां,
जैसे उड़े जरी के जामे,
बेपनाह जिस तरह रहे उड़
राजाओं के मुकुट हवा में
उसी तरह ये नोट तुम्हारे
पापी उड़ जाने वाले हैं।[1]

किसी भी युग का भ्रष्टाचार और मिथ्याचार जनता की आखो मे बहुत दिनो तक धूल नही झोंक सकता, कलंगी, जामा और मुकुट मध्यकालीन मिथ्याचारो के प्रतीक है और 'नोट' आज के भ्रष्टाचार के।

अप्रस्तुत-योजना के विकास की दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण स्थान उर्वशी की अप्रस्तुत-योजना का है। सादृश्यमूलक योजनाओं का प्रयोग अधिकतर वातावरण-निर्माण और रूप-चित्रण के लिए किया गया है। सादृश्य पर आधृत उपमा और रूपक ही यहा भी प्रचुरता से प्रयुक्त हुए है। उर्वशी के प्रारंभ का आभापूर्ण रूमानी वातावरण अप्रस्तुतो द्वारा संयोजित आलंकारिक चित्रों द्वारा निर्मित किया गया है—

खुली नीलिमा पर विकीर्ण तारे यों दीप रहे हैं,
चमक रहे हों नील चीर पर बूटे ज्यों चांदी के,
या प्रशान्त निस्सीम जलधि में जैसे चरण-चरण पर
नील वारि को फोड़ ज्योति के द्वीप निकल आए हों।[2]

विस्तृत आधार-फलक पर चित्रित इन प्रतीकात्मक चित्रो की अलंकरण सामग्री छायावादी संस्कारों से मिली है, परन्तु यहां ज्योत्स्ना की रेशमी स्निग्धता ने नीले वस्त्र का और तारों की बारीक झिलमिली ने चादी के बूटों का रूप ले लिया है। प्रथम दो पंक्तियों की साम्य-योजना की आलोचना करते हुए एक आलोचक ने कहा है, द्वादशी की चांदनी मे तारों के बूटों की कल्पना गलत है। परन्तु ध्यान मे रखने की बात यह है कि यहां प्रस्तुत 'ज्योत्स्ना' नही 'नील गगन' है। चांदनी रात की स्निग्धता की उपस्थिति से गगन की

१. नील कुसुम, पृष्ठ ६७
२. उर्वशी, पृ० ८

नीलिमा का पूर्ण निराकरण नही हो जाता, ज्योत्स्ना से दीप्त नीलिमा में तारों के टंके होने की कल्पना इस प्रकार अस्वाभाविक नही है। छायावादी कवियों ने तो आभापूर्ण कल्पना के मोहवश, चांदनी रात में झिलमिलाते हुए तारों और चांद के प्रतिबिम्ब की कल्पना भी साथ-साथ की है। तीसरी और चौथी पक्तियों की अप्रस्तुत-योजना भी वर्ण-साम्य पर आधृत है। इसी प्रकार के अनेक आलंकारिक दृश्य-विधान उर्वशी में मिलते है।

उर्वशी की मणिकुट्टिम कला की बहुत प्रशंसा हुई है। लेकिन अनेक स्थलों पर उर्वशी की अप्रस्तुत-योजना 'घनानन्द' की भावस्निग्ध-तरलता से दूर होकर बिहारी की विदग्धता और चमत्कार के निकट आ गई है। उर्वशी के पहले की कृतियो मे भाव और अलंकारों का विधान संश्लिष्ट है, 'उर्वशी' के रूप-चित्रण में अनेक स्थलों पर दिनकर की सौन्दर्य से अभिभूत दृष्टि मे चमत्कार का प्राधान्य हो गया है, उनकी दृष्टि प्रस्तुत पर कम और अप्रस्तुत पर अधिक टिक गई है। अप्सराओं का यह रूप-चित्रण मेरे कथन के प्रमाण रूप मे लिया जा सकता है—

अंबर से ये कौन कनक-प्रतिमाएं उतर रही है?
उड़ी आ रही टूट कुसुम वल्लियां कल्प-कानन से?
या देवों की वीणा की रागिनियां भटक गई है?
उतर रही है ये नूतन पंक्तियां किसी कविता की
या वसन्त के सपनों की तस्वीरे घूम रही है
तारों भरे गगन में फूलों भरी धरा के भ्रम से?[1]

सदेह और प्रश्न अलकारो के उस समन्वित नियोजन मे उपमानो का रूप अधिकतर परम्परागत है। कनक प्रतिमाओं का प्रयोग गौरांगनाओं के लिए हुआ है। कुसुम वल्लियां उनके सौन्दर्य की कोमलता तथा देव वीणा की रागिनियां उनके माधुर्य की व्यंजना करती है। वसन्त के सपनों की तस्वीरों मे उन के यौवन का पूर्ण-विकास साकार है। परन्तु इन सभी संयोजनाओं में चित्र अप्रस्तुत का ही बनता है, अप्सराओ का नही। पहले सा बुद्धि और भाव का पूर्ण तादात्म्य यहां नहीं मिलता। कला की कारीगरी पर हम चमत्कृत हो उठते हैं। उपमाओं की लड़ी यहीं नहीं समाप्त होती आगे बहुत दूर तक चलती रहती है। चांदनी, कुसुमरेणु और किरणों का रंग तथा आलोक लेकर इन अप्सराओं का रूप संवारा गया है।

उर्वशी के रूप-चित्रण मे प्रयुक्त सामग्री के एक-एक उपकरण की कान्ति

---

१. उर्वशी, पृष्ठ ६

और दीप्ति उर्वशी के नैसर्गिक और दैवी रूप-सौन्दर्य को साकार कर सकी है—ऐसा जान पड़ता है कि नैसर्गिक सौन्दर्य का चामत्कारिक प्रभाव दिनकर जान-बूझ कर लाये है और इसी अभीष्ट की सिद्धि के लिए उनकी दृष्टि वस्तु की अपेक्षा कला के उपकरणों पर अधिक टिकी है परन्तु 'उर्वशी' के आलंकारिक चित्र में संश्लिष्टता का अभाव नही है। प्रत्येक उपमान उसकी दीप्ति, कान्ति और नैसर्गिक सौन्दर्य के अंकन में अपना योग देता है—

प्रकटी जब उर्वशी चांदनी में द्रुम की छाया से,
लगा सर्प के मुख से जैसे मणि बाहर निकली हो।
या कि स्वयं चांदनी स्वर्ण-प्रतिमा में आन ढली हो
उतरी हो धर देह स्वप्न की विभा प्रमद उपवन की,
हिमकण सिक्त कुसुम सम उज्जवल अंग-अंग झलमल था
मानों अभी-अभी जल से निकला उत्फुल्ल कमल था।[1]

सभी उपमानों की चमक मे उर्वशी का अलौकिक रूप आविर्भूत होकर हमारी दृष्टि को चकाचौंध कर देता है।

रूप-चित्रण से इतर साम्य-योजनाओं मे अलकार्य और अलकार मे आश्चर्य-जनक तादात्म्य मिलता है ; उदाहरण के लिए—

गलती है हिम शिला सत्य है गठन देह की खोकर ;
पर, हो जाती वह असीम कितनी पयस्विनी होकर।[2]

मातृत्व गरिमा की इससे सफल अभिव्यक्ति और क्या हो सकती है ? बिहारी के दोहों के अर्थ-गर्भत्व की तरह युवती से माता बनने तक नारी की समस्त भावनात्मक तथा दैहिक परिवर्तनो की प्रक्रिया इन दो पक्तियों मे समा गई है। इसी प्रकार निम्नलिखित पक्तियों में रति-विवश पुरुष के हृदय की सारी उद्विग्नता, विवशता और आकांक्षायें निहित है—

मैं तुम्हारे बाण का बींधा हुआ खग,
वक्ष पर धर सीस मरना चाहता हूं।
मैं तुम्हारे हाथ का लीला-कमल हूं
प्राण के सर में उतरना चाहता हूं।[3]

रूपक-योजना के समान ही उर्वशी में प्रयुक्त कोमल सुकुमार उपमायें भी लाक्षणिक अर्थवत्ता से पूर्ण हैं, जैसे—

---

१. उर्वशी, पृष्ठ ३०
२. वही, पृष्ठ १६
३. वही, पृष्ठ ५४

(१) 'और अभी यह भाव, गोद में पड़ी हुई जैसे युवती नारी नहीं,
प्रार्थना की कोई कविता हूं।'
(२) 'कामनायें वर्तिका सी जल रही हैं।'
(३) 'बुलबुलों सी फूटने लगती मधुर स्मृतियां हृदय में'
(४) 'जाग उठी हूं मैं निद्रा से जगी हुई लतिका सी'।

उर्वशी के सादृश्य-विधान में प्रयुक्त अलंकरण सामग्री अधिकतर परम्परागत है। आंगिक-वर्णों के चित्रण में चन्द्र, चांदनी, स्वर्ण और चम्पक का रंग भरा गया है, स्वर्ण-यष्टि और तन्वंगी स्वर्ण प्रतिमा शेख रंगरेजिन की 'कनक छड़ी' की याद दिला देती है। इसी प्रकार कुन्द और जूही की कलियों के आकार और वर्ण की कल्पना से उर्वशी के दातों का सौन्दर्य निखारा गया है। 'नील कुसुम' के अति यथार्थवादी सामान्य जीवन से गृहीत उपमानों से लौट कर परम्परागत उपमानों के पुनर्ग्रहण का एक ही कारण दिखाई पड़ता है। पहले कहा जा चुका है कि भावानुरूपता और विषयानुकूलता दिनकर की अभिव्यंजना शैली का प्रथम मानदण्ड रहा है। जिस प्रकार भव्य अतीत और गम्भीर दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने उर्वशी में तत्सम शब्दों का प्रयाग बहुलता से किया, उसी प्रकार पौराणिक सौन्दर्य-भावना को रूपाकार देने के लिए वे परम्परागत उपमानो पर लौट आये।

सादृश्यमूलक अप्रस्तुत-विधान के अतिरिक्त अलकारों के और भी रूप दिनकर के काव्य में मिलते हैं जहां विरोध, अतिशयोक्ति और चमत्कार-नियोजन का प्रयास भी दिखाई पड़ता है। व्यंग्य और आक्रोश की अभिव्यक्ति में अनेक स्थलों पर व्याजनिन्दा अलंकार का प्रयोग हुआ है, जैसे—

महंगी आजादी की यह पहली सालगिरह,
रहने दो बापू की अर्थी अब दूर नहीं।
और धूमधाम से नहीं मनाओगे क्या तुम
कुछ ही वर्षों में दशक चोर बाजारी का?
छल, छद्म, कपट का, राजनीति की तिकड़म का,
क्रम क्रम से उत्सव इनका भी होना चाहिये।[1]

इसी प्रकार—

मंत्री के पावन पद की यह शान
नहीं दीखता दोष कहीं शासन में।

---

१. नीम के पत्ते, पृष्ठ १६

भूतपूर्व मन्त्री की यह पहिचान है,
कहता है सरकार बहुत पापी है ।[1]

व्यतिरेक

किन्तु आपकी कीर्ति चाँदनी फीकी हो जायेगी
निष्कलंक विधु कहां दूसरा फिर वसुधा पायेगी ।[2]

देवराज इन्द्र कर्ण की कीर्ति को निष्कलंक चन्द्र कह कर उसे उपमान से श्रेष्ठतर रूप में स्थापित करते हैं ।

पर्यायोक्ति अलंकार

जहां अभिप्रेतार्थ की अभिव्यक्ति प्रकारान्तर से की जाती है वहां यह अलंकार होता है । रश्मिरथी में इसका प्रयोग बहुलता से हुआ है । एक उदाहरण यथेष्ट होगा—

एक बाज का पंख तोड़ कर, करना अभय अपर को,
सुर को शोभे भले, नीति यह नहीं शोभती नर को ।
यह तो निहत शरभ पर चढ़ आखेटक पद पाना है,
जहर पिला मृगपति को उस पर पौरुष दिखलाना है ।[3]

अपह्नुति अलंकार

१. भरी सभा में लाज द्रौपदी की न गई थी लूटी,
वह तो यही कराल आग थी निर्भय होकर फूटी ।[4]
२. नहीं उर्वशी नारि नहीं, आभा है निखिल भुवन की ;
रूप नहीं निष्कलुष कल्पना है स्रष्टा के मन की ।[5]
३. और अभी यह भाव गोद में पड़ी हुई मैं जैसे
युवती नारी नहीं, प्रार्थना की कोई कविता हूं ।[6]

उल्लेख अलंकार

मरे हुओं की ग्लानि जीवितों को रस की ललकार,
दिल्ली, वीर-विहीन देश की गिरी हुई तलवार ।

---

१. नये सुभाषित, पृष्ठ ४
२. रश्मिरथी, पृष्ठ ५३
३. रश्मिरथी, पृ० ६३
४. कुरुक्षेत्र, पृ० ४८
५. उर्वशी, पृ० २४
६. उर्वशी, पृ० ४८

बरबस लगी देश के होठों,
से यह लगी जहर की प्याली,
यह नागिनी स्वदेश हृदय पर
गरल उड़ेल लोटने वाली ।
प्रश्न चिह्न भारत का, भारत के बल की पहिचान,
दिल्ली राजपुरी भारत की भारत का अपमान ।[१]

व्यंग्यपूर्ण प्रतिपाद्य में उल्लेख अलंकार के प्रयोग से उसकी प्रभावोत्पादकता बहुत बढ़ गई है । एक उदाहरण लीजिये—

आजादी खादी के कुरते की एक बटन,
आजादी टोपी एक नुकीली तनी हुई,
फैशन वालों के लिये नया फैशन निकला
मोटर में बांधो तीन रंग वाला चिथड़ा ।[२]

अतिशयोक्ति अलंकार

मेरे अश्रु ओस बन कर कल्पद्रुम पर छायेंगे,
पारिजात बन के प्रसून आहों से कुम्हलायेंगे ।[३]

तथा—

दृष्टि तुमने फेरी जिस ओर, गई खिल कमल पंक्ति अम्लान,
हिंस्र मानव के कर से स्रस्त शिथिल गिर गये धनुष और बाण ।[४]

दृष्टान्त अलंकार

दीपक के जलते प्राण दिवाली तभी सुहावन होती है,
रोशनी जगत को देने को अपनी अस्थियां जलाता चल ।[५]

प्रथम वाक्य को दूसरे के दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत करके उपमान द्वारा उपमेय की पुष्टि की गई है अतः यहां दृष्टान्त अलंकार है । इसी प्रकार उपमा और दृष्टान्त के इस सम्मिलित प्रयोग में प्रणय की कोमलता और मातृत्व की गरिमा की मार्मिक और सबल व्यंजना हुई है—

बाला रहती बंधी मृदुल धागों से शिरिष-सुमन के,
किन्तु अंक में तनय, पयस् के आते ही अंचल में,
वही शिरिष के तार रेशमी कड़ियां बन जाते हैं ।[६]

---

१. दिल्ली, पृष्ठ १०
२. नीम के पत्ते, पृ० १७
३. उर्वशी, पृ० २५
४. रसवंती, पृ० २७
५. नील कुसुम, पृ० ६०
६. उर्वशी, पृ० १२८

और कौन है जो तोड़े झटके से इस बन्धन को ?
रेशम जितना ही कोमल, उतना ही दृढ़ होता है।

सादृश्यमूलक चित्रयोजनाओं की विवेचना करते हुए पहले दिनकर द्वारा प्रयुक्त मानवीकरण अलंकारों का सकेत दिया जा चुका है। अन्य अलंकारों की भांति उनके मानवीकरण में भी विविधता और अनेकरूपता है। 'रेणुका', 'हुंकार' और 'रश्मिरथी' में वे अधिकतर परम्परा पर आधृत हैं जिसमे मध्यकालीन आलंकारिक सज्जा और चमक-दमक प्रधान है। जैसे—

पहन मुक्ता के युग अवतंस,
रत्न गुम्फित खोले कच-जाल
बजाती मधुर - चरण - मंजीर
आ गई नभ में रजनी बाल।[1]

अथवा—

अम्बर पर मोती गुथे चिकुर फैला कर,
अंजन उड़ेल सारे जग को नहला कर ;
साड़ी में टांके हुए अनन्त सितारे,
थी घूम रही तिमिरांचल निशा पसारे।[2]

इस मूर्तीकरण के अतिरिक्त दिनकर ने प्रकृति का चेतनीकरण भी किया है। प्रकृति पर श्रृङ्गारिक चेतना और कार्यकलापों का एक उदाहरण है—

कम कर दी दूरता कौमुदी ने भू और गगन की
उठी हुई सी मही, व्योम कुछ झुका हुआ लगता है।[3]

रस-स्निग्ध भावनाओं के तीव्र आकर्षण से अभिभूत प्रेमीयुग्म के कायिक अनुभाव इन पंक्तियों में साकार है। झुके हुए व्योम और उठी हुई सी मही में प्रणयाकांक्षा की अभिव्यक्ति की मुद्रा का स्वाभाविक चित्रण हुआ है तथा कौमुदी द्वारा भू और गगन की दूरता कम होने की कल्पना में भावनात्मक प्रतिक्रियाओं के द्वारा स्त्री और पुरुष के बीच की टूटती हुई कड़ियां साकार हैं।

परिणीता स्वकीया की निष्ठा, पारिवारिक भावना तथा तद्जन्य पवित्र उल्लास का आरोपण भी प्रकृति पर किया गया है—

हिम स्नात सिक्त वल्लरी पुजारिन को देखो
पति को फूलों का नया हार पहनाती है,

---

१. हुंकार, पृष्ठ ३
२. रश्मिरथी, पृष्ठ १००
३. उर्वशी, पृष्ठ ६६

कुंजों में जनमा है कल कोई वृक्ष कहीं
वन की प्रसन्न विहगावलि सोहर गाती है ।[1]

प्रथम तथा द्वितीय पंक्तियों में सिक्त कुन्तला, पति के चरणों में पूर्ण रूप से समर्पित स्वकीया का स्निग्ध पवित्र चित्र है तथा दूसरी दो पंक्तियों में पारिवारिक भावना का सामूहिक उल्लास सफलता के साथ चित्रित किया गया है ।

कोमल भावनाओं और स्थितियों के मूर्तीकरण तथा चेतनीकरण के अतिरिक्त कुरुक्षेत्र और रश्मिरथी में आए हुए युद्ध के भयानक और बीभत्स प्रसंगों का मानवीकरण भी दिनकर ने किया है। सामान्यतः शृङ्गार और भयानक विरोधी रस माने जाते हैं और उनके सह-विन्यास के प्रयास को रस-दोष के अन्तर्गत परिगणित किया जाता है, परन्तु दिनकर वीभत्स और भयंकर भावनाओं को वर की प्रतीक्षा में निरत नववधू के रूप मे सजा कर वातावरण की विडम्बनापूर्ण विकृति को मूर्त रूप देने मे समर्थ हुए है—

अयि विजय ! रुधिर से क्लिन्न वसन है तेरा,
यम-दंष्ट्रा से क्या भिन्न दशन है तेरा ?
लपटों की झालर लटक रही अंचल में
है धुंआ ध्वंस का भरा कृष्ण कुन्तल में ।
ओ कुरुक्षेत्र की सर्वग्रासिनी व्याली
मुख पर से तो ले पोंछ लहू की लाली ।[2]

नव वधू के गोटों से झिलमिलाते लाल जोड़े के स्थान पर लपटों की झालर से झलमलाते रक्तरंजित वस्त्रों की कल्पना से ही युद्ध की विभीषिकाओं का चित्र साकार हो उठता है। यम के से दांत, ध्वंस के धुयें से भरे हुए कुतल, ताम्बूल के रग के स्थान पर लहू से रंगे हुए ओठों की कल्पना में विजयश्री का रूप ऐसा भयंकर हो उठा है कि जान पड़ता है मानो शूर्पणखा बिना वेश परिवर्तित किए हुए राम के वरण की प्रतीक्षा में निरत है ।

इन सादृश्यमूलक अलंकारों के अतिरिक्त, सन्देह, विशेषोक्ति, उत्तर, प्रश्न इत्यादि अलंकारों का प्रयोग भी यदा-कदा हुआ है।

वैषम्यमूलक अलंकारों में दिनकर का प्रिय अलंकार है विरोधाभास और विरोध । कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

---

१. उर्वशी, पृ० १०२
२. कुरुक्षेत्र, पृ० ७१

जागो रसिक विराग लोक के, मधुवन के सन्यासी।[1]

नींद है वह जागरण जब फूल खिलते हों।[2]

मूक है प्रच्छन्न है सब से बड़ी आवाज।[3]

समेटे अंक में ज्वालामुखी को, चांदनी चुमकार कर बहला रही है।[4]

दिनकर की अप्रस्तुत योजनाओं की अलंकरण सामग्री विविध क्षेत्रों से जुटाई गई है। अभिव्यंजना के अन्य तत्वों की ही भांति यहां भी उनकी दृष्टि विषय के अनुकूल उपमान संकलन पर ही केन्द्रित रही है। उन्होंने यथावश्यकता प्रकृति और जीवन के विविध क्षेत्रों से उपमान ग्रहण करके उन्हें परम्पराभुक्त प्राचीन तथा परम्परामुक्त नवीन पद्धतियों से प्रयुक्त किया है। कुछ अपवादों को छोड़ कर उनके अलंकार कविता के अंतरंग अंग बन कर प्रयुक्त हुए हैं, भाव और भाषा-सज्जा के तादात्म्य में बाह्य अलंकरण का भेद मिट गया है और वे हर प्रकार के संवेदन को मूर्त और सवाक् बनाने में समर्थ रहे हैं। लाक्षणिक उपमानों के स्पष्ट और स्वच्छ प्रयोग की सामर्थ्य से उनके काव्य में चित्रमयता और स्पष्टता का सामंजस्य हुआ है। यदि उनके अलंकार-विधान को रामचन्द्र शुक्ल की कसौटी पर रखें तो यह कहा जा सकता है कि वे काव्य की रसार्द्रता, प्रभविष्णुता और प्रेषणीयता में बहुत सहायक हुए हैं। अतिरंजना अथवा चमत्कार के लिए उनका प्रयोग नहीं हुआ है। उनके संक्षिप्त और संश्लिष्ट रूपकों की गम्भीर अर्थवत्ता पर बिहारी सम्बन्धी यह उक्ति पूर्णत: चरितार्थ होती है —

'देखत में छोटे लगें घाव करें गम्भीर।'

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि दिनकर की अप्रस्तुत-योजना का वैशिष्ट्य भी अभिव्यक्ति की सफाई और ईमानदारी तथा अनुभूति की तीव्रता पर आश्रित है।

दिनकर की छन्द-योजना

काव्य में ध्वनि का विशेष क्रम निर्धारित करने से उसमें आह्लादक तत्वों और रमणीयता का समावेश होता है। छन्द के माधुर्य और स्वर-संयोजन के लिए कवि अपनी सौन्दर्य बोध वृत्ति का सचेतन उपयोग करता है। छन्द-रचना के लिए विशिष्ट नियमों का पालन करना आवश्यक है। ये नियम प्रत्येक भाषा

---

१. नील कुसुम, पृष्ठ २३
२. वही, पृष्ठ ४०
३. वही, पृष्ठ २१
४. उर्वशी, पृष्ठ ५२

की प्रकृति और उच्चारण-पद्धति के अनुसार अलग-अलग होते हैं। नियम का यह प्रयोग कवि चाहे सचेतन रूप से करता हो अथवा उनका स्फुरण स्वतः ही हो जाता हो, उनका योग छन्द के अस्तित्व के लिए आवश्यक है। इस प्रकार छन्द-रचना के प्रति जागरूकता कवि-व्यापार का एक प्रमुख अंग सिद्ध होता है। इस चेतन प्रक्रिया के कारण ही छन्द को एक बाह्य संस्कार मात्र मान कर उसका विरोध किया जा रहा है; परन्तु छन्द भी अभिव्यंजना के अन्य तत्वों की तरह काव्य में मनोभावों के चित्रण का प्रमुख साधन है। कविता और छन्द के सम्बन्ध के विषय में श्री सुमित्रानन्दन पन्त की यह उक्तियां आदर्श मापदण्ड के रूप में स्वीकार की जा सकती हैं। "जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन से धारा के तट को सुरक्षित रखते हैं—जिनके बिना वह अपनी ही बन्धनहीनता में अपना प्रवाह खो बैठती है, उसी प्रकार छन्द भी अपने नियन्त्रण से राग को स्पन्दन, कम्पन तथा वेग प्रदान कर निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल सजल कलरव भर उन्हें सजीव बना देते हैं। छन्दबद्ध शब्द चुम्बक की तरह अपने चारों ओर एक आकर्षण क्षेत्र तैयार कर लेते हैं; उनमें एक प्रकार का सामंजस्य, एक रूप, एक विन्यास आ जाता है, उनमें राग की विद्युत धारा बहने लगती है, तथा उनके स्पर्श में एक प्रभाव तथा शक्ति पैदा हो जाती है।"[1]

छन्द की महत्ता के सम्बन्ध में दिनकर की अपनी मान्यताएं हैं। उनके अनुसार "छन्दों की महिमा सर्वविदित है। और अभी तो यह सोचा भी नहीं जा सकता कि छन्द किसी भी समय कविता से बिल्कुल बहिष्कृत हो जायेंगे। किन्तु, छन्दों के महत्व का एक कारण यह भी है कि कविता को अधिकांश जनता अब तक मनोरंजन का साधन मानती रही है। एक तरह की कविता रोमांटिक कहलाती है, वह अलग बात है। परन्तु, सभी कविताओं का अब तक एक रोमांटिक मूल्य भी रहा है और इस मूल्य के कारण भी छन्द आदरणीय रहे हैं। वर्डस्वर्थ ने कहा था कि छन्द आनन्द-वृद्धि का साधन है। छन्दों के कारण काव्य चेतना दैनिक जीवन के धरातल से जरा ऊपर उठ जाती है। छन्द विश्व से कवि की रागात्मक दूरी की भी वृद्धि करते हैं। गद्य में जो दिवा-जागरूकता है, छन्द उसे कम करके कविता में अर्ध जागृति का वातावरण उत्पन्न करते हैं। छन्दों का गुण है कि वास्तविकता का वर्णन करने वाली कविता पर भी वे अवास्तविकता का किंचित् रंग छिड़क देते हैं। परन्तु, साथ ही साथ उनका यह विचार भी है कि ज्यों-ज्यों मनुष्य रोमांटिक चेतना के रंगीन मोह

---

१. पल्लव, भूमिका, पृष्ठ ३०–३१—सुमित्रानन्दन पन्त

से निकलता जायेगा, त्यों-त्यों अच्छी बातें भी अनावश्यक होती जायेंगी। एक समय पंत जी ने कहा था कि "तुक राग का हृदय है, जहां उसके प्राणों का स्पन्दन विशेष रूप से सुनाई पड़ता है।" दिनकर का अनुमान है कि राग जैसे-जैसे विचारों से उलझेगा, वैसे-वैसे ही उसके हृदय में से तुक के पांव उखड़ते जायेंगे। तुकें भावों की अभिव्यक्ति में बाधा डालती हैं, इसके दो एक अनुभव प्रत्येक कवि को होंगे। फिर भी, दो एक बातें ऐसी हैं जो छन्दों और तुकों के पक्ष में पड़ती हैं। छन्द पाठकों के आकर्षण को शिथिल होने से बचाते हैं और छन्द का पूरा प्रभाव कविता के भीतर सुव्यवस्थित वातावरण का प्रभाव उत्पन्न करता है।

यह तो हुई भाव-प्रधान कविता में छन्द की सार्थकता और उपयोग की बात। काव्य के नये प्रतिपाद्यों और दृष्टिकोणों के लिए वे नये छन्दों की अनिवार्यता भी स्वीकार करते हैं। "कविता के नए माध्यम, यानी नए ढांचे और नये छन्द कविता की नवीनता के प्रमाण होते हैं। उनसे युग-मानस की जड़ता टूटती है, नई कविता की बदलती हुई तकनीक के भविष्य के प्रति दिनकर आशावान है। उनका विश्वास है कि "जिस युग में हम जी रहे हैं उसका संगीत टूट गया है। इसका कारण यह है कि जैसे छन्दों में काव्य-रचना का मैं अभ्यासी था वे छन्द अब मुझे अधूरे लगने लगे हैं। यदि मेरा आत्मविश्वास गलत या अतिरंजित नहीं है कि मेरे हृदय का चेतन-यन्त्र अभी काल के हृदय की धड़कनों को पकड़ सकने में समर्थ है, तो मेरा अनुमान है कि जो छन्द संगीत को अपील करते है उनके द्वारा वर्तमान युग का टूटा हुआ संगीत पकड़ा नहीं जा सकता।"[1]

दिनकर की छंद-योजना के दो रूप हैं (१) परम्परागत छन्द-योजना, (२) नवीन छन्द-योजना। परम्परागत छन्दों में उन्होंने मात्रिक छन्दों का प्रयोग अधिक किया है। वर्णिक वृत्तों का प्रयोग कुरुक्षेत्र और रश्मिरथी के कुछ अंशों में किया गया है, जिनमें मुख्य हैं कवित्त, घनाक्षरी और सवैयों के विविध रूप। इन वर्णिक छन्दों का प्रयोग अधिकतर ओज के उपयुक्त लय-निर्माण के लिए किया गया है। उनके द्वारा प्रयुक्त प्रमुख मात्रिक छन्द हैं गीतिका, सार, सरसी, हरिगीतिका, शृङ्गार, ताटंक, रोला, रूपमाला, रजनी, राधिका, वीर छन्द, पद्धरि, अरिल्ल। कहीं-कहीं पर दो अथवा उनसे अधिक छन्दों का मिश्रित प्रयोग भी हुआ है। छंदों के मिश्रित प्रयोग की दृष्टि से रसवन्ती के छन्दों का महत्वपूर्ण स्थान है। 'प्रीति' नामक कविता का छन्द उनका अपना बनाया हुआ है, जिसका विन्यास इस प्रकार है—

---

१. चक्रवाल, भूमिका, पृष्ठ ७०

प्रीति न अरुण सांझ के घन सखि !
पल भर चमक बिखर जाते जो
मना कनक गोधूलि लगन सखि !
प्रीति नील, गम्भीर गगन सखि !
चूम रहा जो विनत धरणि को
निज सुख में नित मूक मगन सखि ![1]

इन सभी प्रयोगों में दिनकर की दृष्टि छन्दों की विषयानुरूपता पर केन्द्रित है। राग के रूप के अनुसार ही छन्दों की लय और गति परिवर्तित करने की सामर्थ्य उनमें है। परम्परागत छन्दों के प्रयोग ओज और शृंगार की रचनाओं में मिलते हैं। जहां उनका राग विचार से उलझता है वहां वे तुक पर से अपना ध्यान हटा लेते हैं। विचार की अभिव्यक्ति के लिए वे छन्द आदर्श होते हैं जिनका विन्यास गद्य की ओर झुकता हुआ होता है। कुरुक्षेत्र के विचार-प्रधान स्थलों को इस कथन के प्रमाण रूप में लिया जा सकता है, निम्नलिखित पंक्तियों में विधान गीतिका छन्द का है लेकिन तुक का प्रतिबन्ध हटा देने के कारण, कथन की पूर्णता खण्डित नहीं होने पाती—पूरी बात समाप्त करने के बाद ही छन्द में विराम आता है :—

'औ युधिष्ठिर से कहा—तूफान देखा है कभी ?
किस तरह आता प्रलय का नाद वह करता हुआ,
काल सा वन में द्रुमों को तोड़ता झकझोरता,
और मूलोच्छेद कर भू पर सुलाता क्रोध से
उन सहस्रों पादपों को जो कि क्षीणाधार हैं,
रुग्ण शाखायें द्रुमों की हरहरा कर टूटतीं,
टूट गिरते शावकों के साथ नीड़ विहंग के,
अंग भर जाते वनानी के निहत तरु गुल्म से
छिन्न फूलों के दलों से पक्षियों की देह से ।[2]

कुरुक्षेत्र का आरम्भ भी अतुकान्त मुक्त छन्द से होता है जिसमें पंक्तियों का नियोजन कथन-भंगिमा की प्रभावात्मकता को दृष्टि में रख कर ही किया गया है। 'नील कुसुम' की विचार-प्रधान रचनाओं में उन्होंने परम्परागत 'जड़ाऊ

---

१. रसवन्ती, पृष्ठ २०
२. कुरुक्षेत्र, पृष्ठ १३

पोशाकों' को छोड़ कर आधुनिकता के उपयुक्त नये डिजाइन की 'बुशशर्ट' काटने का प्रयत्न किया है, 'सीपी और शंख' में विविध अन्तर्राष्ट्रीय कवियों की रचनाओं का रूपान्तर करने के लिए, यही विधान सुविधाजनक होने के साथ ही साथ उपयुक्त भी था, इसलिये दिनकर के लिए इन नये छन्द-रूपों को अपनाना प्राय: अनिवार्य सा हो गया था। 'सीपी और शंख' की अनूदित रचनाओं के पहले ही 'नील कुसुम' की उन रचनाओं में जहां उनकी भावुकता बौद्धिकता के अनुशासन में चली है, उनकी छंद-योजना की भंगिमा बदल गई है। हुंकार और सामधेनी के गर्जमान तथा रसवन्ती की मधुर लययुक्त छन्द-योजना आज के बौद्धिक प्रतिपाद्य के अनुकूल नहीं रह गई है, यही सोच कर दिनकर ने 'शबनम की जंजीर', 'नील कुसुम' तथा 'चांद और कवि' के छन्दों का प्रयोग किया। जिनमे चिन्तन की प्रक्रिया बाधित नही होती।

नये छन्दों के प्रति दिनकर आशावान हैं। उनका कहना है कि छन्दों के चरमराने या उनके टूटने से साहित्य में जो कर्कशता का नाद छा रहा है, वह अपने में चिंता का कोई बड़ा कारण नहीं हो सकता। 'चांद और कवि' में दिनकर ने जिस छन्द का प्रयोग किया वह नवयुवकों में काफी प्रचलित हुआ। इसी कारण उनकी यह मान्यता बन गई कि 'अब वे ही छन्द कवियों के भीतर से नवीन अनुभूतियों को बाहर ला सकेंगे जिनमें संगीत कम, सुस्थिरता अधिक होगी, जो उड़ान की अपेक्षा चिन्तन के अधिक उपयुक्त होंगे।......'हमारी मनोदशायें परिवर्तित हो रही हैं और इन मनोदशाओं की अभिव्यक्ति वे छन्द नही कर सकेंगे जो पहले से चले आ रहे है।[1]

'नये सुभाषित' और 'परशुराम की प्रतीक्षा' में संकलित विचार-प्रधान कवितायें अधिकतर तुक और छन्द से मुक्त हैं। लेकिन जब उनका प्रतिपाद्य बौद्धिक न रह भावनाप्रधान अथवा आक्रोशपूर्ण हो गया है, तब उन्होंने पुराने छन्दों का ही प्रयोग किया है। 'उर्वशी' की छन्द-योजना के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। उसके विचार-प्रधान प्रतिपाद्य के लिए दिनकर ने अपेक्षाकृत बड़े छन्दों का प्रयोग किया है। भाव-संयुक्त स्थलों पर परम्परागत छन्द-योजना में अनेक बार तुकों का निर्वाह नहीं किया गया है। छन्दों की लय में विषय के गाम्भीर्य को वहन करने की शक्ति है। तीसरे अंक में अतुकान्त मुक्त छन्दों का प्रयोग हुआ है। कामायनी की मधुर मन्थर छन्द-योजना से उर्वशी की छन्द-योजना की तुलना करते हुए कहा जाता है कि वह शृङ्गार रस की कोमलता का प्रवहरण करने के उपयुक्त नहीं है। मेरे विचार से उर्वशी

---

१. चक्रवाल, पृष्ठ ६९

की छन्द-योजना की तुलना कामायनी के 'इड़ा' सर्ग की छन्द-योजना से ही की जा सकती है जहां भावनाओं का द्वन्द्व और संघर्ष व्यक्त हुआ है तथा बौद्धिक विचारों की अभिव्यक्ति को कुछ खुला क्षेत्र मिला है। 'लज्जा' और 'श्रद्धा' सर्ग के छोटे-छोटे छन्द भावनात्मक कोमलता और माधुर्य को व्यक्त करने में बड़े सफल हुए हैं इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु 'उर्वशी' का कामदर्शन उन छन्दों में अखण्डित व्यक्त हो पाता इसमें अवश्य संदेह है। छोटे-छोटे बौद्धिक अनुभव खण्डों को रूप देने के लिए भी तुकों और छन्दों की मात्राओं को बाधक समझा जाता है फिर उर्वशी की अविच्छिन्न और दीर्घ चिन्तन-प्रक्रिया में राग का स्पन्दन बुद्धि-सम्पुष्ट है। अतएव यह कल्पना करना गलत होगा कि श्रद्धा और लज्जा सर्ग में प्रयुक्त 'कामायनी' के छन्द 'उर्वशी' के लिए अधिक उपयुक्त होते।

दिनकर की परम्परागत तथा नवीन दोनों ही प्रकार की छन्द-योजनाओं का सबसे विशिष्ट गुण है उनकी लयात्मकता तथा भावानुरूपता। उनकी परम्परागत छन्द-योजना आन्तरिक रागों और अनुभूतियों को स्पन्दन और प्राण देती है, तथा नई छन्द-योजना में बौद्धिक चिन्तन को सुस्थिरता और दृढ़ता से व्यक्त करने की सामर्थ्य है।

दिनकर द्वारा प्रयुक्त काव्य के विभिन्न रूप

अभिव्यंजना के अन्य तत्वों की भांति ही दिनकर द्वारा प्रयुक्त काव्य-रूपों की भी सर्वप्रधान विशेषता है भावानुरूपता अथवा विषयानुरूपता। 'रेणुका' से लेकर 'परशुराम की प्रतीक्षा' तक उनकी काव्य-चेतना में अनेक उतार-चढ़ाव आये हैं, और उनके अनुरूप बाह्याकार निर्माण के लिए दिनकर ने जागरूक होकर परम्पराओं को अपने विषय के अनुरूप ढाला है और नये प्रयोग किये हैं। इस विषय मे उनका ध्यान सदैव इस तथ्य पर रहा है कि वह विषय के अनुरूप अभिव्यंजना तत्वों को एक सम्यक् और संश्लिष्ट ढांचों में ढाल सके, जिसमें उनकी रचनाओं के प्रभाव को अन्वित और अभीष्ट रूप में ग्रहण किया जा सके।

उनकी कृतियों को रूपाकार देने में दिनकर के व्यक्तित्व और परिवेश का भी महत्वपूर्ण योग रहा है। यह विशेषता केवल उनकी नहीं है। हर कवि अपनी रुचि और सुविधा के अनुसार अपनी कृति का रूप निर्माण करता है। बच्चन और दिनकर समयुगीन हैं, परन्तु एक की प्रतिभा गीतों के लय और संगीत में बंध कर विकसित हुई और दूसरे के ओजपूर्ण-आत्मद्रव गीतों में बंध कर भी पाठ्य रूप में ही अधिक प्रभावशाली हो सके हैं। जिस प्रकार बच्चन की

'मधुशाला' का रस स्वर में बंधे बिना आधा रह जाता है, उसी प्रकार दिनकर की ओजपूर्ण कविताओं को स्वरबद्ध करके गाने की कल्पना भी हास्यास्पद जान पड़ती है। इसीलिये मैंने कहा कि काव्य विधा के रूप-निर्धारण में विषयानुरूपता के साथ ही साथ कवि के व्यक्तित्व की अनुरूपता का भी महत्वपूर्ण स्थान रहा है। और इस व्यक्तित्व के निर्माण के लिए उत्तरदायी था उनका युग और परिवेश, उनकी समष्टि चेतना, जिसे राग-रागिनियों के माधुर्य की नहीं सिंह-नाद और भैरव नाद की आवश्यकता थी।

दिनकर का युग अशांति, अव्यवस्था, अस्थिरता और क्रान्तियों का युग था जिसके प्रभाव से उस युग के कवियों के व्यक्तित्व में भी जाने-अनजाने इन्हीं विशेषताओं और गुणों का समावेश हो रहा था, यही कारण है कि इस युग की अधिकतर कृतियों का रूप निर्माण परम्पराओं का संशोधन-परिवर्धन करके, तथा रूढ़ि-विरोधी प्रयोगों के द्वारा किया गया है। दिनकर में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से दिखाई देती है। उनका ओज और शौर्य गीतों के परिधान में रूप-ग्रहण करने पर ही गेयता की अपेक्षा पाठ्यरूप में अधिक प्रभावोत्पादक होता है, तथा प्रबन्ध में आख्यान, पात्र, इतिहास और कल्पना कवि के विचारों और भावों के इंगित पर चलते हैं। दिनकर द्वारा प्रयुक्त मुक्तकों की भी अपनी ही विशेषता है। उनकी काव्य-विधाओं की सामान्य रूप-रेखा इस प्रकार बनाई जा सकती है—
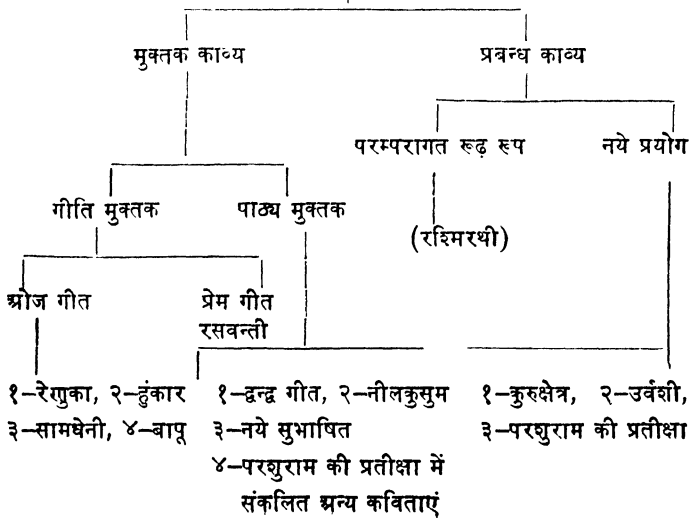
ओजगीत

इस वर्ग की रचनाओं में सब से प्रथम द्रष्टव्य तथ्य यह है कि उनमें व्यक्त मूल प्रेरणा समष्टि-परक है। दिनकर से पहले की राष्ट्रीय कविताओं में उपदेशात्मकता, उद्‌बोधन, त्याग और बलिदान का स्वर प्रधान था अथवा उस युग की राष्ट्रीय चेतना संस्कृति और इतिहास तथा पौराणिक आख्यानों के माध्यम से व्यक्त होती थी। प्रथम श्रेणी की रचनाओं में गीति-काव्य के उपयुक्त उद्रेक, और द्रव नहीं था तथा दूसरे वर्ग की रचनाएं प्रबन्ध के कलेवर में लिखी जाती थीं। दिनकर की राष्ट्रीय कविता में ओज, आक्रोश और क्रान्ति का स्वर प्रधान था इसलिए उसमें वह उद्रेक और अतिरेक मिलता है, जो गीति-काव्य के उपयुक्त होता है। शृङ्गारपरक गीति-काव्य में कोमल, मधुर संचारी भावों की आवेशमयी स्थितियों के मदोन्माद को कवि अपनी लेखनी में बांध लेता है, परन्तु समष्टि-चेतना से प्रेरित होने पर उसका दृष्टिकोण अधिकतर बाह्यार्थ निरूपक वस्तुपरक और कालाश्रयी हो जाता है। दिनकर की रागमूलक समष्टि-चेतना के गीतों की विशेषता यही है कि उनमें कवि का प्रेरणा केन्द्र बाह्य जगत है, अर्न्तवृत्तियों का निरूपण उसका ध्येय नही है फिर भी उनमें ओज से उद्दीप्त भावनाओं के तीव्र क्षणों की अभिव्यक्ति आत्मनिष्ठ रूप में हुई है। गीति-काव्य का प्राण-तत्व है आत्माभिव्यक्ति ; उसकी तीव्रता और प्रबलता पर ही गीति-काव्य की श्रेष्ठता निर्भर रहती है ; यह तीव्रता और प्रबलता दिनकर के ओज-गीतों में भी उसी मात्रा में विद्यमान है जितनी शृङ्गार-गीतों में। बल्कि यह कहना अनुचित न होगा कि रसवन्ती की स्निग्ध रसार्द्रता में माधुर्य और कोमलता तो है परन्तु उनके ओजगीतों की तीव्रता का अर्धांश भी उसमें नही है।

पहले कहा जा चुका है कि नया युग और परिवेश, काव्य-रूपों के निर्माण के लिए भी नई सम्भावनाएं उपस्थित करता है, दिनकर के इन ओजगीतों के लिए भी यही बात कही जा सकती है। ये गीत मुक्तक और प्रबन्ध काव्य के समान विषय-प्रधान हैं परन्तु इनके प्रति कवि का दृष्टिकोण व्यक्तिपरक है, उनकी भावनाएं व्यक्तिगत सीमाओं को तोड़ कर भी तीव्र सुख-दुःखात्मक हैं, कवि का व्यक्तित्व समष्टि में लीन होकर उसके साथ एकात्म स्थापित करके एकनिष्ठ होकर बोलता है। 'रूप-भेद' के इस नए प्रयोग के बाह्य कारण हैं दिनकर का युग, समष्टि के प्रति उनका भावपरक, आवेश-प्रधान दृष्टिकोण और अनुभूति-विस्तार। इन्हीं तत्वों के कारण इन ओजगीतों में आत्माभि-व्यंजन तत्व का प्राधान्य है, जिनमें कवि का अन्तर्जगत बाह्य परिस्थितियों और

उपकरणों को भेद कर पारदर्शिता के साथ व्यक्त हुआ है। समष्टिपरक प्रतिपाद्य में वैयक्तिकता अधिकतर उपदेश और उद्बोधन का रूप धारण कर लेती है और उससे कविता के भावात्मक पक्ष की हानि होती है परन्तु इन ओज-गीतों में यह दोष नहीं आने पाया है तथा उसकी सार्वभौमता भी अक्षुण्ण रही है जिसके अभाव में गीत काव्य नहीं वार्ता मात्र रह जाता है।

इन सभी ओजगीतों में कल्पना और बुद्धि तत्व भावनाओं के सहायक रूप में ही प्रयुक्त हुए हैं। जहां अनुभूतियां तीव्र और गहन होती हैं, प्रायः वहां अनेकरूपता नहीं होती। इन ओजगीतों के आलम्बन विविध प्रकार के हैं इस लिए इनमें एकरूपता और एकरसता का दोष तो नहीं आने पाया है, परन्तु दिनकर का मन उन्ही स्थलों पर रमा है जहां उन्होंने क्रान्ति और विप्लव के गीत गाए हैं।

काव्यशास्त्रीय कसौटी पर इस प्रकार के गीतों को शुद्ध गीत की संज्ञा नहीं दी जा सकती क्योंकि समष्टिपरक वस्तुगत आलम्बन के कारण कवि की भावनाओं की प्रत्यक्षता अवरुद्ध हो गई है। यहां आत्माभिव्यंजना शुद्ध न होकर मध्यान्तरित है पर तीव्र भावोद्रेक, भावों का ऐक्य और अन्विति उनमें विद्यमान है।

शृंगार गीत

शृङ्गार गीतों की एकमात्र प्रतिनिधि रचना है रसवन्ती। इसके अतिरिक्त रेणुका और नीलकुसुम में भी कुछ शृङ्गारिक रचनाएं संकलित हैं। गेयता, रसार्द्रता, कोमलता और स्निग्धता की दृष्टि से चाहे दिनकर के शृङ्गार गीतों को ओजगीतों की अपेक्षा शुद्ध गीत काव्य के अधिक निकट मान लिया जाए, परन्तु भावोद्रेक की दृष्टि से ओजगीतों का स्थान ही पहले आता है। बच्चन के प्रेम-गीतों का सा निर्बन्ध प्रवाह, अनवरुद्ध वैयक्तिकता, शुद्ध आत्माभिव्यंजकता रसवन्ती के गीतों में नहीं है। रसवन्ती में शृङ्गार की अभिव्यक्ति बड़े संकोच और हिचक के साथ हुई है, उसमें शृङ्गार का वैयक्तिक पक्ष कम सामान्य स्तर अधिक है, इसी कारण रसवन्ती के शृङ्गार में आत्माभिव्यंजन का खुला अवकाश होते हुए भी यह तत्व अपने शुद्ध रूप में नहीं मिलता, परन्तु रसवन्ती के कुछ गीत रसार्द्रता, स्निग्धता और गेयता की दृष्टि से बड़े सुन्दर बन पड़े हैं। 'गीत अगीत कौन सुन्दर है', 'बालिका से वधू', 'संगिनि जी भर गा न सका मैं', 'सोच रहा कुछ गा न रहा मैं', इत्यादि रचनाएं सफल गीतों के उदाहरण रूप में ली जा सकती हैं। ओजगीतों में आलंकारिक कल्पना का स्थान गौण था परन्तु इन गीतों की सुन्दर आलंकारिक योजनाएं भी उनकी अपनी विशिष्टता है। ओज-

गीत जहां गीत के कलेवर में भी उन छन्दों में लिखे गए हैं जो कविता-पाठ के अनुकूल पड़ते हैं वहां रसवन्ती के गीत कोमल मधुर पदावली और लयपूर्ण संगीतात्मकता में बद्ध हैं। इन गीतों में ऐसे छन्दों का प्रयोग किया गया है जो संगीत में सरलता और उपयुक्तता के साथ बांधे जा सकें।

इस प्रकार ये दोनों ही प्रकार के गीत आत्माभिव्यंजना, अनुभूति-वैशिष्ट्य और भावों के ऐक्य की दृष्टि से सफल माने जा सकते है। गीत-रचना के तीन सोपान माने गए हैं। प्रथम वह स्थिति है जहां कवि की प्रेरणा का बीजारोपण और उसके मनोवेगों का प्रकाशन होता है, द्वितीय स्थिति वह होती है जब भावोद्रेक अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाता है और कवि अपने मनोवेगों को विचार के साथ समन्वित करके उनके व्यक्तीकरण का उपयुक्त माध्यम ढूढता है; तृतीय स्थिति में कवि की अन्तिम मनःस्थिति की अभिव्यंजना होती है, भाव और विचार एकात्म होकर गीत का निर्माण करते है। दिनकर के ओज और शृंगार दोनों ही प्रकार के गीतो में इन तीनों स्थितियों की नियोजना क्रम से हुई है। प्रथम का प्रेरक तत्व है शिवत्व-प्रेरित ओज और द्वितीय का सौन्दर्य-प्रेरित शृंगार। इन दोनों ही प्रकार के प्रतिपाद्यों के प्रति कवि के मन की विविध प्रतिक्रियाओं को प्रक्रिया की द्वितीय स्थिति माना जा सकता है। परिणाम रूप मे भावों की अभीष्ट पूर्णता और समाहित प्रभाव-ऐक्य अधिकतर रचनाओं में मिलता है—परन्तु जहां कवि वर्णन, विवेचन-विश्लेषण अथवा इतिहास लेखन के चक्कर में फंस गया है इस प्रभाव की अखण्डता की रक्षा नही हो सकी है।

मुक्तक विधा

मुक्तक, निर्बन्ध काव्य का दूसरा रूप है जिसका प्रयोग दिनकर ने बौद्धिक, व्यंग्यपूर्ण और चमत्कार-प्रधान रचनाओं में किया है। यों तो गीति-काव्य और मुक्तक में काफी समानता दिखाई देती है, परन्तु, दोनों की आत्मा में एक मौलिक अन्तर होता है जिसके कारण उसके कलेवर में भी अन्तर आ जाता है। भारतीय काव्यशास्त्र की मान्यताओं के अनुसार मुक्तक उस काव्य को कहते हैं जो पूर्वापर सम्बन्ध से रहित होता है। मुक्तक काव्य में विभाव अनुभावादिक से पुष्ट रस-परिपाक इतना पूर्ण होना चाहिए कि पाठक को अपनी रसवृत्ति के लिए पूर्वापर का सहारा न ढूंढना पड़े।

गीति-काव्य की तरह मुक्तक में भावाभिव्यक्ति का सहज उद्रेक नहीं मिलता। मुक्तक लिखते समय कवि की कला-चेतना गीतकार की अपेक्षा अधिक जागरूक तथा उसकी दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक वस्तुपरक होती है। गीतिकाव्य

के समान मुक्तक में विषयवस्तु और अभिव्यंजना की एकतानता नहीं रहती। उसमें कवि को बाह्य स्वरूप की रचना के प्रति भी जागरूक रहना पड़ता है। रागात्मक आवेश और आत्मनिष्ठता वहां गीतिकाव्य के समान नहीं होती। मुक्तक के रस-परिपाक के चमत्कार का भी काफी महत्वपूर्ण योग रहता है। उक्ति-विदग्धता और चमत्कार को भी मुक्तक काव्य की विशेषता माना जाता है। फलतः रचना-कौशल उसमें प्रमुख तत्व बन जाता है। इस प्रकार मुक्तक रचना की प्रक्रिया गीत सृजन प्रक्रिया से भिन्न होती है। उसमें कलात्मक तथा बौद्धिक तत्व प्रधान हो जाता है। बुद्धि और अनुभूति में एकात्म यहां अनिवार्य नहीं होता, दोनों का अस्तित्व अलग बना रहता है। भावों की छटा अलग दिखाई देती है और कला विदग्धता अलग। यही कारण है कि आचार्य शुक्ल ने मुक्तक काव्य का विवेचन करते हुए कहा है कि मुक्तक में रस के छीटे पड़ते है जिनसे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। लेकिन, साथ ही साथ उन्होंने उनकी स्वतन्त्र रस-व्यंजक शक्ति का भी संकेत करते हुए इस विधा की अनेक प्रकार से प्रशंसा की है। उनके शब्दों में, 'यदि प्रबन्ध काव्य वनस्थली है तो मुक्तक काव्य एक चुना हुआ गुलदस्ता।' इसके अतिरिक्त छन्द-विधान का कौशल भी मुक्तककार के लिए अत्यन्त आवश्यक है। गीतों मे छन्दों का प्रयोग अधिकतर चरम भावावेश की स्थिति के अनुकूल लय-निर्माण के लिए किया जाता है तथा एक बार उसे अमान्य भी किया जा सकता है, उसकी उपेक्षा भी की जा सकती है, परन्तु मुक्तक में छंद निर्वाह सयत्न होता है। छन्दों के प्रयोग में एक-एक मात्रा का ध्यान रखना पड़ता है क्योकि मुक्तक तो छन्द की इकाई मात्र है। गीति-काव्य की भांति आद्यन्त एक ही अनुभूति के अनुस्यूत होने के कारण आन्तरिक भावान्विति का होना आवश्यक नही है। मुक्तक काव्य की सबसे बड़ी सफलता इस तथ्य पर निर्भर करती है कि अर्थ की सक्षिप्तता, रस-परिपाक अथवा अर्थ-सौरस्य के लिए वह बन्धन न बन जाए।

दिनकर ने मुक्तक की विधा प्रायः उन स्थलों पर ग्रहण की है जब उनके प्रतिपाद्य का रूप बौद्धिक और विचारात्मक रहा है और जब उनका व्यक्तीकरण पौराणिक आख्यानों और पात्रों के माध्यम से नहीं हुआ। रचनाक्रम की दृष्टि से इस वर्ग की प्रथम कृति है द्वन्द्व गीत जिसमें कवि की दार्शनिक रुबाइयां संकलित हैं। मुक्तक रचना की विभिन्न कसौटियों पर ये रुबाइयां पूरी उतरती हैं। इन चतुष्पदियों में भाव-गाम्भीर्य और उक्ति-वैदग्ध्य का अपूर्व सामंजस्य मिलता है। नील कुसुम की कविताओं की विधा भी मुक्तक के ही अधिक निकट है (परम्परावादी शब्द प्रयोग के लिए क्षमा प्रार्थना है) उनमें गीति-काव्य की

सी भावान्विति नहीं है अगर अन्विति कहीं है भी तो वह बौद्धिक स्तर पर है। वास्तव में नील कुसुम की अनेक विचार-प्रधान कवितायें गीति मुक्तक अथवा प्रबन्ध की परम्परागत विधा के अन्तर्गत नहीं रखी जा सकतीं, परन्तु उनमें व्यक्त बौद्धिक दृष्टिकोण उक्ति-विदग्धता, कला-चेतना तथा पूर्वापर सम्बन्ध से रहितता वे तत्व हैं जिनके कारण वे सबसे अधिक मुक्तक के निकट ही ठहराई जा सकती हैं। द्वन्द्व गीत के मुक्तकों में जहां भावगाम्भीर्य चलती हुई सहज भाषा-शैली में सुगुम्फित है, वहां नील कुसुम का बौद्धिक प्रतिपाद्य मंजी हुई भाषा और प्रौढ़ अभिव्यंजना शैली के सहारे व्यक्त हुआ है। उनमें बौद्धिक चमत्कार और उक्ति-वैदग्ध्य का संयोग है। परन्तु उनका रूप कृत्रिम नहीं होने पाया है। भावानुरूप शब्दावली, तथा शब्द-शक्तियों की पहचान और उनके प्रयोग की सामर्थ्य के कारण नील कुसुम की रचनाओं में एक मादक विदग्धता है, न ये मुक्तक रूढ़िबद्ध हैं और न केवल बुद्धिजन्य उनका सम्बन्ध हृदय से भी है और बुद्धि से भी। इन रचनाओं का बौद्धिक और चमत्कार तत्व हृदय की वाणी का अनुसरण करता है, इस लिये हृदय पर उनका स्थायी और गम्भीर प्रभाव पड़ता है। संक्षिप्तता और सारगर्भिता की दृष्टि से नये सुभाषित के मुक्तक बड़े सफल बन पड़े है। आचार्य शुक्ल के शब्द "मुक्तक में रस के छींटे पड़ते है" इन सुभाषितों पर पूर्णरूप से लागू होते है। उनमें स्फुरित व्यंग्य और हास्य के इन छीटों में गम्भीरता और विदग्धता का कुशल सामंजस्य है।

मुक्तक के इन नए रूपों के अतिरिक्त इस विधा का परम्परागत रूप कुरुक्षेत्र के कवित्तों में मिलता है। विशिष्टता की दृष्टि से जिसकी अधिक महत्ता नहीं है। वास्तव में कुरुक्षेत्र की रचना पहले मुक्तकों द्वारा ही हुई थी बाद में उसको भव्यता और गरिमा प्रदान करने के लिए उसे प्रबन्ध का रूप दिया गया।

दिनकर के प्रबन्ध काव्य

दिनकर के प्रबन्ध काव्यों के दो प्रमुख भेद हैं। प्रथम, परम्परागत प्रबन्ध-काव्य जिसमें मैथिलीशरण गुप्त की प्रबन्ध-परम्परा का अनुसरण किया गया है। इसमें कथानक-चयन, वस्तु-विन्यास, चरित्र-चित्रण, देशकाल, उद्देश्य, इत्यादि तत्वों का निर्वाह पुरानी शैली से ही हुआ है। इस परम्परा का एकमात्र प्रतिनिधि काव्य है रश्मिरथी। द्वितीय कोटि के प्रबन्ध काव्यों को विचार-प्रधान काव्य की संज्ञा दी जा सकती है जिसमें कृति का केन्द्र-बिन्दु कोई न कोई समस्या है और उसके विकास तथा उद्घाटन के लिए कार्य-व्यापार की योजना तथा पात्रों की गतिविधियों का निर्धारण किया गया है।

रश्मिरथी में परम्परा के अनुसरण की बात को कवि ने स्वयं स्वीकार किया है—बात यह है कि कुरुक्षेत्र की रचना कर लेने के बाद ही मुझमें यह भाव जागा कि मैं कोई ऐसा काव्य लिखूं जिसमें केवल विचारोत्तेजकता ही नहीं कुछ कथा, सम्वाद और वर्णन का भी माहात्म्य हो। स्पष्ट ही यह उस मोह का उद्गार था जो मेरे भीतर उस परम्परा के प्रति मौजूद रहा है जिसके सर्व-श्रेष्ठ प्रतिनिधि राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण जी गुप्त हैं।

रश्मिरथी में परम्परागत महाकाव्य के सब अनुबन्धों की पूर्ति हुई है। उसके कथानक में पूर्वापर सम्बन्धों की स्थिति सदैव बनी हुई है कथा की पृष्ठ-भूमि निर्माण के लिए देश-काल का चित्रण और प्रकृति-वर्णन भी है, तथा उसमें कवि एक लक्ष्य की पूर्ति का उद्देश्य अपने सामने रख कर नायक के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं को सर्गों में अनुस्यूत करके चला है। महाकाव्य के लिए जिस विस्तृत आयाम की कल्पना की जाती है उसका प्रयोग रश्मिरथी में सम्भव नही था। रश्मिरथी के कथानक का आधार ग्रंथ है महा-भारत, जिसके समस्त आख्यानों को कल्पना की सीमाओ में बांध लेना किसी भी कवि के लिए सम्भव नहीं हो सकता। दिनकर ने भी महाभारत में संकलित कर्ण सम्बन्धी आख्यानों के आधार पर ही इस काव्य की रचना की है। आख्यान सम्बन्धी इसी परिसीमा के कारण रश्मिरथी के वस्तु-विन्यास में आरम्भ, मध्य, चरम सीमा और निगति जैसी स्थितियां नहीं बनाई जा सकती। उसमें एक मुख्य वस्तु है और उस मुख्य वस्तु को विकास देने वाली अनेक उपवस्तुयें हैं जो कहीं-कहीं कथानक की पूर्णता लिए हुए हैं और कहीं घटनाएं मात्र बन कर रह गई हैं। प्रायः सभी घटनाएं वे ही हैं जो कर्ण के चरित्र को उभार देती है। वे ही सब घटनाओं का केन्द्र-बिन्दु हैं, रश्मिरथी के सातों सर्गों की रेखाएं उसी बिन्दु पर मिल कर उसके व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं। प्रथम सर्ग में उसके उज्ज्वल शौर्य और असाधारण प्रतिभा का परिचय मिलता है। द्वितीय में उसकी साधना और तपस्या की शक्ति और धैर्य का, तृतीय में उसका दृढ़ राजनीतिज्ञ का रूप हमारे सामने आता है, चतुर्थ सर्ग में उसकी दानवीरता, पंचम में कर्तव्यनिष्ठा, छठे में शौर्य और पराक्रम तथा सातवें सर्ग में उसके गौरवपूर्ण अन्त का चित्रण है, इस प्रकार रश्मिरथी को चरित्र-प्रधान अथवा व्यक्तिनिष्ठ महाकाव्य कहा जा सकता है। परन्तु इसमें कवि ने न तो महाभारत के कर्ण को अपने शब्दों में पुनर्निर्मित मात्र कर दिया है और न उसी की कथा को दुहराना उसका ध्येय रहा है। कर्ण का निर्माण दिनकर ने अपनी मान्यताओं के आदर्श मानव के रूप में किया है। जिसमें शौर्य और विनय, देह-बल और हृदय-

बल का सामंजस्य प्रस्तुत किया है, अन्य पात्रों के निर्माण में भी अनेक मौलिक स्पर्श दिए गए हैं। अधिकतर कवि का यह प्रयास रहा है कि वह कर्ण के सिर से अधर्म की ओर से लड़ने का कलंक धो दे।

कुन्ती के आंसू और उसके मन की व्यथा को भी कवि सहानुभूतिपूर्ण दयार्द्र दृष्टि से देख सका है। कर्ण के उदात्त गुणों के द्वारा जीवन के उच्चतर मूल्यों की स्थापना हुई है, साथ ही साथ आज के युग की एक ज्वलन्त समस्या (वर्ण-व्यवस्था से उत्पन्न विकृतियों की समस्या) पर कवि ने उदारतापूर्वक प्रकाश डाला है। रश्मिरथी को मैथिलीशरण गुप्त की काव्य-परम्परा का गौरवपूर्ण अवशेष कहा जा सकता है।

दिनकर द्वारा रचित दूसरे वर्ग की प्रबन्ध कृतियां हैं कुरुक्षेत्र, उर्वशी और परशुराम की प्रतीक्षा। ये तीनों ही कृतियां वर्तमान युग की किसी न किसी समस्या की प्रेरणा से लिखी गई हैं। प्रथम दो कृतियों में समस्या का रूप सार्वभौम है और तीसरी का देशीय और राष्ट्रीय। तीनों में ही ऐतिहासिक पात्रों और घटनाओं का अनुपात किसी न किसी रूप में विद्यमान है। परन्तु ये दोनों ही तत्व कवि की विचारधारा के वाहक मात्र हैं और इनका उपयोग सम्बद्ध समस्या की उपस्थापना और विकास के लिए ही किया गया है।

कुरुक्षेत्र को सर्गबद्ध प्रबन्ध का रूप दिया गया है इसलिए उसमें कवि को अपनी ओर से भी बोलने का अधिकार और अवकाश है। प्रथम सर्ग में कवि स्वयं समस्या की स्थापना करता है, पंचम सर्ग तक, कभी युधिष्ठिर कभी भीष्म और कभी स्वयं कवि के द्वारा प्रश्न के विविध और परस्पर विरोधी पहलुओं का व्याख्यान और विश्लेषण हुआ है। परम्परावादी प्रबन्ध-काव्यों की तरह यहां कथा का विकास अथवा चरित्र-चित्रण कवि का ध्येय नहीं रहा है। केवल विचारसूत्र को आगे बढ़ाने के लिए ही विभिन्न सर्गों की योजना हुई है। छठे सर्ग में कवि द्वापर, युधिष्ठिर और भीष्म को छोड़कर बीसवीं शती में आकर वर्तमान युग की समस्याओं का स्वयं आख्यान करता है। सप्तम सर्ग में उस जीवन-दृष्टि की स्थापना होती है, जहां वह युद्ध के समाधान की सम्भावनाएं देखता है। कुरुक्षेत्र के प्रबन्ध-विधान का यह विकास निम्नांकित रेखाओं द्वारा समझा जा सकता है। रेखाओं पर दिए गए अंक सर्ग-संख्या का संकेत करते हैं।

कुरुक्षेत्र का प्रबन्ध-विधान
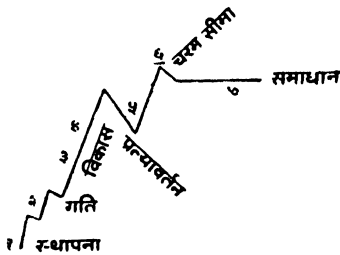
कुरुक्षेत्र को प्राय: प्रबन्ध काव्य के परम्परागत तत्वों की कसौटी पर चढ़ा कर उसे उस दृष्टि से असफल सिद्ध कर दिया जाता है। इसे अनेक नाम दिए गए हैं। अनेक आलोचकों ने इसे महाकाव्य माना है, दूसरों ने खण्डकाव्य। केवल डा० नगेन्द्र ने उसे विचार-प्रधान प्रबन्ध कविता का नाम दिया है। प्रतिपाद्य के इस रूप को ध्यान में रखते हुए कुरुक्षेत्र का पुराने मापदण्डों पर मूल्यांकन ठीक नहीं जान पड़ता। यह बात मेरे मस्तिष्क में इसलिए प्रधान है कि अधिकतर परीक्षार्थियों के सामने प्रश्न रख दिए जाते है, 'कुरुक्षेत्र में ऐतिहासिक और काल्पनिक तत्वों का विश्लेषण कीजिए'। कुरुक्षेत्र मे उन्हीं ऐतिहासिक तत्वों का महत्व है जिनका कवि के विचारसूत्र में कुछ स्थान प्राप्त है। महाभारत में भीष्म कृत राजन्त्रविहीन समाज और ध्वंसीकरण की नीति के साथ तो कुरुक्षेत्र के विचार की तुलना हो सकती है, परन्तु दिनकर के युधिष्ठिर और भीष्म के साथ महाभारत के पात्रों तथा कुरुक्षेत्र में आई हुई घटनाओं की महाभारत की घटनाओं से तुलना मेरे विचार से अनावश्यक और निरर्थक है। कुरुक्षेत्र के 'अंगीरस' के प्रश्न पर भी उसकी समस्या-प्रधानता के कारण एक प्रश्नचिह्न सामने आ जाता है। अंगीरस के मुख्य प्रतिबन्ध ये है :

१. अंगीरस की निरन्तर व्याप्ति आवश्यक है।
२. अंगीरस को कृति के मूल प्रभाव का व्यंजक होना चाहिए।
३. प्रधान पात्र में उसका प्राधान्य होना चाहिए।
४. उसी के माध्यम से कृति के उद्देश्य की व्यंजना होनी चाहिए।

कुरुक्षेत्र में एक समस्या के दो पहलू एक साथ चलते हैं और प्राय: एक ही पात्र के द्वारा उसका विकास होता है। युधिष्ठिर की ग्लानि का उसमें कोई स्थान नहीं है क्योंकि वह तो केवल द्वन्द्व की अभिव्यक्ति करती है। 'कुरुक्षेत्र' में शौर्य और क्षमा, ओज और करुणा के जिस समन्वय का स्वर प्रधान है

उसका रूप द्विविध है और इन दोनों ही पक्षों का विवेचन भीष्म करते है। छठे तथा सातवें सर्ग में जिस मानवतावादी, कर्मयोग की स्थापना हुई है उसे शौर्य के अन्तर्गत रखा जाएगा अथवा करुणा के ? मेरे विचार से कुरुक्षेत्र के मूल प्रभाव की व्यंजना, किसी रस की निरन्तर व्याप्ति, उद्देश्य इत्यादि का उत्तर देने के लिए हमें एक नई दृष्टि से विचार करना होगा और परम्परागत रस-विधान के चौखटे से बाहर निकलना होगा, क्योंकि यहां कवि का राग बुद्धि-सम्पुष्ट है; उसके सामने एक समस्या है, जिस पर विचार करते समय रस-निष्पत्ति की निमग्नता और तल्लीनता नही आ सकती, उससे प्राप्त आनन्द बौद्धिक आनन्द है जिससे मस्तिष्क की ग्रन्थियां पहले खुलती हैं हृदय उनका अनुसरण करता है।

उर्वशी का प्रबन्ध-विधान

प्रतिपाद्य के विरोधी सूत्रों के समान ही उर्वशी के रूप-विधान में भी कई विरोधी तत्व आपस में उलझ गए हैं। उर्वशी के कवि के सामने विधा-सम्बन्धी तीन उद्देश्य हैं : (१) उर्वशी और पुरुरवा की कहानी को आद्यंत प्रस्तुत करना, (२) कृति के विचार तत्व का दार्शनिक व्याख्यान करना, (३) कृति में अभिनेयता का समावेश करना। इस प्रकार कवि को विधान सम्बन्धी तीन तत्वों का निर्वाह करना है। उर्वशी नाटक भी है और कविता भी। नाटकीय विधान मे नियोजित प्रबन्ध तत्व की अपनी परिसीमाएं होती हैं। कवि अथवा नाटककार के प्रत्यक्ष वक्तव्य के लिए उसमें अवकाश नहीं होता, पात्रों के सम्वाद और कार्य-व्यापार ही विचारों और भावनाओं के व्यंजक होते हैं। उर्वशी की विधा की इस परिसीमा के कारण कहीं-कहीं अस्वाभाविकता अनिवार्य हो गई है। उदाहरण के लिए प्रथम अंक में अप्सराओं के अवतरण द्वारा वातावरण तो खूब सुसज्जित और आकर्षक हो गया है। मंजीर, शिंजिनी, कंकण और नूपुर की मिश्रित ध्वनियों से एक आह्लादक वातावरण की सृष्टि हुई है किन्तु प्रेम के विभिन्न पक्षों का जो विचारपूर्ण उद्‌घाटन उनके द्वारा कराया गया है वह अनेक स्थलों पर उनके व्यक्तित्व के अनुरूप नही बैठता। कहानी भी वर्णित होती है घटित नहीं, इस प्रकार नाटक की दृष्टि से उर्वशी का कार्य-व्यापार शिथिल पड़ता है और प्रबन्धत्व की दृष्टि से पात्रों के विचार उनके व्यक्तित्व से अलग पड़ते हैं। अप्सराओं का वह वार्तालाप सखी-सहेलियों की गोष्ठी के समान है, पर उसमें विवेचित विषय साहित्यिक गोष्ठियों की गरिमा लिए हैं। अगर दिनकर को अपनी ओर से कुछ कहने का अवकाश और अवसर होता तो वातावरण विषय के अनुकूल गम्भीर हो सकता था, परन्तु तब उस सज्जा

और शृङ्गार का नियोजन कैसे होता जिससे परदा खुलते ही दर्शकों की आंखें चकाचौंध हो जाती हैं। उर्वशी के प्रबन्ध की एक निश्चित योजना है। प्रथम और द्वितीय अंक का वस्तु-विधान कहानी और आदर्शवादी सूत्र को लेकर चलता है वहीं समस्या की स्थापना होती है और उसे गति प्राप्त होती है। तीसरे अंक में कहानी अवरुद्ध हो जाती है, उसमें एक ही घटना है—उर्वशी और पुरुरवा का मिलन। चतुर्थ अंक में कथासूत्र आगे बढ़ता है तथा पांचवें में जाकर स्थिति चरमसीमा पर पहुंच कर निगति की ओर झुकती है। उर्वशी के प्रबन्ध-विधान को निम्नांकित रेखाओं में स्पष्ट किया जा सकता है :

उर्वशी का प्रबन्ध-विधान
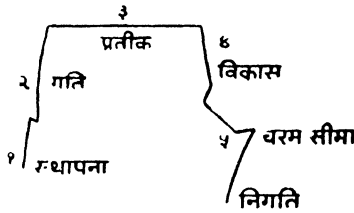
प्रथम तथा द्वितीय अंकों के कहानी-सूत्र की एक क्षीण रेखा तृतीय अंक में शेष रह जाती है, जो सार्वभौम पृष्ठभूमि की व्यापकता के ऊपर से कंगूरा बनाती हुई चतुर्थ अंक में फिर उभरती है और पांचवे अंक में समाधान का संकेत करती हुई औशीनरी की आंसू भरी शक्ति में विलीन हो जाती है। तृतीय अंक के विचारात्मक तत्व के लिए भी नाटक की विधा न तो अभिनेयता की दृष्टि से उपयुक्त है और न विचार-संप्रेषण की दृष्टि से ; विचार-प्रधान कविता (Reflective Poetry) के लिए तो खुला अवकाश और वातावरण चाहिये, सम्वाद और अभिनेयता-प्रधान विधा में उसका क्षेत्र सीमित हो जाता है। उसके पंख बंध जाते हैं। नृत्य-संगीत और काव्य-रूपक के संयुक्त विधान में तीसरे अंक की अभिनेयता का निर्वाह उसको रंगमंच की दृष्टि से सम्पादित किये बिना नहीं किया जा सकता। उर्वशी के काव्य-रूप को भी एक नया प्रयोग ही माना जायेगा जिसमें कवि ने आख्यान और दर्शन को प्रतीक, प्रबन्ध और दृश्यता के माध्यम से व्यक्त करना चाहा है, इस प्रकार के प्रयोगों की सीमा में भी यह काव्य-रूप आकर्षक और सफल बन पड़ा है।

परशुराम की प्रतीक्षा में प्रबन्धात्मकता नाममात्र की है। उसकी प्रेरणा के मूल में भी एक समस्या है जिसका रूप पूर्णत: राष्ट्रीय है। नेफा की पराजय

का कलंक धोने के लिए कवि ने परशुराम का आह्वान उनसे सम्बद्ध पौराणिक कथा को प्रतीक रूप में प्रयुक्त करके किया है। सम्पूर्ण कविता पांच खण्डों में विभाजित है और हर खण्ड में समस्या पर अलग-अलग पहलू से विचार किया गया है। इस कविता की विधा को भी कोई परम्परागत नाम नहीं दिया जा सकता। उसमें ओजगीतों के समान भावों की एकतानता है, विचारात्मक कविता का विवेचन-विश्लेषण तथा विचारों का क्रमिक विकास है। एक प्रमुख घटना का क्षीण सूत्र भी उसमें आरम्भ से अन्त तक विद्यमान है। अभिव्यंजना के अन्य तत्वों की भांति काव्य-रूपों के क्षेत्र में भी दिनकर अपने भावों और विचारों के उचित और सम्यक् प्रवहण के लिए मनचाहा प्रयोग करते हैं।

जिस प्रकार छायावादी परवर्ती कविता किसी पैटर्न के आधार पर नहीं चली ; हर कवि की प्रतिक्रियाओं ने ही उसके प्रतिपाद्य का रूप निर्धारित किया, उसी प्रकार उस युग के कवि ने अपनी शैली का निर्माण भी अपनी रुचि और पसन्द के अनुसार किया। छायावाद के शीर्षस्थ कवि चतुष्टय की रचनाओं में भाषा, विचार, कल्पना और अभिव्यंजना के अन्य तत्वों का विकास एक सामान्य धरातल पर हुआ है, वैभिन्न्य केवल व्यक्ति-वैशिष्ट्यजन्य है, परन्तु छायावाद परवर्ती कवित्रयी दिनकर, बच्चन और नरेन्द्र की भावभूमि और शैली दोनों ही पहले उनकी अपनी हैं, उसके बाद उन्हें किसी सामान्य प्रवृत्ति के अन्तर्गत रखा जा सकता है। एक ही परिवेश और युगीन पृष्ठभूमि में पल्लवित इन तीनों कवियों का काव्य तथा शैलीगत वैभिन्न्य उस युग के युवकों में उमड़ते हुए विद्रोह, तथा सामान्य से विशिष्ट, और वर्ग से व्यक्ति की ओर उन्मुख होती हुई प्रवृत्तियों का द्योतक है। और शायद इसी वैभिन्न्य के कारण छायावाद परवर्ती काव्य को पृथक् नाम और मान्यता नहीं दी गई है। जब प्रगतिवाद के बंधे बंधाये मापदंडों की बाढ़ आई तो दिनकर को भी उसी के साथ बांध दिया गया। नरेन्द्र, अंचल और भगवती बाबू के यथार्थवादी दृष्टिकोण को भी उसमें स्थान मिल गया, एक, अकेले बच्चन रह गये जिनकी रचनाओं को किसी भी तरह, खींच-तान कर भी प्रगतिवाद के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता था, इसलिये उन्हें हालावाद के प्रवर्तक और उस काव्यधारा के एकमात्र कवि के रूप में मान्यता मिली।

दिनकर इसी युग के "सबसे समर्थ कवि हैं।" देश और विश्व की मुख्य और प्रसिद्ध घटनाओं ने उनकी समष्टि काव्य-चेतना का रूप निर्धारित किया। 'कुरुक्षेत्र' ने उनको एक संवेदनशील और प्रौढ़ चिन्तक कवि के रूप में प्रतिष्ठित किया। उसके बाद भी दिनकर ने जो कुछ लिखा उसमें उनका कवि और

विचारक ही प्रधान रहा, परन्तु 'उर्वशी' ने उनको काव्यशिल्पी के पद पर भी अधिष्ठित कर दिया है। 'उर्वशी' के प्रकाशन के पहले वे सबसे अधिक कुरुक्षेत्र के कवि के रूप में याद किये जाते जहां उन्होंने राष्ट्रवाद की सीमा का अतिक्रमण कर विश्व की सार्वभौम पृष्ठभूमि में मानव जीवन की एक ज्वलन्त समस्या का व्यावहारिक और गम्भीर विश्लेषण प्रस्तुत किया था। अब तक दिनकर कवि और तत्वचिन्तक थे। उनका ध्यान केवल अभिव्यक्ति की सहजता और स्पष्टता पर रहता था, उसकी सुन्दरता पर नहीं। 'उर्वशी' में शिल्पी और चित्रकार दिनकर की छेनी और तूलिका की सामर्थ्य का परिचय भी मिल गया है, जिनके माध्यम से इस 'साहित्यिक ताजमहल' का निर्माण किया गया है जो हिन्दी साहित्य के इतिहास में, अपने शिल्पी के कल्पना-वैभव, भाव-समृद्धि, विचार-प्रौढ़ि और अभिव्यंजना-सामर्थ्य की कहानी कहता रहेगा।

उपसंहार

भारतीय जनता की उद्बुद्ध चेतना की विभा में दिनकर का आविर्भाव हुआ, जब देश का क्षितिज नवयुवकों की छाती से निकलते हुए रक्त के फव्वारों से रंजित हो रहा था, कोड़े खाते हुए निरपराध व्यक्तित्वों के मुंह से निकलती हुई वन्देमातरम् की ध्वनि 'भोर' का संदेशा दे रही थी, और फांसी पर झूलते हुए निर्भीक चेहरे भविष्य के पट पर लिखे हुए इतिहास की आहट दे रहे थे। परन्तु इस जागृति का एक दूसरा पहलू भी था। जब स्वाधीनता के सिपाही रक्त की गंगा में स्नान कर रहे थे, विभिन्न गोलमेज़ सभाओं की अगणित समितियों की असंख्य बैठकों में भारत को स्वतन्त्रता देने का अभिनय भी किया जा रहा था। मैकडानल्ड अवार्ड के विरोध में गांधी जी ने कांग्रेस के लिए आत्म-निषेध, आत्मसंयम और आत्मपरिष्कार की कला के शिक्षण और प्रसारण का कार्यक्रम निर्धारित किया था और कांग्रेस के उग्र दल में इस नीति से बड़ी निराशा फैली थी। गांधी के उदात्त आदर्श, राजनीति की गहरी आध्यात्मिकता और रहस्यात्मक कार्यप्रणाली उग्र सदस्यों की व्यावहारिक बुद्धि की समझ के बाहर की बात थी। दिनकर भी उस मध्यवर्ग के एक संवेदनशील युवक थे जो वर्ग उग्र दल के नेता जवाहर, सुभाष, जयप्रकाश और नरेन्द्रदेव के साथ था इसी लिये आरम्भ से ही उनकी सहानुभूति विरोधों और विद्रोहों के साथ रही। उनकी राष्ट्रीय कविताओं की प्रेरणा के बीज इन्ही विरोधों में मिलते हैं, सविनय अवज्ञा आन्दोलन, अछूत आन्दोलन, चर्खा अथवा तकली प्रचार में नहीं। अपने ही शब्दों में उन्होंने गांधी की पूजा सदैव अंगारों से की थी। इसीलिये, दिनकर की राष्ट्रीयता को गांधी युग की विद्रोही राष्ट्रीयता का नाम दिया जा सकता है। सरकारी नौकरी में रह कर इस प्रकार के खुले विद्रोह के लिए उन्हें दण्ड क्यों नहीं दिया गया, यह प्रश्न सहज रूप से मन में उठता है, शायद इसका कारण यह हो कि उस समय कांग्रेस के वयस्क नेताओं द्वारा आन्दोलन की समाप्ति कर दी गई थी, और सरकार जनता के संतोष के लिए सन् १९३५ के संघात्मक शासन का संविधान बनाने की तैयारी कर रही थी, ऐसी स्थिति में इन नवयुवकों की आग में आहुति न डालना ही ठीक था। यह भी हो सकता है कि शायद सरकार की आंखों में इस प्रकार की आवाजें खलक की आवाज न होकर बच्चों का शोर-गुल मात्र रहा हो, क्योंकि वह जानती थी

कि महात्मा गांधी की सार्वभौम सत्ता और शक्ति के सामने उनके बड़े-बड़े विरोधियों और प्रतिरोधियों को भी झुक जाना पड़ता है। युवकों के अग्रणी नेता भी अपने सारे विरोधों के बावजूद उनके निर्णयों को उसी प्रकार स्वीकार कर लेते थे जैसे एक आज्ञाकारी संस्कारी पुत्र, अपनी नई और विद्रोही मान्यताओं को अपने शक्तिशाली और व्यक्तित्ववान पिता की मान्यताओं पर विसर्जित करके, सिर झुका कर उसी के निर्देशन में चलना स्वीकार कर लेता है।

दिनकर की काव्य-चेतना, अभाव से भाव, निषेध से स्वीकृति, निवृत्ति से प्रवृत्ति, दिवास्वप्नों से चिन्तन और कल्पना से कर्म की ओर अग्रसर हुई है। प्रारम्भ में उनके सामने काव्य-रचना के अनेक और अनिश्चित मूल्य थे। बिहार की विद्रोही राष्ट्रीय-चेतना के अग्निमय वातावरण में उनके कवि व्यक्तित्व का निर्माण हुआ। माखनलाल चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी और मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं द्वारा उन्हें राष्ट्रीय कविता के संस्कार प्राप्त हुए, छायावाद के युवक कवियों की रेशमी झिलमिलाहट से भी उनका कल्पनाशील युवा व्यक्तित्व प्रभावित हुए बिना नहीं रहा यही कारण है कि उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में हमें उनकी काव्य-चेतना के अनेक सूत्र मिलते हैं। विकास की दृष्टि से इन सभी सूत्रों के दो सोपान माने जा सकते हैं। प्रथम, वह स्थिति जब कवि की प्रतिक्रियायें मूलतः भावपरक रही हैं। इस स्थिति के अन्तर्गत कुरुक्षेत्र के पूर्व लिखी गई प्रायः सभी रचनायें रखी जा सकती हैं। राष्ट्रीय चेतना के काव्य रेणुका और हुंकार दिनकर की भाव-प्रवणता के ही परिणाम हैं। उनमें व्यक्त वीरता अंधी वीरता है और उनकी क्रान्ति अन्धी क्रान्ति है। वहां वे वांछनीय-अवांछनीय अथवा सम्भावनाओं और असम्भावनाओं को देख कर नहीं चले हैं। 'द्वन्द्वगीत' और 'रसवन्ती' में भी वैयक्तिक भावनात्मक प्रतिक्रियाओं की ही अभिव्यक्ति हुई है। कलिंग-विजय में द्वन्द्वगीत की वैयक्तिक करुणा और व्यथा ने समष्टिजन्य रूप ग्रहण किया है। यहां तक दिनकर एक भावप्रवण कवि हैं विचारक कवि नहीं। कुरुक्षेत्र में वे पहली बार मुख्य रूप से विचारक और द्रष्टा के रूप में आते हैं और कविता के प्रति उनकी भावात्मकता बुद्धि से संपुष्ट होकर अभिव्यक्ति पाती है, और, राष्ट्रीय, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक प्रतिपाद्य के प्रति उनके मूल्य निश्चित और स्थिर हो जाते हैं। कुरुक्षेत्र के अतिरिक्त सामधेनी, बापू और परशुराम की प्रतीक्षा में भी दिनकर का अग्निमय भाव बुद्धि-संपुष्ट है। अधिकतर, विचारक कवि का भावपक्ष गौण और दुर्बल पड़ जाता है, परन्तु दिनकर की कविता में बुद्धि

भाव को शीतल नहीं बनाती उनको उद्‌बुद्ध करके उन्हें दृढ़ता और शक्ति प्रदान करती है। कुरुक्षेत्र के पहले भी हुंकार में कुछ ऐसी रचनायें संकलित हैं, जिनमें दिनकर की भावपरक प्रतिक्रियाओं को विचार-संपुष्ट करके उनमें क्लासिक स्पर्श देने का प्रयास आरम्भ कर दिया था। यद्यपि अभिजात कविता का पूर्ण गौरव कुरुक्षेत्र में ही व्यंजित हुआ, फिर भी, देहबल और आत्मबल के सामंजस्य का सिद्धान्त वे हुंकार की 'महामानव की खोज' कविता में ही निर्धारित कर चुके थे। गांधी दर्शन को, निर्बल की क्षमा और दया के सुघर बेलबूटों से 'अजा धर्म' को सजाने वाला दर्शन मान कर दिनकर उस प्रचण्ड मानव के अन्वेषी बने जिसकी सांसों पर प्रभंजन नृत्य करे और जिसके इशारों पर इतिहास बदल जाये। जिसके हाथों में अमृत कलश और धर्मध्वज हो, परन्तु जो झंझा सा बलवान और काल सा क्रोधी भी हो।

दिनकर की इन कल्पनाओं में कहीं-कहीं हिटलर और मुसोलिनी के व्यक्तित्वों की सी राक्षसी गन्ध भी आती जान पड़ती है, अमृत कलश और धर्म-ध्वज की रक्षा तो कठिन साध्य है परन्तु झंझा से क्रोध और शैल के से अहं से प्रेरित होकर मनुष्य के लिए अपने को भगवान समझना बड़ा आसान है। दिनकर की अपनी कल्पना में चाहे असंतुलन न हो, पर शारीरिक शक्ति की ओर असंतुलित झुकाव की सम्भावनायें उसमें विद्यमान हैं, असंतुलन से व्यक्ति संत बने या दानव, प्रश्न यह है। परन्तु शक्ति के दानव के हाथों में वेद, कलश और धर्म-ध्वज पकड़ा कर उसे मनुष्य बनाये रखने का प्रयास उन्होंने सर्वत्र किया है। और अगर आत्म-सम्मान, राष्ट्र-सम्मान, और देश की रक्षा का प्रश्न हो तो वह अबल देवता की अपेक्षा सबल मानव की ओर ही झुकेंगे। इसी धर्मध्वजधारी विक्रमादित्य की कल्पना का व्यावहारिक व्याख्यान कुरुक्षेत्र के भीष्म द्वारा प्रतिपादित जीवन-दर्शन में हुआ है।

जीवन की विभिन्न समस्याओं के द्विमुखी और विरोधी पक्षों के समानान्तर विश्लेषण और प्रतिपादन के कारण कुरुक्षेत्र की काव्य-चेतना पर द्वन्द्वग्रस्तता तथा अस्पष्टता का दोष लगाया जाता रहा है, परन्तु कुरुक्षेत्र की सृजन-प्रक्रिया में दो शक्तियां साथ-साथ काम करती रही हैं। बुद्धिजन्य विचार और प्रवृत्तिजन्य राग का संघर्ष उसमें आरम्भ से अन्त तक विद्यमान है इसलिये अनेक स्थलों पर उसमें विरोधाभास का भ्रम होने लगता है, जबकि वास्तव में तथ्य यह है कि कुरुक्षेत्र में बिचार दिशा-निर्देश करते हैं और भावनायें उन्हें गति प्रदान करती हैं। मानसिक प्रवृत्तियों के बीच संतुलन और सामंजस्य की इस प्रक्रिया के कारण विरोधी तत्वों का समावेश कुरुक्षेत्र में अनिवार्य और

अवश्यम्भावी हो गया है। मेरे विचार से तो कुरुक्षेत्र में आकर दिनकर का द्वन्द्व समाप्त हो गया है। अभी तक जीवन के विभिन्न प्रश्नों और समस्याओं के प्रति जो विरोधी दृष्टिकोण उनके सामने चले आ रहे थे, कुरुक्षेत्र में उनके सत्यासत्य का निर्णय हो गया है। जैसे प्रौढ़ होकर व्यक्ति अपने हृदय के उद्वेलनों का शमन दर्शन और आध्यात्मिकता से करता है वैसे ही दिनकर ने अनेक प्रश्नों का समाधान पाश्चात्य और भारतीय दर्शन के सार तत्वों को ग्रहण करके किया है, और यहां आकर हुंकार की भाव-प्रधान समष्टि चेतना दर्शन से सम्पुष्ट होकर स्थायी हो गई है। अभावमूलक तत्वों पर भावमूलक तत्वों की विजय और जीवन के विभिन्न विरोधी भावों में सामञ्जस्य द्वारा कुरुक्षेत्र में दिनकर ने एक स्वस्थ और सन्तुलित मानव-दर्शन की स्थापना की है जो पृथ्वी का आधार कभी नही छोड़ता।

पार्लियामेण्ट में आने के बाद, दिनकर राष्ट्र और जनता के कवि कम और राजनीति के कवि अधिक बन गये। भारत विभाजन से उठी हुई समस्यायें उनकी आंखों से प्रायः ओझल रहीं। राजनीति और धर्म की चक्की में पिसी हुई जनता का आक्रोश और दुःख वे निरपेक्ष और तटस्थ दृष्टि से देखते रहे। अब दिनकर जनता के कवि नहीं उसके प्रतिनिधि मात्र थे। जनता जनार्दन के चारण पद को छोड़ कर वे कुछ समय के लिए सरकार के माइक्रोफोन बन गये। अब वे भारत के भाग्य-विधायकों में से एक थे, और विधाता का काम केवल नियम बनाना होता है, उनके प्रभावों और प्रतिक्रियाओं के प्रति वह बेखबर और बेपरवाह रहता है। उनकी काव्य-चेतना का समष्टि तत्व अब भारतीय राजनीति, राष्ट्रनीति और पर-राष्ट्रनीति का प्रतिनिधित्व करने लगा। उसके बाद कुछ दिनों के लिए उनकी चेतना का समष्टि तत्व बिल्कुल ही गौण पड़ गया। आग की लपटों, बारूद और भूचाल के स्थान पर उनकी सरसी में अलक्तक राग भर गया, आग और तूफान का स्थान मधुर अनुभूतियों के कोमल प्रकाश ने ले लिया। काम के अमृत की उज्ज्वलता और मादकता से आकर्षित होकर वे उर्वशी लोक की हरियाली से घिर गये। परन्तु चीन के आक्रमण ने फिर उन्हें गांस मार कर जगा दिया है और अब वे फिर सूर्य से जलने की सीख तथा ईश्वर से आग की भीख मांगने लगे हैं।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि दिनकर की राष्ट्रीय चेतना का मूल रूप भाव-प्रेरित रूमानी है। बुद्धि-विवेक द्वारा विरोधी सत्ताओं के साथ समझौता और सामंजस्य की कल्पना वे नहीं करते, कर ही नहीं सकते। अनाचार और अन्याय के उच्छेदन और उन्मूलन के अतिरिक्त उनके पास और

कोई समाधान नहीं है। उनका मार्ग समझौते का नहीं क्रान्ति और विप्लव का मार्ग है। चुपचाप मार खाना उनकी समझ में कभी नहीं आया और न उनका यह विश्वास बना कि केवल भीख मांगने से स्वतन्त्रता मिल सकती है या दुश्मन की ललचाई नजरों से उसकी रक्षा की जा सकती है। परन्तु उनकी क्रान्ति का रूप निरुद्देश्य-ध्वंसमूलक नहीं है। उनके लिए अराजकतावादी और अव्यवस्थावादी इत्यादि शब्दों का प्रयोग करना भ्रामक है। क्रान्ति, विप्लव और अराजकता, उनका साध्य न कभी पहले रही है और न अब है, परन्तु साधन के रूप में उसकी अनिवार्यता उन्होंने हमेशा स्वीकार की है। अब भी वे उसी की आवृत्ति कर रहे हैं। कुरुक्षेत्र में उन्होंने जिन युद्धजन्य परिस्थितियों का चिन्तन किया था, एक आक्रान्त देश के विशिष्ट नागरिक होने के नाते आज वे उसी के भुक्तभोगी हैं। समय की पुकार उनके रक्त में आग भर देती है। परशुराम की प्रतीक्षा में वही आग फिर से भड़क उठी है, जिसके सम्बन्ध में व्यक्त हिन्दी की राष्ट्रीय काव्य-परम्परा के वयस्क कवि श्री माखन लाल चतुर्वेदी के विचार द्रष्टव्य हैं। "इस कविता में तपन है ज्वाला है और वर्तमान युग के लिए क्या नहीं है ? दिनकर के इसी रूप को मैं देखना चाहता था वह इस युग की ज्वालमाला है। इस पुस्तक का दिनकर हिमालय को और उसके माध्यम से सम्पूर्ण राष्ट्र और संस्कृति को प्यार करने वाला दिनकर है। जैसी मति है, जैसी कृति है वैसा ही दिनकर व्रती है। किन्तु हम तो कालिदास को सर्वश्रेष्ठ कहने वाले देश में रहते है। हम दिनकर को समझ सकें तो बड़ी बात है।"

दिनकर मुख्यत: ओज और पौरुष के कवि हैं, परन्तु उनके राग का एक दूसरा रूप भी है जो एकान्त वैयक्तिक है, और जिसमें उनके भावों का उन्नयन नहीं उद्रेक व्यक्त है। इस चेतना के प्रतिनिधि ग्रन्थ हैं रसवन्ती और उर्वशी। अनेक आलोचकों ने रसवन्ती के दिनकर को पलायनवादी मान कर उन पर यथार्थ और संघर्ष मे कायरतापूर्वक मुँह मोड़ लेने का दोषारोपण किया है, लेकिन यह बात ध्यान में रखने की है कि दिनकर की काव्य-चेतना में व्यक्ति और समष्टि, सुन्दर और सत्य, ओज और प्रेम, प्रवृत्ति और निवृत्ति साथ-साथ चले हैं। द्वन्द्वगीत का धुंवा, हुंकार की आग, और' रसवन्ती के रस का उनके हृदय में सहअस्तित्व रहा है। समष्टि-चेतना की भांति ही उनकी शृङ्गार-चेतना के भी दो रूप माने जा सकते हैं। परम्परागत रागमूलक शृङ्गार-चेतना तथा दर्शन तथा मनोविज्ञान पर आधृत विचारमूलक शृङ्गार-चेतना। काम के दो रूप माने जाते हैं : एक रसिकता और दूसरा प्रेम। सामान्य तल पर काम

रसिकता है और वैयक्तिक तल पर प्रेम। रसवन्ती के शृङ्गार को न रसिकता माना जा सकता है और न उसमें प्रेम का वैयक्तिक दृष्टिकोण प्रधान है। इस शृङ्गार को तो छायावाद के अतीन्द्रिय शृङ्गार और वैयक्तिक कविता की रूमानी स्वच्छन्दता के बीच की एक कड़ी ही माना जा सकता है। रसवन्ती के शृङ्गार में छायावादी शृङ्गार का विस्मय और वैयक्तिक कविता का उपभोग दोनों ही तत्व विद्यमान हैं तथा उसकी अभिव्यक्ति में भी वायवीयता और यथार्थता दोनों का मिश्रण है। रहस्यमयी चेतना और शरीर की भूख, दोनों के बीच की स्थिति रसवन्ती के शृङ्गार की है। न नैतिक आतंक से सहम कर नारी के प्रति उनका आकर्षण कौतूहल में परिणत हुआ है और न उसमें वैयक्तिक कविता का खुलापन और कुंठा-जन्य विषाद व्यक्त हुआ है। व्यक्ति-विशेष के प्रति राग की अभिव्यक्ति रसवन्ती में अधिक मुखर नहीं हुई है, और न इन गीतों की रचना असन्तोष, विद्रोह अथवा अनास्था के फलस्वरूप हुई है। उसका आविर्भाव तो दिनकर की समष्टि-चेतना-जन्य विद्रोह, और आक्रोश के स्नायविक तनावों को शिथिल करने के उद्देश्य से हुआ जान पड़ता है। जिस प्रकार बच्चन, नरेन्द्र और अंचल इत्यादि उनके समयुगीन कवियों ने नैतिक मर्यादाओं और जीर्ण आदर्शों को खुले शब्दों में चुनौती दी और प्रवृत्तिमूलक सहज सत्य की प्रतिष्ठा की वैसा प्रयास रसवन्ती की रचनाओं में नहीं मिलता। सामाजिक नीति-पाश को तोड़कर स्वच्छन्दता की ओर बढ़ने और उसकी खुली घोषणा करने का साहस दिनकर में नहीं मिलता। रसवन्ती का शृङ्गार तो पर्वत के हृदय में बहती हुई उस स्निग्ध जलधारा के समान है, जो उसके उपलमय व्यक्तित्व और वातावरण को आर्द्र रख कर उसको सरस बनाए रखती है।

जिस प्रकार दिनकर की प्रारम्भकालीन कृतियों की समष्टि-चेतना कुरुक्षेत्र में आकर दर्शन, राजनीति और मनोविज्ञान से संपुष्ट होकर संतुलित और स्थिर हुई थी, उर्वशी में व्यक्त शृङ्गार-चेतना और नारी-भावना की विकास-प्रक्रिया मुझे करीब-करीब वैसी ही जान पड़ती है। दिनकर वर्तमान के कवि है। प्रेरणा उन्हें वर्तमान से मिलती है परन्तु इतिहास और परम्परा के मोह के कारण वह अतीत का अंचल छोड़ने में असमर्थ रहते हैं। मेरे विचार से तो कुरुक्षेत्र और उर्वशी एक ही प्रतिपाद्य के अलग-अलग ऐंगिल से लिए हुए दो चित्र हैं। दोनों ही चित्रों का आधारफलक सार्वभौम और विश्वजनीन है और दोनों ही की अभिव्यक्ति के माध्यम पौराणिक, ऐतिहासिक और भारतीय है; ठीक वैसे ही, जैसे, प्रेम और घृणा सार्वजनिक और सार्वभौम हैं परन्तु व्यक्ति

और परिवेश की भिन्नता से ही उनकी अभिव्यक्ति मे भिन्नता आ जाती है। काम के त्याग, ग्रहण अथवा संतुलन का प्रश्न शाश्वत है ; ठीक उसी अर्थ में जैसे युद्ध की समस्या मनुष्य की सनातन समस्या है। परन्तु उर्वशी की रचना आधुनिक जीवन में व्यापक रूप से छाई हुई काममूलक समस्याओं की प्रेरणा से ही हुई है, यह भी उतना ही सत्य है, जितना यह कि कुरुक्षेत्र की रचना द्वितीय महायुद्ध की प्रेरणा से हुई थी। कुरुक्षेत्र के विश्वजनीन आधारफलक पर लिए हुए चित्र में फोकस सामूहिक पक्ष पर था, उसमें प्रकाश और अन्धकार के अनेक उतार-चढ़ाव थे पर उर्वशी का यह चित्र तो उस छायाचित्र के समान है जिसके विशाल आधारफलक पर व्यक्ति की घनी और गहरी छाया का उभार प्रधान रहता है। पुरुरवा का द्वन्द्व उस युग के व्यक्ति का द्वन्द्व है जिसके मन में मर्यादा की रक्षा और प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति के प्रलोभन में सतत रूप से संघर्ष चलता रहता है। वर्तमान युग के व्यक्ति का यह अन्तर्द्वन्द्व उर्वशी में व्यक्त हुआ है। इस दृष्टि से उर्वशी को हिन्दी कविता का एक नया मोड़ माना जा सकता है।

द्विवेदी युग के बाद हिन्दी मुक्तक और गीत परम्परा मे अनेक उतार-चढ़ाव आए परन्तु प्रबन्ध-परम्परा प्रायः द्विवेदीयुगीन कलेवर में ही चलती रही। ऐसा कोई प्रबन्ध काव्य सामने नही आया जिसे साकेत, प्रियप्रवास अथवा कामायनी का विकास माना जा सके। दिनकर के 'रश्मिरथी' को भी इनका गौरवपूर्ण अवशेष ही कहा जा सकता है। प्रबन्ध क्षेत्र में पहला प्रयोग दिनकर ने कुरुक्षेत्र में किया जिसमें समस्या प्रधान थी, पुराण और पौराणिक पात्र निमित्त मात्र। उर्वशी में भी समस्या ही प्रधान है। कुरुक्षेत्र के षष्ठ सर्ग में कवि ने अतीत का पल्ला छोड़ कर वर्तमान की बात स्वयं कही थी। उर्वशी के तीसरे अंक में भी उर्वशी और पुरुरवा कथा के पात्र कम और दिनकर की विचारधारा के प्रतिनिधि और प्रतीक अधिक हो गये हैं। प्रबन्ध काव्य की मान्य गरिमा और भव्यता की रक्षा करते हुए प्रस्तुत समस्या का आख्यान और विश्लेषण करने के लिए पौराणिक आख्यान और पात्रों का माध्यम ही उचित था। उसके उपयुक्त वैचारिक गरिमा और भव्यता सुदूर अतीत की घटनाओं और पात्रों के माध्यम से अधिक उपयुक्तता से व्यक्त हो सकती है। नित्यप्रति सम्पर्क में आने वाले जाने-पहचाने व्यक्ति और जानी-मानी घटनाओं से अभीष्ट गरिमा की उपलब्धि नहीं की जा सकती। सामान्यतः शाश्वत और विशेषतः समसामयिक इस समस्या के प्रतिपादन के लिए उर्वशी और पुरुरवा का प्रतीक उचित ही बन पड़ा है।

उर्वशी में शृङ्गार के तीन विकास-सूत्र हैं। प्रथम उन्नयनित शृङ्गार, जिसके अन्तर्गत औशीनरी की वेदना, त्याग, गाम्भीर्य और दायित्व का भाव आता

है। द्वितीय, सामंजस्यपूर्ण गार्हस्थिक शृङ्गार जिसका प्रतिनिधित्व महर्षि च्यवन और सुकन्या द्वारा होता है। तीसरा, प्रवृत्तिमूलक भोग-प्रधान शृङ्गार जो उर्वशी और पुरुरवा के माध्यम से व्यंजित होता है। प्रथम दो सूत्रों तथा उनके भोक्ता पात्रों के द्वारा उन उदात्त आदर्शों की स्थापना होती है जो कवि को अपने भारतीय संस्कारों और परम्परा से मिले हैं और तीसरे तथा मुख्य सूत्र के पात्र मनुष्य के दर्द बेचैनी, वासना और उद्वेग का प्रतिनिधित्व करते हैं। शास्त्रीय मान्यताओं की कसौटी पर इसे दोष माना जा सकता है, परन्तु कवि द्वारा ज्ञापित उद्देश्य की दृष्टि से देखा जाय तो उर्वशी के तीसरे अंक की एक-एक पंक्ति सार्थक और सटीक जान पड़ती है।

उर्वशी के प्रकाशन के साथ दिनकर के कवि-व्यक्तित्व का तथाकथित अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण पक्ष भी उभर आया है। कुरुक्षेत्र ने उनको एक संवेदनशील प्रौढ़ चिन्तक के रूप में प्रतिष्ठित किया था, उसके बाद की रचनाओं में भी उनका कवि और विचारक ही प्रधान रहा; परन्तु उर्वशी का कवि विचारक होने के साथ-साथ समर्थ शिल्पी भी है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन के पहले दिनकर सब से अधिक कुरुक्षेत्र के कवि रूप में प्रतिष्ठित होते जहां उन्होंने राष्ट्रवाद की सीमा का अतिक्रमण कर विश्व की सार्वभौम पृष्ठभूमि में मानव जीवन की एक ज्वलित समस्या का व्यावहारिक और गम्भीर विश्लेषण प्रस्तुत किया था। छायावादी काव्य शैली की धूमिलता और अस्पष्टता की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप छायावाद-परवर्ती कवि अनुभूति की सच्चाई, भाषा की सजीवता और अभिव्यक्ति की प्रसन्नता का उद्देश्य लेकर चले थे। दिनकर का भी स्वप्न था कि वे पन्त के सपनों को मैथिलीशरण की सफाई से इस प्रकार लिख सकें कि न तो पन्त के सपने घायल हों और न मैथिलीशरण के मार्ग पर मिहिका छाने पाये। उर्वशी में उनका वह स्वप्न पूरा हो गया है जिसके शिल्प में द्विवेदीयुग से ग्रहण किये हुए दिनकर के भाषागत संस्कार इतिवृत्तात्मकता, विवरणात्मकता तथा गद्यात्मकता से मुक्त हो कर, और उन के छायावादी संस्कार अस्पष्टता और कुहासे से मुक्त हो कर प्रयुक्त हुए हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास में दिनकर का नाम क्रान्ति, युद्ध और प्रेम के कवि रूप में तो अमर रहेगा ही, उर्वशी का मणिकुट्टिम कला-वैभव उनके शिल्प-सामर्थ्य की कहानी भी कहता रहेगा।

परिशिष्ट

पिछले अध्यायों में दिनकर की मौलिक काव्य-चेतना और उसी से सम्बन्धित काव्य-शिल्प का निरूपण किया गया है, इसलिये, उनकी दो प्रमुख कृतियों को उसमें स्थान नहीं मिल सका है। वे कृतियां हैं 'धूप छांह' तथा 'सीपी और शंख'। इन दोनों ही कृतियों का महत्व उनमें संकलित भावानुवादों के कारण है। प्रथम कृति में सोलह कवितायें हैं जिनमें से छः मौलिक, दो अभिप्रेरित और शेष अनूदित है। 'धूप छांह' में किशोरों के लिए लिखी गई कविताओं का संकलन हुआ है। कवि के ही शब्दों में 'धूप छांह' में धूप कम और छाया अधिक है। 'दो बिघा जमीन' और 'पुरातन भृत्य' के मूल लेखक रवीन्द्रनाथ हैं। 'तन्तुवाय' और 'तीन दर्द' श्रीमती सरोजिनी नायडू की कविताओं के आधार पर लिखी गई हैं और 'नींद' कविता के मूल लेखक एक पाश्चात्य कवि गॉडफ्रे हैं। 'बच्चे का तकिया' और 'वर-भिक्षा' सत्येन्द्र नाथ दत्त की बंगला कविता से ली गई है। परन्तु उसके मूल रचयिता क्रमशः मार्सेलिन वालमोर और नगूची हैं। 'पानी की चाल' नामक रचना भी सर्वथा मौलिक नहीं कही जा सकती, क्योंकि वह राबर्ट सदी और अकबर इलाहाबादी के अनुकरण पर लिखी गई है। 'कवि का मित्र' कविता पर गॉडफ्रे सैक्से की कविता और स्वर्गीय पदमसिंह शर्मा के द्वारा अनूदित लेख 'मुझे मेरे मित्रों से बचाओ' का प्रभाव है। 'रोशन बे की बहादुरी' का प्लाट लांगफेलो की एक कविता से लिया गया है। मौलिक रचनाओं में शौर्य और देशभक्ति का भाव प्रधान है तथा सभी अनूदित रचनायें दिनकर की भाषा शैली में बंध कर मौलिक रचनाओं का सा आनन्द देती हैं। 'कवि का मित्र' कविता हास्य और व्यंग्य प्रधान है जो मन पर स्थायी प्रभाव छोड़ जाती है। दिनकर की वाग्विदग्धता इन पंक्तियों में देखी जा सकती है—

देता है उपदेश बहुत, देता है नूतन ज्ञान
मेरी गन्दी रहन-सहन पर भी देता है ध्यान।
सब कुछ देता, एक नहीं देता अपने से त्राण।

* * *

सब सिगरेट खतम कर कहता एक और दो यार,

बक्से खोल दराज खोलता, रह-रह विविध प्रकार।
एक नहीं खोलता कभी, बाहर जाने का द्वार।[1]

अभिप्रेत कविता के उदाहरण रूप में एक उद्धरण काफी होगा। अंग्रेजी कवि राबर्ट सदी की कविता (The Cataract of Lodore) के अनुकरण पर महाकवि अकबर ने 'रवानिये दरिया' लिखी, दिनकर ने उसी के अनुकरण पर 'पानी की चाल' कविता लिखी। एक ही प्रतिपाद्य विषय की अभिव्यक्ति में तीनों कवियों की शैलीगत विशेषताओं का पार्थक्य देखा जा सकता है। सदी की शब्द-योजना श्रावणिक और चाक्षुष चित्र प्रस्तुत करती है—

And shinning and turning
And rattling and battling
And shaking and quaking
And pouring and roaring
And quivering and shivering
And glittering and frittering
And hurrying and skurrying

अकबर की दृष्टि भी पानी की रफ्तार और आवाज पर ही केन्द्रित है—

उछलता हुआ औ उबलता हुआ, अकड़ता हुआ औ मचलता हुआ
रवानी में इक शोर करता हुआ, रुकावट में एक जोर करता हुआ
पहाड़ों-प-सर को पटकता हुआ चटानों प दामन झटकता हुआ
व पहलू-ए-साहिल दबाता हुआ, यह सब्जे प चादर बिछाता हुआ।

परन्तु दिनकर की दृष्टि केवल पानी की बाह्य गतिविधियों तक सीमित नहीं रही है अपनी मौलिक कविताओं की भांति यहां भी उन्होंने अपने शब्दों को चित्रभंगिमा देने तथा उनमें भाव भरने का प्रयास किया है। उनकी शब्द-योजना में शोर-गुल नहीं गाम्भीर्य, भावप्रवणता तथा चित्रमयता है—

उठता, गिरता, शोर मचाता पत्थर पर सिर धुनता
अपने ही गर्जन की चारों ओर प्रतिध्वनि सुनता
इस घाटी से अंग बचाता उस घाटी से सटता,
फटता यहां, वहां सकुचाता, डरता, सिकुड़ सिमटता।

कुछ सार्थक और मौलिक उपमानों के प्रयोग द्वारा कविता बिल्कुल ही मौलिक सी जान पड़ने लगी है—

---

१. धूप छांह, पृष्ठ २७

औढर दानी सा नालों का घर बिन मांगे भरता,
और लुटेरे सा किसान के हरे खजाने हरता।
टीलों पर चढ़ने को हठयोगी सा धुनी रमाता
और नीच सा खाई में गिर जाने को अकुलाता।

धूप छांह की अनूदित कविताओं में दिनकर ने पूर्ण स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दता बरती है। शब्दश: अनुवाद उनका ध्येय नही रहा है। मूल कविता के भाव-सौन्दर्य को कवि ने अपनी भाषा और शैली में व्यक्त किया है और यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वे मूल कविता के भावों को बड़ी स्वच्छता और स्पष्टता के साथ व्यंजित कर सके हैं। उनके मन में यह बात प्रधान रही है कि हिन्दी भाषा की विशेषताओं और प्रकृति की रक्षा करते हुए ही दूसरी भाषा से कविता का अनुवाद करना चाहिए। उदाहरण के लिए निम्नलिखित अनुवाद में यद्यपि वाक्य-विन्यास हिन्दी की प्रकृति के अनुसार परिवर्तित कर दिया गया है, मूल कविता के भाव की रक्षा पूर्ण रूप से हुई है—

मूल
More tl an maiden more than wife
More than gold and next to life
Roushan the Robber loved his horse.

अनु०
सब घोड़ों से अधिक दुलारा, डाकू की आंखों का तारा
रमणी, कनक, प्रिया से भी प्रिय, रोशन को प्राणों से प्यारा।

अंग्रेजी कविता में भारतीय स्पर्श देने और स्वाभाविकता की वृद्धि के उद्देश्य से भी कहीं-कही कवि ने परिवर्तन की स्वतन्त्रता ली है। तंतुवाय कविता के कुछ स्थलों को इसके प्रमाण रूप में लिया जा सकता है। तंतुवाय सरोजिनी नायडू की The Indian Weaver नामक कविता का अनुवाद है। उपर्युक्त कथन की पुष्टि में कुछ पंक्तियां उद्धृत की जा रही हैं—

मूल
Weavers weaving at fall of night
Why do you weave a garment so bright
Like the plumes of a peacock, purple and green,
We weave the marriage veils of a queen

अनु०
चांद गया चढ़ मध्य व्योम में निशा हुई गम्भीर;
तब भी किसके लिए रहे बुन तन्तुवाय यह चीर?
सतरंगा पट? या बुनते हो पांख मोर की प्यारी?
हम बुनते हैं नव विवाहिता के सुहाग की साड़ी।

यहां पर नव विवाहिता की सुहाग की साड़ी बुनने की कल्पना Veils of queens की अपेक्षा अधिक प्रभावव्यंजक और स्वाभाविक बन पड़ी है। इसी

प्रकार 'हम बुनते हैं कफन मनुष्यों का अन्तिम परिधान' We weave a dead man's funeral shroud की अपेक्षा अधिक भावव्यंजक और मार्मिक बन गया है। 'धूप छांह' में संकलित ये अनूदित कृतियां तो एक प्रयोग मात्र थीं, अल्प वयस्कों के स्तर की कविता लिखने का उद्देश्य सामने रख कर एक प्रौढ़ कवि की कल्पना और कला को अभिव्यक्ति मिलने का उसमें अधिक अवकाश नहीं था। इतर भाषा के काव्य के भाव को अपनी अभिव्यंजना में बांधने की कला का विकास तो सीपी और शंख की देश, विदेश की भाषाओं से अनूदित कविताओं में ही हुआ है। अनूदित होने पर भी ये कविताएं मौलिक जैसी लगती हैं। इनमें कुछ कविताएं अनूदित हैं तथा कुछ में मूल कविता का भाव केवल प्रेरित और बिम्बित हुआ है। चीनी कवियों, डी० एच० लारेन्स, गुमिलेव, रिल्के और पशेन की रचनाओं को सामने रख कर उनका अनुवाद किया गया है। यहां भी दिनकर ने शाब्दिक अनुवाद पर बल नहीं दिया है। मूल के प्रति कठोर सचाई का आग्रह उनकी इन रचनाओं में भी नहीं है। मूल से भाव तथा प्रेरणा लेकर वे उन्हें अपने बिम्बों और शैली में ढाल कर अपना बना लेते हैं, इतना अपना, कि, दूसरों के भाव होने पर भी उनमें अभिव्यंजना की मौलिकता के तत्वों का समावेश हो जाता है। सीपी और शंख की रचना में जिन कवियों के प्रति दिनकर ने ऋणज्ञापन किया है उनकी सूची इस प्रकार है—

१. पुर्तगाली भाषा के कवि अलबर्तो द लकर्दा।
२. स्पेनिश भाषा के कवि स्वर्गीय फेडेरिको गार्सिया लोर्का।
३. अंग्रेजी भाषा के कवि डी० एच० लारेन्स, वाल्टर सैवेज लेंडर, कैथलीन रैने, जोन वालर, एलिजवेथ जेनिग्स तथा ग्रेट ग्रीन।
४. जर्मन भाषा के दार्शनिक और कवि स्वर्गीय फ्रेडरिक विल्हेल्म नीत्से, स्वर्गीय आर० एम० रिल्के, स्वर्गीय जोहान क्रिश्चियन फ्रेडरिक होल्डरलीन, स्वर्गीय जूलियस रोडन बर्ग, हेनरिक हाइने।
५. अमेरिका के अंग्रेजी कवि केनेथ पेशेन, एजरा पाउण्ड।
६. फ्रेंच भाषा के कवि स्वर्गीय चार्ल्स क्रोज़।
७. रूसी भाषा के कवि नीकोलाइ गुमिलेव।
८. चीनी कवि चिह फाङ्, आइ चिङ्, फेंग चिह, सेंग को चिया तथा वेन-ई-तुओ।
९. पोलिश भाषा के कवि अदम मित्सकेविच।
१०. मलयालम भाषा के कवि श्री जी० सी० कुरुप।

अंग्रेजी के अतिरिक्त सभी अभारतीय भाषाओं का अनुवाद अंग्रेजी के

माध्यम से ही किया गया है। इन सभी कविताओं के अनुवाद में कवि ने पूर्ण स्वतन्त्रता लेकर अपने मनोनुकूल बिम्ब-योजनाओं और चित्र-विधानों का नियोजन किया है जिससे उनमें नई भंगिमा और नूतन विच्छित्ति उत्पन्न हो गई है।

'सीपी और शंख' की रचना के समय दिनकर के सामने एक साथ कई उद्देश्य थे। (१) इन कविताओं के बिम्बों को हिन्दी पाठक के समक्ष रखना, (२) आज के काव्य-विषयक रुचि-परिवर्तन के आन्दोलन में योग देना, (३) हिन्दी के पाठकों में अन्तर्राष्ट्रीय रुचि को प्रोत्साहन देना, (४) विदेशी भावों की शक्तियों को उभारना और उन्हें विकसित करना।

नई कविता की सम्भावनाओं के प्रति दिनकर की दृष्टि अन्य परम्परावादी आलोचकों और साहित्यकारों की अपेक्षा अधिक आशावादी और उदार है। उन्हें उन युवकों के प्रति काफी सहानुभूति है जो हिन्दी कविता के क्षेत्र में नए क्षितिज का निर्माण करना चाहते हैं और जो 'धरती के भीतर नई धरती और आकाश के भीतर नूतन आकाश की खोज में बड़ी ही निर्भीकता और बेचैनी से तरह-तरह के प्रयोग कर रहे हैं।' 'सीपी और शंख' उन्हें यह संवाद देता है कि नवीनता की एक भूमि इस दिशा में भी पड़ती है। 'विदेशी कविताओं' के भावानुवादों के इस संग्रह में पश्चिम के अनेक देशों की अर्वाचीन कविताएं संकलित हैं। इनमें से 'कुछ तो इतनी सूक्ष्म और पारदर्शी हैं कि उन्हें कविता का एसेंस या डिस्टिल्ड सार कहा जा सकता है।'

कविता में अन्तर्राष्ट्रीय रुचि को प्रोत्साहन देने के लिए यह आवश्यक है कि हर देश की मुख्य भाषा में देश-विदेश की कविताओं का अनुवाद किया जाय। ऐसे अनुवादों को परिपार्श्व में रख कर 'काव्य का अध्ययन करने से एक ओर पाठकों की रुचि परिमार्जित होती है, वे नई रुचियों के विकास में समर्थ होते हैं तथा इस प्रकार के अनुवाद पर श्रम करने वाले कवियों को अपनी भाषा की अभिव्यक्ति-क्षमता तथा उसकी शक्ति और सम्भावनाओं के मूल्यांकन का अवसर मिलता है। जब भाषा के सामने यह प्रसंग आता है कि वह किसी अन्य भाषा के कवि अथवा चिन्तक की मनोदशा, चिंतन की भंगिमा अथवा कल्पना की विच्छित्ति को आत्मसात् करे, तब उसे इस नई अभिव्यक्ति के लिए संघर्ष करना पड़ता है और इस संघर्ष के क्रम में भाषा के भीतर छिपी शक्तियां धीरे-धीरे ऊपर आने लगती हैं।'

भाषा की यह साधना भी 'सीपी और शंख' के कवि का उद्देश्य रहा है। उनकी भाषा अन्य भाषाओं के चिन्तकों के ऊचे से ऊंचे विचारों तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों को सहजता और स्पष्टता से व्यक्त करने में सक्षम रही है। आगामी

दिनकर ने उसी कविता को इस रूप में प्रस्तुत किया है—

लड़की

हाथों में द्रुम समा गया है
चढ़ते चढ़ते बाहों भर गया
अंकुरित पौधे का जीवन-रस, जाने, किस प्रकार।
और अब तो वृक्ष ही लहरा रहा है वक्ष में उलटा ;
उमड़ती, फूटती हैं डालियां मुझसे
कि जैसे वृक्ष में होऊं
और मेरी बांह ये सब डालियां हों
तुम वृक्ष हो
शैवाल हो।
तुम कमल हो वायु जिस पर संचरण करती
तुम बहुत ही प्रांशु हो।
कितना कहूं ? तुम पुष्प हो, शिशु हो।
और ये बातें जगत की दृष्टि में कुछ भी नहीं हैं।

निश्चय ही, दोनों अनुवादों की अलग-अलग सिद्धियां और दुर्बलतायें हैं, परन्तु यहां केवल अनुवाद के दृष्टि वैभिन्न्य की ओर इंगित करना ही अभीष्ट है। दिनकर की रचना में, हरी काई के स्थान पर शैवाल और वायलेट के स्थान पर कमल के प्रयोग से विदेशीपन मिट गया है परन्तु अन्तिम पंक्ति का भाव-संवेदन भारती का अधिक प्रभावोत्पादक है। दिनकर के 'तुम वृक्ष हो' की अपेक्षा भारती का "वृक्ष वह तुम हो" संवेदन का प्रवहरण अधिक स्पष्टता से करता है।

डी० एच० लारेन्स की "सेकेण्ड विजिट टू हेलेन" का अनुवाद "कांगड़ी" तो बिल्कुल ही दिनकर की अपनी बन गई है। शृङ्गारक अनुभावों के उबलते हुए उष्ण उपमानों के संयोजन और उनकी चिर परिचित प्रसन्न गम्भीर शब्दावली के प्रयोग में विदेशीपन का कहीं आभास भी नहीं मिलता। उस प्रकार के अनुवादों में केवल मूल कविता के केन्द्रित भाव को लेकर उस पर कवि ने अपनी अभिव्यंजना का ताना-बाना बुना है।

जर्मन भाषा के कवि रिल्के दिनकर के अत्यन्त प्रिय कवि हैं। उनके भाव-गाम्भीर्य और उदात्त विचारों से प्रभावित होकर ही उन्होंने कहा है कि वे अपने को सिद्ध कवि तब मानेंगे जब रिल्के के भाव को तुलसी की भाषा में लिख सकेंगे जिस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कठिन साधना की आवश्यकता है। तुलसी

की भाषा में रिल्के के भावों की अभिव्यक्ति की साधना चाहे जब पूरी हो, दिनकर की वर्तमान भाषा शैली में ही उनकी दार्शनिक विषय-वस्तु और रहस्यानुभूतियों की अभिव्यक्ति इस स्पष्टता और सहजता के साथ हुई है कि उनकी अभिव्यंजना शैली में आवेष्ठित रिल्के के विचार उनके अपने से जान पड़ते हैं और उनमें मौलिकता का सा आनन्द मिलता है। 'देशान्तर' में भारती जी ने भी रिल्के की कुछ कविताओं का बड़ा समर्थ अनुवाद किया है। आलोच्य कवि की शैली और दृष्टिकोण को समझने के उद्देश्य से दोनों ही अनुवादो का एक-एक उदाहरण देना अनुचित न होगा—

दिनकर कृत भावानुवाद

क्या करोगे देव ! जिस दिन मैं मरूंगा
क्या करोगे जब कलश यह टूट जायेगा ?
क्या करोगे जब तुम्हारा पेय मैं
निःस्वाद हूंगा, सूख जाऊंगा ?

× × ×

मैं तुम्हारा आवरण हूं,
तुम मुझे ही ओढ़ कर सब कार्य करते हो।
तो कहीं मैं खो गया यदि
अर्थ क्या सारा तुम्हारा शेष रहता है ?
मैं नहीं, तो तुम न क्या गृहहीन होगे ?
मैं नहीं तो कौन स्वागत के लिये बैठा रहेगा ?
मैं तुम्हारी पादुका हूं ;
मैं अगर खोया तुम्हारी पादुका खो जायेगी।
पादुका की टोह में दोनों चरण वे श्रान्त भटकेंगे,
मगर तब कौन उन दोनों पदों से लिपट जायेगा ?

* *

मैं परिच्छद त्रस्त यह हो जायगा।
और करुणामय तुम्हारी दृष्टि
जो अभी मेरे कपोलों पर विरम विश्राम करती है,
क्या नहीं बेचैन होगी, क्लेश पायेगी
तल्प जब मेरे कपोलों का नहीं होगा ?
मैं चकित हूं हर घड़ी यह सोच कर
क्या करोगे देव ! जिस दिन मैं मरूंगा

धर्मवीर भारती कृत अनुवाद

जब मेरा अस्तित्व न रहेगा, प्रभु, तब तुम क्या करोगे ?
जब मैं—तुम्हारा जलपात्र, टूट कर बिखर जाऊंगा ?
जब मैं तुम्हारी मदिरा सूख जाऊंगा या स्वाद हीन हो जाऊंगा ?

* * *

मैं तुम्हारा वेश हूं, तुम्हारी वृत्ति हूं
मुझे खोकर तुम अपना अर्थ खो बैठोगे ?
मेरे बिना तुम गृह हीन निर्वासित होगे, स्वागत-विहीन
मैं तुम्हारी पादुका हूं, मेरे बिना तुम्हारे
चरणों में छाले पड़ जायेंगे, वे भटकेंगे लहू लुहान !

* * *

तुम्हारा शानदार लबादा गिर जायगा
तुम्हारी कृपा दृष्टि जो कभी मेरे कपोलों की
नर्म शय्या पर विश्राम करती थी
निराश होकर वह सुख खोजेगी
जो मैं उसे देता था—
दूर की चट्टानों की ठण्डी गोद में
सूर्यास्त के रंगों में घुलने का सुख—
प्रभु, प्रभु मुझे आशंका होती है
मेरे बिना तुम क्या करोगे ?

'सीपी और शंख' के बाद भी दिनकर विदेशी साहित्य का अध्ययन करते रहे हैं और समय-समय पर अपनी रुचि की कविताओं का अनुवाद भी करते रहे हैं। डी० एच० लारेन्स की कविताओं के अनुवादों का एक संग्रह 'आत्मा की आँख' नाम से प्रकाशित होने वाला है। 'परशुराम की प्रतीक्षा' के बाद नई और पुरानी शैली की अनेक मौलिक कविताओं की रचना भी उन्होंने की है जो 'कोयला और कवित्व' नामक संग्रह में प्रकाशित होने जा रही हैं। दिनकर का साहित्यकार अब भी पूर्ण सजग और सक्रिय है।

● ● ●